डॉ. कर्णसिंह

भाषा विज्ञान

Comparative Philolo... and
History of Li...

साहित्य भण्डार, मेरठ

809

25

भाषाविज्ञान

[Comparative Philology & History of Linguistics]

लेखक

डॉ० कर्णसिंह

एम. ए., (संस्कृत, हिन्दी) पी-एच. डी.

संस्कृत-विभाग

मेरठ कालिज, मेरठ

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध किये गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित

साहित्य भण्डार

सुभाष बाज़ार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक:
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार
सुभाष बाजार, मेरठ
दूरभाष : ७७६५४ ।

प्रथम संस्करण : १९७५
द्वितीय संस्करण : १९७६
पुनः मुद्रित
तृतीय संस्करण : १९७८
चतुर्थ संस्करण : १९८०

सरकार द्वारा निर्धारित
मूल्य : बारह रुपये तीस पैसे [१२.३०]

मुद्रक :
सर्वोदय प्रेस; मेरठ
दूरभाष : ७४३५२ ।

★ समर्पण ★

'भाषाविज्ञान' जिन्हें प्रिय है;
अपने
उन्हीं पाठकों
को
सादर समर्पित।

—कर्णसिंह

कतिपय सम्मतियाँ

१. "भाषाविज्ञान" नितान्त रोचक है।"

— डॉ० रामजी उपाध्याय

सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)

२. "भाषाविज्ञान" पुस्तक यत्र-तत्र देखी। पुस्तक अच्छी लगी। अनेक शुष्क विषयों को रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट करने का श्लाध्य प्रयत्न इसमें किया गया है, एतदर्थ लेखक बधाई के पात्र हैं। भाषाविज्ञान के अध्येताओं एवं अध्यापकों के लिए इस ग्रन्थ की उपादेयता सुस्पष्ट है।"

—डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—२

३. "भाषाविज्ञान" पुस्तक एक बार देख गया हूँ। बहुत पसन्द आई। पुस्तक-लेखन में घोर परिश्रम किया गया है। विषयों को समन्वित रूप से प्रस्तुत करने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। आशा है पुस्तक छात्रों में विशेष लोकप्रिय होगी।"

—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी,

ज्ञानपुर (वाराणसी)

४. "मैंने 'भाषाविज्ञान' ग्रन्थ पूरी तरह पढ़ा। अनेक दृष्टियों से यह मुझे अतीव उपयोगी लगा। विषय का प्रतिपादन इसमें बहुत विशद है, भाषा सरल एवं सरस है, अथ च कथ्यवस्तु को इसमें सप्रमाण उपस्थित किया गया है।

परन्तु, इन सबसे भी बढ़कर इस ग्रन्थ की जिस विशेषता ने मुझे आकृष्ट किया, वह है पाश्चात्य चिन्तन के साथ भारतीय चिन्तन का भी इसमें सम्यक् प्रतिनिधित्व। स्थान-स्थान पर 'अष्टाध्यायी', 'महाभाष्य' एवं 'वाक्यपदीय' से इसमें उद्धरण दिये गये हैं। इस ग्रन्थ को पढ़ने पर विद्यार्थी को यह स्पष्ट हो जायगा कि भाषाविषयक चिन्तन केवल पश्चिम में ही नहीं हुआ, भारत में भी इस पर बहुत चिन्तन हुआ है। इस अंश में लेखक का प्रयास सर्वथा मौलिक है और अतएव सुतराम् अभिनन्दनीय है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ का विद्यार्थियों और विद्वानों—दोनों की ओर से समुचित समादर होगा और आगामी वर्षों में लेखक की सशक्त लेखनी इसी प्रकार अनेक उपयोगी ग्रन्थों से सरस्वती के भण्डार को समृद्ध कर सकेगी।"

—डॉ० सत्यव्रत शास्त्री

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

५. "भाषाविज्ञान पुस्तक के कई स्थल मैंने पढ़े हैं, बहुत अच्छे लगे। लेखक का प्रयत्न सराहनीय एवं बधाई के योग्य है।"

—डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री,
डी० ए० वी० कालिज, देहरादून (गढ़वाल विश्वविद्यालय)।

६. "भाषाविज्ञानमालम्ब्य प्रणीतग्रन्थसञ्चये।
ग्रन्थोऽयं तावकश्श्रीमन्ननर्घः प्रतिभाति मे ॥१॥
भाषाविज्ञानपाथोधौ निमज्जच्छात्रमण्डलम्।
अयं ग्रन्थमहापोतस्तारयिष्यत्यसंशयम् ॥२॥
भाषान्तरेषु लिखितानि विविधान् प्रशस्तान्।
ग्रन्थान् विलोड्य रचितस्तत्साररूपः ॥३॥
ग्रन्थो निजोत्तमगुणैः समलङ्कृतोऽसौ।
नूनं दधाति पदमुन्नतमात्मवर्गे ॥४॥
सरसया सरलत्वजुषा गिरा,
मधुरया वलिता ललिता कृतिः।
भणितिवित्सु सदैव तनोत्वसौ,
तव विदग्ध ! सुधाधवलं यशः ॥५॥

—डॉ० श्रीकान्त पाण्डेय,
दिगम्बर जैन कालिज, बड़ौत (मेरठ विश्वविद्यालय)।

७. "लेखक ने 'भाषाविज्ञान' जैसे क्लिष्ट विषय को विद्यार्थियों के लिए सुगम बना दिया है। छोटी-सी पुस्तक में लेखक ने बहुत सामग्री संजोयी है। जिन विषयों पर स्वतन्त्र पुस्तकें पढ़नी पड़ती थीं, उन सब विषयों को लेखक ने एक स्थान पर देकर पाठकों का बड़ा उपकार किया है।

आज तक उपलब्ध 'भाषाविज्ञान' की पुस्तकों में से कुछ केवल संस्कृत भाषा को दृष्टि में रखकर लिखी गयी थीं और कुछ केवल हिन्दी भाषा को। यह पुस्तक दोनों प्रकार के पाठकों के लिये समान रूप से उपयोगी है। 'भाषाविज्ञान का इतिहास' नामक अध्याय अत्यन्त उपयोगी है।"

—डॉ० ब्रजबिहारी चौबे,
विश्वेश्वरानन्द संस्थान, पञ्जाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर (पञ्जाब)।

८. "मुझे यह पुस्तक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में, हिन्दी में उपलब्ध पुस्तकों में सर्वोत्तम प्रतीत हुई है। लेखक ने संस्कृत में प्राप्त भाषा-वैज्ञानिक सामग्री का कुशलता और सूझ-बूझ के साथ, यथास्थान उपयोग करके जहाँ एक ओर आधुनिक भाषा-विज्ञान को सुदृढ़ पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है, वहाँ दूसरी ओर यान्त्रिक, अमरीकी भाषाविज्ञान के सम्मोहन में फँसे स्वदेशी भाषा-वैज्ञानिकों को आत्म-बोध की ओर प्रेरित करके एक पवित्र सारस्वत एवं सांस्कृतिक कर्तव्य का निर्वाह किया है।

पुस्तक में विषय के प्रतिपादन की शैली तर्कसम्मत और भाषा स्वच्छ है। ऐसे महत्कार्य के लिए लेखक, निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।"

—डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)।

९. "पुस्तक में लेखक का अध्यापन-अनुभव साकार हो उठा है। ऐसी सरस एवं सरल शैली में लिखि गयी 'भाषाविज्ञान' की पुस्तकें कम ही मिलती हैं।"

—डॉ० दर्शनसिंह,

गवर्नमेण्ट कालिज, होशियारपुर (पंजाब)।

१०. "भाषाविज्ञान" में सभी अपेक्षित विषयों पर प्रकाश डाला गया है। सामग्री के संकलन में लेखक ने सतर्कता बरती है और उसके उपस्थापन में कुशलता का परिचय दिया है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हुए भारतीय चिन्तन एवं पाश्चात्य अध्ययन के समावेश से विवेच्य विषय में स्पष्टता आ गयी है। सरल भाषा लिखित और पुष्ट प्रमाणों से युक्त यह पुस्तक भाषा-विज्ञान के छात्रों के लिए तो विशेष उपयोगी है ही, सामान्य अध्येता भी इससे लाभान्वित होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

—डॉ० सीताराम झा 'श्याम'

स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार)।

११. "पुस्तक सरल भाषा में लिखी गयी है, जिसके कारण 'भाषाविज्ञान' जैसा क्लिष्ट विषय भी निरन्तर सुलझता गया है।"

—डॉ० (श्रीमती) सरोजिनी कुलश्रेष्ठ,

प्रधानाचार्या, किशोरी रमण गर्ल्स कालिज, मथुरा (उ० प्र०)।

१२. "भाषाविज्ञान" ग्रन्थ स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए नितान्त उपयोगी है। मुझे पूर्ण आशा है कि इस ग्रन्थ का विद्यार्थियों एवं अध्यापकों द्वारा समुचित समादर होगा।"

—श्री राजदेव मिश्र

का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद (उ० प्र०)।

—:—

प्राक्कथन

अध्ययन-अध्यापन-काल में आड़े आने वाली कठिनाइयों को गाँठ में बाँधकर वहुत दिन तक संजोये रक्खा है, वर्षों तक उन गाँठों को भिन्न-भिन्न प्रकार से खोलने का प्रयास किया है, गाँठे खुल-खुलकर पुनः गुलझठ वन जाती थीं और समयाभाव के कारण वहुत समय तक उलझी ही पड़ी रहती थीं। इस प्रकार कई वर्षों से मेरे अन्दर का अध्यापक एक वेचैनी-भरी घुटन का अनुभव कर रहा था। प्रस्तुत रचना, 'भाषाविज्ञान' मेरी उस घुटन का परिणाम है।

प्रस्तुत कृति में सरल भाषा और सीधी शैली में भाषाविज्ञान-विषय को स्पष्ट करने का, मैंने यथाशक्ति प्रयास किया है। कम पृष्ठों में विषय का संतुलित ज्ञान कराने के लिए, विषय का वार-वार चिन्तन किया गया है। यद्यपि पुस्तक भाषा-विज्ञान के सभी पाठकों के लिए लिखी गयी है तथापि एक अध्यापक के लिए अपने छात्रों की समस्याओं से उदासीन रहना न तो उचित ही है और न ही सम्भव है। इस रूप में प्रस्तुत पुस्तक को यदि मैं 'कक्षा से बाहर का अध्यापन-कार्य' कहूँ, तो अनुचित न होगा। आशा है, आज की अव्यवस्थित परिस्थितियों में कक्षा से बाहर रहने वाले भी, भाषाविज्ञान के पाठक इससे लाभान्वित हो सकेंगे और इस प्रकार मेरा अध्यापकत्व भी कुछ अधिक सफल होगा।

मौलिकता का प्रश्न ?

इस पुस्तक में मेरा कुछ नहीं है; जो कुछ भी इसमें है, वह सव इस विषय पर कठिन परिश्रम करने वाले, अपने अग्रजों से ही मैंने लिया है। उन सवका मैं चिरऋणी हूँ तथा नतमस्तक होकर उनका आभार स्वीकार करता हूँ।

'प्रस्तुत 'भाषाविज्ञान' में १४ अध्यायों तथा २ परिशिष्टों में विषय को प्रस्तुत किया गया है। अध्यायों का विभाजन इस दृष्टि से किया गया है कि प्रत्येक अध्याय के शीर्षक से भाषाविज्ञान-विषय की एक प्रमुख समस्या पर पाठकों का ध्यान केन्द्रित किया जा सके। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में उन समस्याओं की ओर भी, प्रायः, संकेत कर दिया गया है, जो उस प्रमुख समस्या का अंग वन रही होती हैं तथा जिन्हें ध्यान में रखने पर विषय को छोटे-छोटे विभागों में बाँटकर समझना सरल हो जाता है।

भाषाविज्ञान के भारतीय पाठकों को ध्यान में रखते हुए 'भारोपीय परिवार', 'आर्यशाखा' तथा उसमें भी 'भारतीय आर्यभाषा के विकास' को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। यह प्रयास किया गया है कि पाठक सहज ही यह जान सकें कि उनकी अपनी भाषा का, विश्व की अन्य भाषाओं में क्या स्थान है, तथा प्रारम्भ से आज तक उस भाषा का विकास किस रूप में हुआ है ? आर्यभाषा के विकास को स्पष्ट करने के

लिए एक मौलिक चित्र [दे० पृष्ठ ४६] का भी सहारा लिया गया है। इसी प्रकार आर्यभाषाओं—भारत-ईरानी तथा भारतीय आर्यभाषाओं-वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश यथा आधुनिक भाषाओं का परिचय इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उनके व्यक्तिगत परिचय के साथ ही उनका तुलनात्मक ज्ञान भी पाठकों को हो सके। इस विषय पर पर्याप्त सामग्री देते हुए भी यह ध्यान रक्खा गया है कि पाठक उलझन में न पड़ें तथा व्यर्थ ही समय तथा साधनों का दुरुपयोग न हो।

ध्वनि-नियमों के अन्तर्गत ग्रिम-नियम को समझाने के लिए परम्परागत रेखा-चित्र में कुछ परिवर्तन किया गया है। यदि पाठकों को इससे कुछ सुविधा हुई तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा तथा अपने पर भरोसा कर सकूँगा अन्यथा इसे उत्साहातिरेक में की गयी अनधिकार चेष्टा घोषित करके पाठकगण मुझे क्षमा करें, उनकी बड़ी कृपा होगी।

इसके अतिरिक्त भी, कहीं-कहीं विषय को नये ढंग से प्रस्तुत करके लेखक बनने के तुच्छ लोभ का संवरण मैं नहीं कर पाया हूँ, इसे भी मेरा व्यक्तिगत दुर्गुण मानकर सुधी पाठक इधर ध्यान न दें।

संक्षेप में, यदि इस प्रयास से भाषाविज्ञान के पाठकों को कुछ भी सहायता मिली और इस विषय में उनकी रुचि जगाने में यह पुस्तक कुछ भी सफल हुई, तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक मानूँगा।

प्रेरकों, सहायकों तथा सहयोगियों के प्रति

मौलिकता के प्रश्न का समाधान करते हुए मैं यह स्वीकार कर चुका हूँ कि इस पुस्तक में मेरा कुछ भी नहीं है, तथापि एक बार पुनः मैं उन सभी लेखकों तथा गुरुओं के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी कृतियों से या विचारों से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुझे प्रेरणा तथा सहायता प्राप्त हुई है। उल्लिखित लेखकों तथा कृतियों के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक नाम हो सकते हैं, जिनका संकेत मैं न कर पाया हूँ या कुछ भ्रमपूर्ण रूप में कर पाया हूँ, या नामों में कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों, उन सभी से मैं क्षमायाचना करता हूँ।

भाषाविज्ञान में मेरी सहज रुचि को बढ़ाने में मेरे आदरणीय गुरु, मेरठ कालिज, संस्कृत विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री का विशेष योगदान है। शिष्यभाव से मैं उनके प्रति नतमस्तक हूँ।

मेरठ कालिज, मेरठ के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष एवं रीडर श्रीयुत डॉ० निरूपण विद्यालंकार ने मुझे इस विषय पर लिखने के लिए प्रत्यक्ष रूप से बहुत ही प्रेरित किया है तथा सहायता दी है, जिसके लिए मैं उनका बहुत ही आभारी हूँ। आशा है, मुझे उनकी इसी प्रकार की प्रेरणा तथा सहयोग सदैव मिलता रहेगा। मेरठ कालिज के ही, हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल एवं वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ० विष्णुशरण 'इन्दु' भी इस विषय में मुझे प्रेरित करते रहे हैं, अतः उनका भी मैं आभारी हूँ। मेरठ कालिज, हिन्दी विभाग के ही डॉ० रामेश्वरदयालु से

मैं इस विषय पर विचारविमर्श करता रहा हूँ, अतः उनके प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ। इसी प्रकार 'मेरठ कालिज' के पुस्तकालय के अध्यक्ष, श्री लक्ष्मणदत्त ने इस कार्य में मुझे अपना पूर्ण सहयोग दिया है, अतः मैं उनका भी धन्यवाद करता हूँ।

इस कार्य में शक्ति एवं स्फूर्ति की एकमात्र संवाहिका अपनी सहधर्मिणी श्रीमती कृष्णा, एम० ए० (मनोविज्ञान, हिन्दी) को मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ, जिन्होंने इस आर्थिक संकट के युग में भी, मुझे राशन की लम्बी-लम्बी पंक्तियों से पृथक् रखकर, इस कार्य को पूर्ण करने के लिए सतत प्रेरित किया है। इतना ही नहीं, भाषाविज्ञान में आने वाली मनोविज्ञान की गुत्थियों को भी उन्होंने मेरे लिए सुलझाया है। इसके साथ ही नन्हें आत्मज 'रूप' तथा आत्मजा 'छवि' ने भी पुस्तक पूरी होने के सम्बन्ध में बार-बार प्रश्न करके इसे पूरा करने को मुझे विवश किया है; मैं उन्हें शुभाशीर्वाद देता हूँ।

यह कार्य कभी पूरा नहीं हो पाता, यदि 'साहित्य-भण्डार' के अध्यक्ष श्री रतिराम शास्त्री एवं उनके सुपुत्र श्री सतीशचन्द्र कौशिक इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न ले लेते। मैं स्वयं अपनी ओर से तथा अपने पाठकों की ओर से उन्हें धन्यवाद देता हूँ तथा सहयोग का आश्वासन भी। पुस्तक का मुद्रण 'सर्वोदय प्रेस' मेरठ में श्री राजकिशोर शर्मा, एम० ए० की देखरेख में हुआ है। उनके सहयोग तथा सुन्दर मुद्रण के लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूँ।

चन्द्रिका —कर्णसिंह

शिवाजी मार्ग, मेरठ (उ० प्र०)

द्वितीय संस्करण

इतने कम समय में द्वितीय संस्करण का यह सुअवसर प्रदान करने वाले 'भाषाविज्ञान' के पारखी पाठकों एवं सुविज्ञ, शुभाशंसी विद्वानों के लिए प्रस्तुत संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण, लेखक का केवल विनम्रतापूर्ण कृतज्ञताज्ञापन ही है।

—कर्णसिंह

तृतीय संस्करण : आभार-स्वीकरण

इतनी अल्पावधि में ही इस ग्रन्थ ने अनेक विश्वविद्यालयों के संस्कृत-हिन्दी एम० ए० के पाठ्यक्रमों में संस्तुत होकर एक ओर जहाँ अपनी लोकप्रियता का परिचय दिया है, वहीं दूसरी ओर लेखक को अपने पाठकों एवं सहयोगियों के प्रति आभारप्रदर्शन के अवसर से भी लाभान्वित किया है। —कर्णसिंह

विषय-क्रम

अध्याय ८

[अध्याय १]

विषय-प्रवेश

१. नामकरण
२. सामान्य परिचय
३. भाषा-विज्ञान : कला है या विज्ञान
४. भाषा-विज्ञान के अध्ययन के प्रकार
५. भाषा-विज्ञान की परिभाषा
६. भाषा-विज्ञान का क्षेत्र
७. भाषा-विज्ञान के अंग
८. भाषा-विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता या प्रयोजन
९. भाषा-विज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

[अध्याय १]

विषय-प्रवेश

(१) **नामकरण**—आधुनिक युग में, अध्ययन के विषयों में भाषा-विज्ञान को बहुत ही महत्त्व दिया जाता है। अपने अद्यतन रूप में, भाषा-विज्ञान यूरोपीय मस्तिष्क की देन कहा जाता है, तथापि हमारे देश, भारत में भी इसके अध्ययन की परम्परा अतिप्राचीनकाल से उपलब्ध होती है। वैदिक काल से ही भाषा का अध्ययन हमारे यहाँ होता रहा है। 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग, 'प्रातिशाख्य' ग्रन्थ, 'निरुक्त', 'महाभाष्य' एवं 'वाक्यपदीय' के अतिरिक्त भारतीय दर्शन-ग्रन्थों तथा साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भाषा-विचार-विषयक सामग्री पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

यूरोप में, आधुनिक भाषा-विज्ञान का श्रीगणेश सन् १७८६ ई० में 'सर विलियम जोन्स' (Sir William Jones) द्वारा किया गया माना जाता है। उन्होंने ही संस्कृत भाषा के अध्ययन के प्रसंग में सर्वप्रथम संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की अत्यधिक समानता तथा उनके मूल के रूप में एक ही भाषा की सम्भावना को व्यक्त किया था। इस प्रकार यूरोप में आधुनिक भाषा-विज्ञान का सर्वप्रथम विचार भी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में प्रयुक्त आर्यभाषा संस्कृत की ही देन है।

यूरोप में, भाषा-विज्ञान के प्रारम्भ अथवा सन् १७८६ ई० से लेकर आज तक भाषा-विज्ञान का नामकरण विभिन्न रूपों में किया जाता रहा है। वहाँ सर्वप्रथम इसे फिलॉलॉजी (Philology) नाम से अभिहित किया गया। १८ वीं शताब्दी में यही नाम प्रचलित रहा, किन्तु १९ वीं शताब्दी में इस अध्ययन में तुलनात्मक अध्ययन पर अधिक ध्यान केन्द्रित हो जाने के कारण विशेषण के रूप में 'Comparative' शब्द प्रयोग करते हुए, इसे "Comparative Philology" नाम दिया गया। उन दिनों भाषा-व्याकरण तथा भाषाविज्ञान को प्रायः एक ही समझा जाता था, अतः इसे "तुलनात्मक व्याकरण" (Comparative Grammar) भी कहा गया है। फ्रांस में इसको लैंगिस्तीक् (Linguistique) नाम दिया गया और वहाँ भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य अधिक होने के कारण, उन दिनों सम्पूर्ण यूरोप में "Linguistique" अथवा "Linguistics" नाम ही प्रचलित रहा। इसी भाँति "Science of Language" तथा "Glottology" (Science of Tongue) नाम भी प्रकाश में आये, किन्तु कुछ काल पश्चात् ही प्रचलन से उठ गये। आज मात्र "लिंग्विस्टिक्स्" (Linguistics) अथवा "फिलॉलॉजी" (Philology) ये दो नाम ही भाषा-विज्ञान के लिये यूरोप में प्रयुक्त होते हैं।

भारत में भी, उपर्युक्त यूरोपीय नामों अथवा उनके अनूदित नामों के अतिरिक्त, हिन्दी में "भाषा-तत्त्व", 'भाषा-शास्त्र', 'भाषा-विचार', 'भाषालोचन' तथा 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' आदि नामों का व्यवहार इस शास्त्र के लिए किया जाता

रहा है; किन्तु आजकल हिन्दी में सर्वप्रचलित नाम "भाषा-विज्ञान" ही है। वस्तुतः; "भाषा-विज्ञान" नाम से इस विषय का प्राचीन और नवीन, दोनों ही प्रकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अतः, यही नाम सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

२. सामान्य परिचय

जैसा कि "भाषा-विज्ञान" नाम से ही प्रकट होता है, यह शास्त्र **भाषा का विज्ञान** है। 'भाषायाः विज्ञानम्, भाषाविज्ञानम्', अर्थात् भाषा का विज्ञान। इस प्रकार 'भाषा-विज्ञान' एक समासयुक्त पद है। अन्य अनेक शास्त्रों की संज्ञाओं की भाँति ही 'भाषा-विज्ञान' भी एक अन्वर्थ संज्ञा है। 'भाषा' और 'विज्ञान', इन दो शब्दों से बना यह नाम इस शास्त्र की आत्मा एवं स्वरूप का पूर्णतया परिचय करा देने में समर्थ है। अतः, सर्वप्रथम, इन्हीं दो शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या यहाँ अपेक्षित है।

'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाष्' धातु, जिसका अर्थ व्यक्त वाक् (व्यक्तायां वाचि) है, से निष्पन्न है तथा 'विज्ञान' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय लगाने पर बनता है। सामान्यरूप से 'भाषा' का अर्थ है 'बोलचाल की भाषा या बोली' और 'विज्ञान' का अर्थ है विशेष 'ज्ञान', किन्तु यहाँ इन दोनों ही शब्दों पर कुछ अधिक प्रकाश डालना आवश्यक है।

भाषा—भाषा मानव की प्रगति में विशेष रूप से सहायक रही है। हमारे पूर्वपुरुषों के सारे अनुभव हमें भाषा के माध्यम से ही प्राप्त हुए हैं। हमारे सभी शास्त्र और उनसे होने वाला सम्पूर्ण लाभ, भाषा का ही परिणाम है। महाकवि 'दण्डी' के शब्दों में—

> 'इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।।' काव्यादर्श १/४

अर्थात् यह सम्पूर्ण भुवन अन्धकारपूर्ण हो जाता, यदि संसार में शब्द-स्वरूप ज्योति (भाषा) का प्रकाश न होता। स्पष्टतः ही, यह बात मानव-भाषा के विषय में ही कही गयी है, क्योंकि सामान्य रूप से तो पशु-पक्षियों की भी अपनी भाषा होती है, जिसमें वे अपने सुख-दुःख को प्रकट करते हैं, किन्तु उसके माध्यम से उन्होंने कोई प्रगति नहीं की है। पशु-पक्षियों की इस बोली को 'अव्यक्त वाक्' कहा गया है, तथा भाषाविज्ञान की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं है। अव्यक्त वाक्' में शब्द और अर्थ दोनों ही अस्पष्ट बने रहते हैं। इसके विपरीत मनुष्यों की भाषा 'व्यक्त वाक्' कही गई है। क्यों ? यहाँ शब्द और उसमें प्रयुक्त वर्ण स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं, और वे सार्थक होते हैं। इसी के साथ, यह भी समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्य भी जब कभी अपने विचारों को अंग-भंगिमा (gesture) और मुख-विकृति (grimaces) के द्वारा प्रकट करता है, तो सामान्यरूप से यह भाषा होते हुए भी 'व्यक्त-वाक्' नहीं है। महाभाष्यकार के अनुसार 'व्यक्त' का अभिप्राय भाषा के वर्णात्मक होने से ही है'—(महाभाष्य, १-३-४८)। यह ठीक है कि अंग-विक्षेप आदि पर आधारित भाषा की सहायता से कभी-कभी विचारों को प्रकट करने में

बड़ी सहायता मिलती है और उसमें अंगों का विक्षेप या अंगों की चेष्टाएँ स्वयं ही विचारों का प्रतीक होती हैं, किन्तु विचारों की अभिव्यक्ति के लिए सर्वोपयुक्त एवं महत्त्वपूर्ण साधन वर्णात्मक भाषा ही है। उसमें विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिए कुछ निश्चित, उच्चारित या कथित ध्वनियों तथा उनसे बने शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार **"विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द-समूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने मनोभाव दूसरों के प्रति सरलता से प्रकट करते हैं।"**[1]

विज्ञान— विज्ञान' शब्द का अर्थ है 'विशिष्ट ज्ञान'। अर्थात् किसी वस्तु का विशेष ज्ञान। ज्ञान तथा विज्ञान में अन्तर है। उदारहण के लिए किसी पेड़-पौधे को देखकर उसका नाम लेना और उसके आकार-प्रकार का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेना सामान्य ज्ञान है। इसके साथ ही, वह पेड़-पौधा कहाँ उगता है ? कैसे जलवायु में उगता है ? और वनस्पतिशास्त्र की दृष्टि से वह कौन से वर्ग में परिगणित होता है ? आदि-आदि सूक्ष्म और विशेष बातों का ज्ञान उसका विज्ञान है। प्रथम ज्ञान होता है, तदुपरान्त विज्ञान, यही क्रम है। प्रथम, जो वस्तु ज्ञान की सीमा में आती है, वही धीरे-धीरे विशेष-ज्ञान का विषय बनने पर 'विज्ञान' की श्रेणी में आ जाती है। बाद में, जब विज्ञान भी सामान्य ज्ञान-सा प्रतीत होने लगता है, तो उसे पुनः विशेष ज्ञान के द्वारा विज्ञान बना दिया जाता है। उदाहरण के लिए, सर्वप्रथम किसी बाँस-जैसी वस्तु को वन में उगा हुआ देखकर, उसे तोड़-मरोड़ कर, उसका रस चखकर, किसी ने गन्ने का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। बाद में, उसे काटा, उसके टुकड़े किये और एक पौधे से अनेक पौधे उत्पन्न कर लिये, यह विज्ञान हो गया। जब गन्ने का उत्पादन सामान्य ज्ञान बन गया, तो उससे बना गुड़, विज्ञान हो गया और गुड़ के सामान्य ज्ञान बन जाने पर सफेद दानेदार चीनी विज्ञान बन गयी।

ऊपर 'भाषा' और 'विज्ञान' इन दोनों शब्दों को समझ लेने के उपरान्त अब 'भाषाविज्ञान' को समझ लेना सरल हो गया है। गन्ने की भाँति ही 'भाषा' भी एक प्राकृतिक वस्तु है, जो मनुष्य को ईश्वर की देन है। भाषा का निर्माण मनुष्य के मुख से निःसृत स्वाभाविक ध्वनियों (वर्णों) से होता है। इस भाषा का सामान्य ज्ञान; इसके बोलने तथा सुनने वाले सभी व्यक्तियों को हो जाता है। उसी के द्वारा मानव परस्पर भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। यही भाषा का सामान्य ज्ञान है। इसके साथ ही, भाषा कब बनी ? कैसे बनी ? भाषा का आदिम स्वरूप क्या था ? उसमें कब-कब, क्या-क्या परिवर्तन हुए ? उन परिवर्तनों के कारण क्या हैं ? अथवा सब मिलाकर, भाषा कैसे विकसित हुई ? उस विकास के कारण क्या हैं ? कौन-सी भाषा किस दूसरी भाषा से कितनी समानता या विषमता रखती है ? यह सब भाषा का विशेष ज्ञान अर्थात् 'भाषा-विज्ञान' है।

३. भाषाविज्ञान : कला है या विज्ञान

भाषाविज्ञान : कला है या विज्ञान—उच्च कक्षाओं के साहित्य के विद्यार्थियों

---

१. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, भारतीय भाषाविज्ञान, पृ० ६।

के लिए भाषाविज्ञान विषय को निर्धारित होते हुए देखकर ही; सम्भवतः सर्वप्रथम, स्थूल रूप से यह प्रश्न उठा होगा, कि भाषाविज्ञान, अपनी विषय-सामग्री के आधार पर कला-विषयों में परिगणित होना चाहिए या विज्ञान-विषयों में। धीरे-धीरे इस प्रश्न पर सूक्ष्मता से विचार होने लगा और भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रक्रिया तथा निष्कर्षों को लेकर यह निश्चय किया जाने लगा कि वस्तुतः, उसे भौतिकविज्ञान एवं रसायनविज्ञान आदि विज्ञानों की भाँति विशुद्ध या पूर्ण विज्ञान माना जाय या काव्य, चित्र एवं सङ्गीत आदि की भाँति कला रूप में स्वीकार कर लिया जाय। यहाँ विशेष रूप से भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रक्रिया एवं निष्कर्षों को दृष्टि में रखकर ही, इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा है।

भाषाविज्ञान कला नहीं है—कला का सम्बन्ध मानवरचित वस्तुओं या विषयों से होता है। यही कारण है कि **कला व्यक्तिविशिष्ट होने के साथ ही साथ देशविशिष्ट एवं कालविशिष्ट भी हुआ करती हैं**। परिणामस्वरूप, एक देश में या एक काल में कला का जो मानदण्ड होता है, यह आवश्यक नहीं है कि दूसरे देश में या दूसरे काल में भी वही मानदण्ड रहे। अतः, कला के सम्बन्ध में प्रायः विप्रतिपत्तियाँ हुआ करती हैं, विकल्प हुआ करते हैं। एक व्यक्ति को, जो वस्तु अत्यधिक कलात्मक प्रतीत होती है, यह सम्भव है कि दूसरे व्यक्ति को उसमें उतनी कलात्मकता दृष्टिगोचर न हो।

साथ ही, **कला का सम्बन्ध हृदय की रागात्मिका वृत्ति से होता है।** उसमें हृदय को सौन्दर्य की अनुभूति होती है। उससे व्यक्ति का मनोरञ्जन ही होता है। वस्तुतः तो, कला का उद्देश्य ही सौन्दर्यानुभूति कराना एवं मनोरञ्जन करना होता है।

कला की उपर्युक्त विशेषताओं को दृष्टि में रखने से ज्ञात होता है कि भाषाविज्ञान कला नहीं है। क्योंकि, उसका सम्बन्ध हृदय की रागात्मिका वृत्ति से नहीं है। उसका विषय हृदयप्रधान न होकर बुद्धिप्रधान है। उसका उद्देश्य मनोरञ्जन करना एवं सौन्दर्यानुभूति कराना भी नहीं है। वह तो हमारी ज्ञानपिपासा की तृप्ति करता है। इसी प्रकार वह देशविशिष्ट एवं कालविशिष्ट भी नहीं है, अपितु, सभी देशों एवं कालों में एक समान रहता है अर्थात् देश एवं काल की रुचि के अनुसार उसमें परिवर्तन नहीं होता है। साथ ही, भाषाविज्ञान का विषय-भाषा भी, मानवकृत नहीं है।

भाषाविज्ञान विज्ञान है—भाषाविज्ञान कला नही है, यह निश्चित हो जाने के उपरान्त प्रश्न उठता है, तो, क्या भाषाविज्ञान, भौतिकविज्ञान एवं रसायनविज्ञान आदि विज्ञानों की भाँति ही विशुद्ध विज्ञान या पूर्ण विज्ञान है ?

अधिकांश विद्वान् भाषाविज्ञान को पूर्ण विज्ञान की कोटि में रखने को सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार भाषाविज्ञान के निष्कर्ष अभी पूर्णतया विप्रतिपत्ति-रहित नहीं है। वे उतने सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक भी नहीं है। जैसे गणित-विज्ञान में सभी देशों एवं सभी कालों में २ + २ = ४ ही होते हैं, वैसे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक विकल्परहित निष्कर्ष भाषाविज्ञान से प्राप्त नहीं होते हैं। साथ ही, भाषा के अध्ययन में भाषाविज्ञानी स्वयं को तटस्थ भी नहीं रख पाता है। फिर भी, भाषा-

विज्ञान में; चूँकि तथ्यों का संकलन होता है; उनका विश्लेषण होता है तथा उनसे निष्कर्ष निकाले जाते हैं और ध्वनि-नियम अधिकांशतः विकल्परहित ही हैं; अतः उक्त विद्वानों के अनुसार भाषाविज्ञान को मानविकी (कला) एवं भाषाविज्ञान के मध्य में रक्खा जा सकता है।

निष्कर्ष—किन्तु विचार करने पर उपर्युक्त मत उचित प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः, विज्ञान का अर्थ है—विशेष ज्ञान। यही कारण है कि जब हमारा विशेष ज्ञान; सामान्य ज्ञान-सा हो जाता है, तो वह विज्ञान नहीं समझा जाता। उदाहरण के लिए; आजकल गुड़ बनाने की क्रिया को कोई भी विज्ञान नहीं मानता है, जबकि चीनी के आविष्कार से पूर्व गुड़ बनाना भी विज्ञान ही था। इसी प्रकार जीवन के सभी क्षेत्रों में नये-नये आविष्कारों के सामने, पुराने आविष्कारों की वैज्ञानिकता फीकी पड़ती जा रही है।

आज, ज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि भौतिकविज्ञान जैसे विज्ञान के क्षेत्र में भी पुराने वैज्ञानिक सिद्धान्तों का खण्डन हो रहा है। 'न्यूटन' का प्रसिद्ध प्रकाश-सिद्धान्त भी अब सन्देहयुक्त एवं अपूर्ण लगने लगा है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि नवीनतम विशेष ज्ञान के प्रकाश में पुरातन विशेष ज्ञान भी विज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाता है।

अतः, विशुद्ध विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान की दृष्टि से यदि विचार करें, तो भाषाविज्ञान, निश्चय ही, विज्ञान की कोटि में आता है। उसमें हम भाषा का विशेष ज्ञान प्राप्त करते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि भाषाविज्ञान अभी पूर्णतया विकसित नहीं हो पाया है। यही कारण है कि पूर्व प्रतिष्ठित 'ग्रिम-नियम' में भी आगे चलकर 'ग्रासमैन' एवं 'वर्नर' को सुधार करना पड़ा है। किन्तु, यह भी निश्चित ही है कि उक्त सुधारों से पूर्व भी 'ग्रिम' का ध्वनि-नियम, निश्चित नियम ही माना जाता था और सुधारों के बाद आज भी वह निश्चित नियम ही माना जाता है। अतः, नये विशेष ज्ञान के प्रकाश में पुराने सिद्धान्तों का खण्डन होने से विज्ञान का कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः तो, यही विशुद्ध-विज्ञान है।

हमें ज्ञात है कि सन् १९३० ई० के बाद से, जब से वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को पुनः महत्त्व प्राप्त हुआ है, तब से भाषाविज्ञान शनैः-शनैः पूर्ण विज्ञान बनने की ओर बड़ी तेजी से अग्रसर हुआ है। जब से ध्वनि के क्षेत्र में नये-नये यन्त्रों के आधार पर नये-नये परीक्षण प्रारम्भ हुए हैं, तथा प्राप्त निष्कर्ष पूर्णतया नियमित होने लगे हैं; तब से भाषाविज्ञान पूर्णविज्ञान की कोटि में ही प्रतिष्ठित माना जाने लगा है।

प्रयोगात्मक होना भी किसी विज्ञान की एक बड़ी विशेषता मानी जाती है। अमेरिकी विद्वान् ब्लूमफील्ड (सन् १९३३ ई०) के बाद से अमेरिकी भाषाविज्ञानियों ने ध्वनिग्राम-विज्ञान एवं रूपग्राम-विज्ञान आदि के साथ ही साथ भाषाविज्ञान की एक नवीन पद्धति प्रायोगिक भाषाविज्ञान का विकास बड़ी तीव्रता से किया है। इस पद्धति में भाषाविज्ञान जिस तीव्रता से प्रयोगशालाओं का विषय बनता जा रहा है और उसके लिये जितने अधिक यन्त्रों का आविष्कार हो गया है, उसे ध्यान में रखते हुए

तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाषाविज्ञान, वस्तुतः पूर्ण विज्ञान ही है।

इसके अतिरिक्त भी, आजकल समाजविज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि शास्त्रीय विषयों को भी जब विज्ञान कहने की परम्परा है, तब कारण-कार्य-शृङ्खला पर आधारित भाषाविज्ञान को विज्ञान न मानना तो, किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता।

४. भाषाविज्ञान के अध्ययन के प्रकार

संक्षेप में, भाषा का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन ही भाषा-विज्ञान है और किसी भी विषय का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन तभी सम्भव होता है, जब हम एक निश्चित प्रक्रिया को अपनाकर उनमें प्रवृत्त होते हैं। भाषाविज्ञान भी किसी भाषा के कारण-कार्य-मूलक युक्तिपूर्ण विवेचन-विश्लेषण के लिए कुछ निश्चित प्रक्रियाओं में बँधकर चलता है। उन्हीं प्रक्रियाओं के आधार पर अभी तक भाषाविज्ञान के अध्ययन के पाँच प्रकार हमें उपलब्ध होते हैं:—

(i) **वर्णनात्मक भाषाविज्ञान**—जिसमें किसी एक भाषा के, किसी एक ही काल के स्वरूप की व्याख्या या वर्णन रहता है। किसी विशेष काल में किसी भाषा में कितनी ध्वनियाँ थीं ? पदरचना कैसी थी ? वाक्य-रचना कैसी थी ? आदि-आदि का इसमें विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से हमें उस विशिष्ट भाषा का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। संस्कृतभाषा का पाणिनीय व्याकरण इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

(ii) **ऐतिहासिक भाषाविज्ञान**—जिसमें किसी एक भाषा का, उसके विभिन्न अङ्गों—ध्वनि, पदरचना, वाक्यरचना आदि के क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से, हमें किसी भाषा के प्राचीनकाल से लेकर आजतक के साहित्यिक, असाहित्यिक (बोलचाल) अथवा मृत (प्रयोगबाह्य) आदि रूपों का परिचय मिल जाता है। भाषा के इस प्रकार के ऐतिहासिक अध्ययन में प्राचीन साहित्य, पुरातन ग्रन्थ तथा शिलालेख आदि, सभी हमारे अध्ययन के साधन बन जाते हैं। १९ वीं शताब्दी को ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का स्वर्णयुग माना जाता है।

(iii) **तुलनात्मक भाषाविज्ञान**—जिसमें किन्हीं दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जिन भाषाओं को अध्ययन का विषय बनाया जाता है, उनके विभिन्न अङ्गों की तुलना, किसी एक काल के आधार पर अथवा विभिन्न कालों के आधार पर की जाती है। यद्यपि आधुनिक काल में, अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में, विलियम जोन्स द्वारा इसका सूत्रपात हो गया था; किन्तु, इसका पूर्ण विकास भी १९ वीं शताब्दी में ही हुआ है। उन दिनों भाषाविज्ञान का नाम ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान पड़ गया था।

(iv) **संरचनात्मक भाषाविज्ञान**—जिसमें भाषा में प्रयुक्त सभी तत्त्वों का, पारस्परिक विशिष्ट सन्दर्भ में, क्रमशः अध्ययन किया जाता है। भाषाविज्ञान के

"जेनेवा स्कूल" से सम्बद्ध स्विट्जलैंण्ड निवासी 'द सस्यूर' को संरचनात्मक भाषाविज्ञान का जनक कहा जाता है। पहले 'जेनेवा स्कूल' और उसके पश्चात् 'प्राहा स्कूल' इस भाषाविज्ञान का केन्द्र रहा है। आजकल, पाश्चात्य देशों में इस पर पर्याप्त कार्य हो रहा है। भाषा के अध्ययन में संरचनात्मक भाषाविज्ञान से गणित के समान ही निश्चित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। इसी का नाम 'गठनात्मक भाषाविज्ञान' भी है।

(v) **प्रायोगिक भाषाविज्ञान**—जिसमें उपर्युक्त चारों पद्धतियों को प्रयोग में लाना सिखलाया जाता है; अर्थात् उनका व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता है। देशी अथवा विदेशी भाषा को सिखलाने की पद्धति, उच्चारण सिखलाने की प्रक्रिया, एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने की शैली, भाषा-अध्ययन के लिये आविष्कृत यन्त्रों एवं उपकरणों का व्यावहारिक ज्ञान तथा भाषा-सर्वेक्षण की पद्धति आदि भी प्रायोगिक भाषाविज्ञान के ही अन्तर्गत हैं। भाषाविज्ञान की यह पद्धति आधुनिकतम है तथा इसका विकास अभी हो ही रहा है।

५. भाषाविज्ञान की परिभाषा

भाषाविज्ञान के उपर्युक्त सामान्य परिचय के उपरान्त अब भाषाविज्ञान की विभिन्न परिभाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना तथा स्वयं उसकी एक उपयुक्त परिभाषा करना उचित है। कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा की गयी भाषाविज्ञान की विभिन्न परिभाषाएँ इस प्रकार हैं:—

(१) "भाषाविज्ञान, भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।"

—डॉ० श्यामसुन्दरदास, भाषा-रहस्य।

(२) "भाषाविज्ञान, उस विज्ञान को कहते हैं, जिसमें (क) सामान्य रूप से मानवी भाषा का, (ख) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का, और अन्ततः (ग) भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।"

—डॉ० मंगलदेव शास्त्री, तुलनात्मक भाषाशास्त्र।

(३) 'जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए, इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषाविज्ञान कहते हैं।"

—डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान।

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखने से यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उनमें परस्पर कोई विशेष अन्तर नहीं है। डॉ० श्यामसुन्दरदासकृत परिभाषा में जहाँ मात्र 'भाषाविज्ञान' को दृष्टि में रक्खा गया है, वहाँ डॉ० मंगलदेव शास्त्री तथा डॉ० भोलानाथ तिवारी ने भाषाविज्ञान के अध्ययन के प्रकारों को भी भाषाविज्ञान की

परिभाषा में ही सम्मिलित कर लिया है[1]।

वस्तुतः, किसी भी परिभाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है—संक्षिप्तता तथा स्पष्टता। इस दृष्टि से हम भाषाविज्ञान की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

भाषाविज्ञान, वह विज्ञान है, जिसमें मानवप्रयुक्त व्यक्त वाक् का पूर्णतया वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

५. भाषाविज्ञान का क्षेत्र

जो क्षेत्र मानव और उसकी भाषा का है, वही क्षेत्र भाषाविज्ञान का भी है। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध न केवल विश्वभर के सभ्य मनुष्यों की भाषाओं से है, अपितु असभ्य एवं वन्य (जंगली) मनुष्यों की बोलियों से भी है। इस प्रकार भाषाविज्ञान में मात्र साहित्यिक भाषाओं का ही वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जाता; अपितु, असाहित्यिक और मात्र बोलचाल की भाषाओं का अध्ययन भी किया जाता है। साथ ही, मृत कही जाने वाली भाषाओं का अध्ययन भी भाषाविज्ञान के क्षेत्र के ही अन्तर्गत है।

भाषाविज्ञान का सम्बन्ध किसी भाषा के, किसी एक विशेष काल के तथ्यों से

---

१. भाषाविज्ञान की कुछ अन्य परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

१. "भाषाविज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं, जिसमें भाषा मात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।"

—डॉ० श्यामसुन्दरदास, भाषाविज्ञान।

२. "भाषाविज्ञान का अभिप्राय भाषा का विश्लेषण करके उसका दिग्दर्शन कराना है।" —डॉ० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषाविज्ञान।

३. "भाषाविज्ञान का सीधा अर्थ है, भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषाविज्ञान कहलायेगा।"

—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका।

४. "भाषाविज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषाओं का सामान्य रूप से या किसी एक भाषा का विशिष्ट रूप से प्रकृति, संरचना, इतिहास, तुलना, प्रयोग आदि की दृष्टि से सिद्धान्त निश्चित करते हुए, वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।"

—डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग।

५. "Comparative Philology or Simply Philology is the science of language. Philology, strictly means the study of a language from the literary point of View."

—Dr. P. D. Gune, An Introduction to Comparative philology.

६. "भाषाविज्ञान भाषासम्बन्धी समस्त तथ्यों एवं व्यापारों (Phenomenon) से सम्बन्ध रखता है। उसमें संसार की भाषाओं के गठन, इतिहास, परिवर्तन, भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध, उनके पार्थक्य, पार्थक्य के कारणों एवं नियमों आदि समस्त विषयों पर विचार होता है।" —डॉ० रामेश्वरदयालु, मुग्धबोध भाषाविज्ञान।

ही नहीं, अपितु, सभी कालों के तथ्यों से होता है, जिन्हें भाषाविज्ञान न केवल एकत्र; व्यवस्थित और वर्गीकृत करता हैं, अपितु उनके आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण भी करता है। इस प्रकार, यदि चाहें, तो हम भाषाविज्ञान को भाषा का दर्शनशास्त्र या तर्कशास्त्र भी कह सकते हैं।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान में विशेष रूप से भाषा के जीवन के भिन्न-भिन्न कालों के तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन करके भाषा का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। इसमें ध्वनियों के उच्चारण, उनसे बने अक्षरों, अक्षरों से बने शब्दों-पदों और उनसे बने वाक्यों की रचना आदि अनेक विषयों का विवेचन किया जाता है। इसमें भाषा की उत्पत्ति, उसका विकास अर्थात् उसमें हुए परिवर्तन आदि, सभी महत्त्वपूर्ण विषय समाहित रहते हैं। यही कारण है कि भाषाविज्ञान की अध्ययनगत समस्या स्थिर न होकर गत्यात्मक हैं।

६. भाषाविज्ञान के अंग

यद्यपि अपने विषय का पूर्ण ज्ञान कराना ही प्रत्येक विज्ञान का लक्ष्य है, तथापि इस लक्ष्य की सफलता के लिए उसे अपने विषय को विभिन्न भागों या अंगों में विभाजित करके, उसका सूक्ष्म अध्ययन करना पड़ता है। विषय का विभिन्न अंगों में यह विभाजन वस्तुतः, उस विषय का पूर्ण ज्ञान कराने में सहायक होता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान में, अध्ययन के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं—

(i) ध्वनिविज्ञान (Phonology)
(ii) पदविज्ञान (Morphology)
(iii) वाक्यविज्ञान (Syntax) और
(iv) अर्थविज्ञान (Semantics)

(i) ध्वनिविज्ञान

व्यक्त वाक् या मानव-भाषा के अध्ययन का सर्वप्रमुख तत्त्व ध्वनि है। ध्वनि (वर्ण) के अभाव में भाषा का भवन निर्मित ही नहीं हो सकता। अतः, भाषाविज्ञान में भी ध्वनि के अध्ययन को सर्वप्रमुख स्थान दिया जाता है और इस प्रकार के अध्ययन को ध्वनि-विज्ञान अर्थात् ध्वनियों का विज्ञान (विशेष ज्ञान) कहा जाता है। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत सर्वप्रथम, मानव-शरीर के उच्चारण-उपयोगी अवयवों; जैसे, स्वर-यन्त्र, मुख, जिह्वा, तालु आदि का परिचय कराया जाता है। तदुपरान्त, उनसे उत्पन्न ध्वनियों (वर्णों) का उच्चारण-स्थान और उच्चारण-प्रयत्न की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाता है। पुनः, कालक्रम से उन ध्वनियों में कब-कब, कैसे-कैसे विकार हुए, यह बतलाया जाता है। उन विकारों के कारणों को प्रस्तुत किया जाता है; और अन्त में उस अध्ययन के आधार पर कुछ निश्चित ध्वनि-नियमों का निर्धारण किया जाता है।

संक्षेप में, उच्चारण-अवयव, ध्वनियों की संख्या और उनका वर्गीकरण, ध्वनि-

विकार की दिशाएँ और कारण तथा ध्वनि-नियम आदि ध्वनि-विज्ञान का विषय है।

(ii) पदविज्ञान

ध्वनियों को मिलाकर शब्द या पद बनाये जाते हैं। अतः, ध्वनियों के अध्ययन के उपरान्त भाषाविज्ञान में द्वितीय स्थान पर पद-विज्ञान का महत्त्व है। इसके अन्तर्गत पदरचना या पदों का निर्माण, उनके भेद; जैसे—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय आदि, पदांश अर्थात् पद के अर्थसूचक तथा सम्बन्धसूचक अंश, जैसे—धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का विचार किया जाता है।

(iii) वाक्यविज्ञान

जिस प्रकार ध्वनियों से पद बनते हैं, उसी प्रकार पदों से वाक्य बनते हैं। वाक्य-विज्ञान के अन्तर्गत वाक्य-रचना किस प्रकार होती है? कितने प्रकार के वाक्य होते हैं? आदि विषयों पर ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है।

(iv) अर्थविज्ञान

ध्वनि, पद और वाक्य भाषा का शरीर है तथा अर्थ भाषा की आत्मा है। शरीर पर विचार करने के साथ ही भाषा की आत्मा—अर्थ पर विचार करना भी उपयुक्त होता है। अतः, अर्थविज्ञान भी भाषाविज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग है। अर्थविज्ञान के अन्तर्गत शब्दों या पदों का निश्चित अर्थों में निर्धारण कैसे हुआ, कालक्रम से उनके अर्थ में क्या परिवर्तन हुआ, तथा उस अर्थपरिवर्तन के कारण क्या है? आदि-आदि विषयों पर विचार किया जाता हैं।*

निम्नलिखित दो अन्य विषयों को भी आजकल भाषाविज्ञान के अंगों में गिना जाता है।

(v) कोशविज्ञान (Lexicology)

किसी भाषा में प्रयुक्त समस्त अर्थयुक्त तत्त्वों को वर्णानुक्रम-रूप में सूचीबद्ध करना ही उस भाषा का कोश बनाना कहा जाता है। प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा वैदिक भाषा से सम्बन्धित 'निघण्टु' ग्रन्थ इसका प्राचीनतम उदाहरण है। भाषा में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति, शब्दों के अर्थों का निर्धारण तथा कोश-निर्माण की पद्धति आदि कोशविज्ञान का ही विषय है। प्राचीनकाल की अपेक्षा आधुनिक कोशविज्ञान निश्चय ही अधिक वैज्ञानिक है।

(vi) भाषिक भूगोल (Linguistic Geography)

भौगोलिक क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से किसी क्षेत्र-विशेष में कौन-सी भाषा बोली जाती है? उसकी कितनी उपबोलियाँ हैं और वे कहाँ-कहाँ प्रयुक्त होती हैं?

---

*जो विद्वान् भाषा में अर्थ को सर्वप्रमुख मानते हैं, वे भाषाविज्ञान के अंगों का अध्ययनक्रम इस प्रकार रखते हैं, (१) अर्थविज्ञान (२) वाक्यविज्ञान (३) पद-विज्ञान और (४) ध्वनिविज्ञान। उनके अनुसार अर्थ के लिए वाक्य, वाक्य के लिए पद तथा पद के लिए ध्वनि का विचार किया जाता है।

भाषाओं की सीमा का निर्धारण कैसे होता है ? सीमाओं पर मिलने वाली भाषाएँ या बोलियाँ एक-दूसरी को किस प्रकार प्रभावित करती हैं ? सीमाओं पर स्थित भाषा को किस भाषा में परिगणित किया जाय ? आदि-आदि विषय, भाषिक भूगोल के अन्तर्गत आते हैं।

उपर्युक्त ४ प्रमुख अंगों तथा २ नवीन समाविष्ट अंगों के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान के कुछ अन्य गौण अंग भी स्वीकार किये जाते हैं। वस्तुतः, ये भाषाविज्ञान से सम्बद्ध विषय हैं; जैसे—

(vii) भाषा की उत्पत्ति,
(viii) भाषाओं का वर्गीकरण,
(ix) शब्द-व्युत्पत्ति (Etymology),
(x) शब्द-समूह (Vocabulary),
(xi) लिपि (Script), तथा
(xii) प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology)

इनमें से भाषाविज्ञान के प्रमुख (प्रथम चार) अंगों का अध्ययन पर्याप्त विकसित हो चुका है। दो नवीन समाविष्ट अंगों तथा बाद वाले छह गौण अंगों पर अपेक्षाकृत कम कार्य हुआ है, अतः उनके अध्ययन की दिशायें भी अभी अधिक स्पष्ट नहीं है।

७. भाषाविज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता या प्रयोजन

सामान्यतया तो प्रत्येक ही विज्ञान स्वयं में एक निरपेक्ष अध्ययन होता है। उसके अध्ययन में उपयोगिता की अपेक्षा ज्ञानवर्द्धन का दृष्टिकोण ही अधिक रहता है। फिर भी मानव-स्वभाव उसमें भी कोई न कोई उपयोगिता खोज ही लेता है।

भाषाविज्ञान का अपना निरपेक्ष लक्ष्य तो यही है कि उसके द्वारा हम प्रत्येक भाषा अथवा बोली के विभिन्न अवयवों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन द्वारा, उस भाषा विशेष की संरचना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानवर्द्धन में योग दें, पर इस प्रकार के अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता से भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः, भाषाविज्ञान के अध्ययन की कुछ महत्त्वपूर्ण उपयोगिताओं को हम, क्रमशः, इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१—भाषाविज्ञान की सर्वप्रथम उपयोगिता तो यही है कि वह भाषा के सम्बन्ध में उत्पन्न हमारी सभी जिज्ञासाओं का समाधान करके न केवल हमें मानसिक सन्तोष प्रदान करता है, अपितु हमारी भाषा-सम्बन्धी पकड़ को भी मजबूत बनाता है।

२—प्रागैतिहासिक खोजों के सम्बन्ध में भाषाविज्ञान की उपयोगिता बहुत अधिक है। भाषा की ऊपरी परत के नीचे इतिहास के न जाने कितने सन्-सम्वत् बिखरे पड़े हैं। वस्तुतः, भाषा के प्रत्येक शब्द के बाह्य स्वरूप के भीतर विस्तृत व्याख्यान छिपे पड़े हैं। प्रागैतिहासिक काल के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का ज्ञान, हमें

भाषाविज्ञान के आधार पर ही प्राप्त किया है। इस क्षेत्र में भाषाविज्ञान की सामर्थ्य अन्य सभी विज्ञानों से बढ़कर है। विगत शताब्दी में मूल आर्य जाति तथा प्राचीन मिस्री और असीरी आदि जातियों की सभ्यता का उद्घाटन भाषाविज्ञान के द्वारा ही हो सका है।

३—मानवता के मानसिक विकास की कहानी कितनी विशाल है तथा वह कितने कौतूहल से भरी हुई है, इसका ज्ञान भाषा से ही होता है। आदिम मानव से लेकर आज तक के मानव के मानसिक विकास को जानने के लिए भाषाविज्ञान हमारा पद-प्रदर्शक बन सकता है।

४—मानव स्वभाव है कि अपने से भिन्न व्यक्ति, समाज और देश आदि के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानना चाहता है। इसका सर्वोत्तम उपाय विश्व की अधिक से अधिक भाषाओं को सीखना है। इस कार्य में भाषाविज्ञान हमारी बड़ी सहायता करता है; क्योंकि, उसके द्वारा हम अन्य भाषाओं को अधिक सुगमतापूर्वक सीख सकते हैं।

५—विभिन्न भाषाओं का अध्ययन न केवल ज्ञानार्जन की दृष्टि से उपयोगी है, अपितु इससे भिन्न भिन्न जातियों और देशों के विषय में मनुष्य का दृष्टिकोण उदार बनता है और उसके हृदय में विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-मैत्री की भावना प्रबल होती है।

५—प्राचीन ग्रन्थों के पाठ-संशोधन एवं अर्थबोध में भी भाषाविज्ञान से सहायता मिलती है।

५—उपर्युक्त उपयोगिताओं के अतिरिक्त अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में भी भाषाविज्ञान हमारा सहायक सिद्ध होता है। संसार के सारे ही ज्ञान-विज्ञान भाषा का ही आधार लेकर चलते हैं और भाषा का अपना सम्बन्ध भाषाविज्ञान से होने के कारण सभी विज्ञानों का सम्बन्ध भाषाविज्ञान से जुड़ जाता है। इस दृष्टि से भी भाषाविज्ञान का महत्त्व एवं उपयोगिता सर्वमान्य है।

८. भाषाविज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

मानव समाज से सम्बन्ध रखने वाला ऐसा कोई भी विज्ञान अथवा शास्त्र नहीं है, जिसका सम्मबन्ध भाषाविज्ञान से न हो। इसका मुख्य कारण यही है कि मानवसमाज से सम्बन्धित विज्ञानों में भाषा का प्रयोग किसी न किसी रूप में होता ही है और जैसे ही किसी विज्ञान या शास्त्र का सम्बन्ध भाषा से जुड़ता है, वैसे ही वह शास्त्र भाषाविज्ञान से सम्बन्धित हो जाता है। इस दृष्टि से देखें तो जितने भी अन्य शास्त्र हैं, उन सभी का सम्बन्ध भाषाविज्ञान से है, तथापि कुछ विज्ञान या शास्त्र ऐसे हैं, जिनका भाषाविज्ञान से घनिष्ठ या पूर्वापर सम्बन्ध है, उन्हीं शास्त्रों से भाषाविज्ञान के सम्बन्ध पर यहाँ विचार कर लेना उचित है।

(i) भाषाविज्ञान तथा व्याकरण

साम्य—भाषाविज्ञान और व्याकरण दोनों ही 'शब्द-शास्त्र' हैं। दोनों का ही

सम्बन्ध भाषा से है और इसीलिए दोनों का परस्पर भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान तो वस्तुतः व्याकरण का ही दूसरा नाम है। उपर्युक्त समानता के साथ ही इन दोनों में कुछ मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं—

(क) भाषाविज्ञान अंगी है, व्याकरण उसका अंग है। व्याकरण का सम्बन्ध शब्द की व्याकृति से है अर्थात् वह शब्द के अर्थसूचक अंग और सम्बन्धसूचक अंग का विच्छेद करके उसकी आकृति का विशिष्ट ज्ञान कराता है। विशिष्ट ज्ञान कराने के कारण वह भी विज्ञान ही है। व्याकरण भाषा में प्रयुक्त शब्दों की साधुता-असाधुता पर विचार करता है। शुद्ध शब्द क्या है, इसका उत्तर देता है, किन्तु शब्दों के वे रूप कैसे बने, कहाँ से आये, कब आये तथा क्यों आये ?' आदि प्रश्नों का समाधान व्याकरण नहीं करता; इनका उत्तर हमें भाषाविज्ञान से ही मिलता है। संक्षेप में, व्याकरण केवल क्या का उत्तर देता है, जबकि भाषाविज्ञान क्यों, कैसे और कब का उत्तर देता है। संस्कृत में नकारान्त 'करिन्' शब्द का तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'करिणा' रूप बनता है, किन्तु 'इकारान्त' 'हरि' शब्द से 'हरिणा' क्यों बना, इसका उत्तर भाषाविज्ञान ही देता है और बतलाता है कि मानव का यह स्वभाव है कि वह एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से करता है। इसी कारण 'करिणा' के सादृश्य पर 'हरिणा' का भी प्रयोग होने लगा। व्याकरण में वर्णन की प्रधानता होती है किन्तु भाषाविज्ञान में व्याख्या एवं विश्लेषण की। व्याकरण भाषाविज्ञान के लिए सामग्री जुटाता है, जिसके आधार पर भाषाविज्ञान सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है। भाषाविज्ञान में व्याकरण भी सम्मिलित है, जबकि व्याकरण का क्षेत्र बहुत सीमित है। अतः, भाषा-विज्ञान यदि अंगी है तो व्याकरण उसका एक अंग मात्र है।

(ख) व्याकरण कालविशिष्ट एवं देशविशिष्ट होता है, भाषाविज्ञान सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक। व्याकरण का सम्बन्ध किसी कालविशेष एवं देशविशेष की किसी विशिष्ट भाषा से होता है। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध सभी देशों और सभी कालों की सभी भाषाओं से होता है। मृत एवं अनुमान पर आधारित भाषाएँ भी उसके क्षेत्र में आ जाती हैं। व्याकरण प्रत्येक भाषा का पृथक्-पृथक् होता है, जबकि भाषाविज्ञान सभी भाषाओं का समान ही होता है। इसी कारण भाषाविज्ञान को 'व्याकरण का व्याकरण' भी कहा जाता है। शब्दों का शुद्ध प्रयोग सीखने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है, किन्तु भाषा के सम्बन्ध में हमारी अनेक जिज्ञासाओं का समाधान भाषाविज्ञान के द्वारा ही होता है।

(ग) व्याकरण रूढ़िवादी होता है, भाषाविज्ञान प्रगतिवादी। व्याकरण की दृष्टि में, किसी भी शब्द को केवल व्याकरण-निष्पन्न रूप में ही सदा प्रयुक्त किया जाना चाहिए, अन्यथा वह अशुद्ध माना जायगा। भाषाविज्ञान की दृष्टि में ऐसे विशुद्ध शब्द अपने पूर्ववर्ती शब्दों का विकास हैं; यथा, संस्कृत-व्याकरण के अनुसार केवल 'सर्व' शब्द ही शुद्ध है, 'सव्व', और 'सब' अशुद्ध हैं, किन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि में ये 'सर्व' के ही विकसित रूप हैं।

(घ) व्याकरण का सम्बन्ध केवल विशिष्ट एवं साहित्यिक भाषा से होता है, पर भाषाविज्ञान का सम्बन्ध असभ्य एवं जंगली मनुष्यों की बोली से भी होता है। अपितु, वह उन्हें अधिक महत्त्व देता है, क्योंकि उनके सहारे वह भाषा के मूल स्वरूप तक शीघ्र ही पहुँच सकता है।

उपर्युक्त अन्तर के होते हुए भी भाषाविज्ञान और व्याकरण एक-दूसरे के उपकारी भी हैं। अपने द्वारा अशुद्ध ठहराये गये रूपों को भी भाषाविज्ञान द्वारा वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचित होने पर व्याकरण पुनः स्वीकार कर लेता है और उनके प्रयोग के लिए नये नियमों तक की रचना करता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान व्याकरण को नई दृष्टि प्रदान करके उसका उपकारी सिद्ध होता है। इसी भाँति व्याकरण भी अपने द्वारा प्रस्तुत सामग्री के अध्ययन का अवसर देकर भाषाविज्ञान को सामान्य नियम बनाने में सहायता देता है। व्याकरण का सीमित क्षेत्र भी भाषाविज्ञान के द्वारा विस्तार प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त रीति से भाषाविज्ञान तथा व्याकरण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(ii) भाषाविज्ञान तथा साहित्य

भाषाविज्ञान एक विज्ञान है, जबकि साहित्य कला है। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। भाषाविज्ञान में भाषा का अध्ययन उसके स्वरूप को जानने के लिए किया जाता है, जबकि साहित्य में भाषा का अध्ययन साहित्य के अर्थ को समझने के लिए किया जाता है। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से अधिक है, साहित्य का सम्बन्ध हृदय की रसास्वादन-वृत्ति से है। प्रथम का क्षेत्र विस्तृत है, क्योंकि उसमें साहित्य में अप्रयुक्त भाषाओं एवं बोलियों का भी अध्ययन होता है, द्वितीय का क्षेत्र सीमित है क्योंकि उसमें केवल साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन होता है।

साथ ही, साहित्य और भाषाविज्ञान एक-दूसरे के उपकारी भी हैं। भाषाओं के प्राचीन रूपों को सुरक्षित रखकर साहित्य, भाषाविज्ञान के लिए अध्ययन-सामग्री प्रदान करता है, जिसके बिना भाषाविज्ञान का विकास सम्भव नहीं है। इस प्रकार साहित्य, भाषाविज्ञान के लिए कोषागार का कार्य करता है। वस्तुतः, भाषाविज्ञान का तो जन्म ही संस्कृत, ग्रीक और लैटिन आदि के प्राचीन साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप हुआ है। यदि संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का साहित्य न होता, तो किसी भी प्रकार आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की रूपरेखा ज्ञात न हो पाती। संस्कृत, ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं के साहित्य के सहारे ही भाषा-विज्ञानियों को मूल भारोपीय भाषा का अनुमानित ढाँचा खड़ा करने में सफलता मिल सकी है।

भाषाविज्ञान की सहायता से प्राचीन साहित्य का अर्थ ठीक-ठीक समझने में भी सहायता मिलती है। भाषाविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि प्राचीन वैदिक साहित्य में 'असुर' शब्द का अर्थ 'प्राणवान्' (असु + र) है, किन्तु बाद के संस्कृत-साहित्य में

वह 'राक्षस' या 'दानव' (अ+सुर) का वाचक बन गया है। इस अर्थ-परिवर्तन का कारण भाषाविज्ञान ही बतलाता है। प्राचीन मिस्री और असीरी साहित्य का अर्थ-बोध एवं उद्धार भी भाषाविज्ञान के द्वारा ही हो सका है। इसके साथ ही, भाषा-विज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति द्वारा एक साहित्य की भाषा से परिचित व्यक्ति अन्य साहित्यों की भाषा और तदनन्तर साहित्य से भी शीघ्र ही परिचय प्राप्त कर सकता है। थोड़े ही समय में ऐसा व्यक्ति बहुभाषाविद् के साथ-साथ बहुसाहित्यविद् भी बन सकता है।

अतः, भाषा-विज्ञान और साहित्य एक दूसरे के उपकारी होने के कारण परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

(iii) भाषाविज्ञान तथा दर्शन

आत्मा-परमात्मा, जीवन मृत्यु आदि आध्यात्मिक क्षेत्र के रहस्यों का विचार दर्शन का विषय है। जीवन और जगत् के अन्य अनेक प्रश्नों की भाँति ही भाषा का प्रश्न भी पर्याप्त रहस्यपूर्ण है। यही कारण है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करने वाले सभी भारतीय मनीषी दार्शनिक ही थे। 'पतञ्जलि' तथा 'भर्तृहरि' ने भाषा पर दार्शनिक दृष्टि से ही विचार किया है। स्फोटवाद का सिद्धान्त, शब्दब्रह्म की कल्पना आदि सभी दार्शनिक क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार भाषा के सम्बन्ध में, जो अनेक जिज्ञासायें मानव-मस्तिष्क में उत्पन्न होती हैं और जिनका समाधान भाषाविज्ञान के द्वारा होता है, वे सब भी दर्शन के ही अन्तर्गत आती हैं।

भारत ही नहीं, पश्चिम के देशों में भी भाषा पर सर्वप्रथम विचार करने वाले विद्वान् दार्शनिक ही थे। उदाहरणार्थ, प्लेटो, अरस्तु आदि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर पर्याप्त विचार किया है।

इस प्रकार भाषाविज्ञान और दर्शन दोनों ने मिलकर चूँकि भाषा-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का समाधान किया है। अतः, इन दोनों का परस्पर भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(iv) भाषाविज्ञान तथा मनोविज्ञान

भाषाविज्ञान तथा मनोविज्ञान, दोनों ही विज्ञान हैं। एक में यदि भाषा का अध्ययन किया जाता है, तो दूसरे में मानव-मन का। 'भाषा' और मन' का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन की प्रेरणा से ही भाषा प्रस्फुटित होती है। फलतः, इनसे सम्बन्धित विज्ञानों का परस्पर सम्बन्धित होना भी स्वाभाविक ही है। भाषा, मनुष्य के भावों तथा विचारों का वाहन है। मनुष्य के भावों और विचारों का उसकी भाषा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

भाषाविज्ञान के अन्तर्गत, शब्दों का अर्थ-परिवर्तन एवं ध्वनि-परिवर्तन आदि, कई समस्याओं का समाधान मनोविज्ञान के सहारे ही किया जाता है। भाषाओं के आदिम रूप को समझने में असभ्य एवं अविकसित जातियों की बोलियों का अध्ययन उपादेय सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार बच्चों द्वारा भाषा सीखने के प्रयत्नों से, आदि मानव द्वारा भाषाविकास की दिशा में किये गये प्रयत्नों का कुछ अनुमान लगाया

जा सकता है। अतः, बच्चों और आदिम जातियों के मनोविज्ञान का ज्ञान भाषा की उत्पत्ति की समस्या को सुलझाने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह थोड़े प्रयास से ही अधिक कार्य निष्पन्न कर लेना चाहता है। इस प्रवृत्ति को संक्षेप में 'प्रयत्नलाघव' कहते हैं। शब्दों में, ध्वनियों के परिवर्तन में प्रयत्नलाघव का बहुत हाथ रहता है। इसी कारण 'उपाध्याय', 'वन्द्योपाध्याय' और 'अभ्यन्तर' आदि विशाल शब्द क्रमशः 'झा' 'बनर्जी' और 'भीतर'—जैसे लघु शब्दों मे सिमट गये हैं। अनेक शब्दों का अर्थ-परिवर्तन भी मनुष्य के मनोविज्ञान के कारण ही हुआ है। उदाहरणार्थ, 'स्वर्गवासी होना' का अर्थ 'मरना' या 'दूकान बढ़ाना' का अर्थ 'दूकान बन्द करना' आदि मनुष्य की अमंगल-वाची शब्दों से बचने की प्रवृत्ति का ही द्योतक है। ऐसी ही अनेक समस्याओं के समाधान में भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान की सहायता लेता है।

दूसरी ओर भाषाविज्ञान भी मनोविज्ञान के अध्ययन में सहायक सिद्ध होता है। विभिन्न देशों-कालों में, मानव मनोविज्ञान को समझने के लिये भाषाविज्ञान से बड़ी सहायता मिलती है। उन-उन देशों तथा कालों की भाषाओं के अध्ययन द्वारा यह कार्य सहज ही सम्भव हो जाता है। मनोविज्ञानवेत्ता फ्रॉयड (Freud) ने भी आदिम जातियों के संस्कारों का पता लगाते हुए 'टोटम' (Totem=गणचिह्न) और 'टेबू' (Taboo=वर्जना, वर्जित कर्म) शब्दों का अर्थ-विश्लेषण, भाषाविज्ञान की सहायता से ही किया था।

(v) भाषा तथा इतिहास

भाषाविज्ञान तथा इतिहास का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे को समझने में सहायक हैं। पदविकास, ध्वनिविकास, अर्थविकास आदि को समझने में इतिहास भाषाविज्ञान का मार्गदर्शन करता है। हिन्दी में विभिन्न विदेशी शब्दों का आगमन कैसे-कैसे और कब-कब हुआ, इसका ज्ञान देश के इतिहास द्वारा विदेशियों के आक्रमणों की जानकारी आदि से ही सम्भव है। समाज में हुए धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों से भाषा में भी अनेक परिवर्तन घटित होते हैं।

इसी भाँति भाषाविज्ञान के अन्तर्गत अनेक प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से विभिन्न देश-कालों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। आर्यों की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का उद्घाटन भाषाविज्ञान की ही देन है। इतिहास भी जिन तथ्यों को प्रस्तुत नहीं कर पाता, भाषाविज्ञान के द्वारा उनकी भी उपलब्धि हमें हो जाती है। प्रागैतिहासिक काल की खोजों से इस बात की सत्यता पूर्णरूप से प्रमाणित हो चुकी है। इतिहास तथा पुरातन संस्कृति के अनेक महत्त्वपूर्ण अंश, हमें आज भाषाविज्ञान की कृपा से ही प्राप्त हुए है—प्राचीन मिस्री और असीरियन संस्कृति इसके प्रमाण हैं।

(vi) भाषाविज्ञान तथा भूगोल

भाषा का प्रयोग करने वाला प्रत्येक मानव किसी न किसी भौगोलिक वाता-

वरण में रहता है। भौगोलिक वातावरण का वहाँ के निवासी मानवों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। फलतः, मानव द्वारा प्रयुक्त भाषा भी मानव के विशिष्ट भौगोलिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। इस प्रकार भाषाविज्ञान और भूगोल भी परस्पर सम्बन्धित हो जाते हैं।

भाषाविज्ञान के अन्तर्गत जिन भाषाओं का अध्ययन किया जाता है, उनका प्रयोग-क्षेत्र निर्धारित करने में भूगोल से बहुत सहायता मिलती है। भाषाओं में होने वाले परिवर्तन की गति का निश्चय भी भूगोल का ज्ञान प्राप्त किये बिना कठिन है, क्योंकि जिस प्रदेश में आवागमन की सुविधायें अधिक हैं तथा भौगोलिक बाधायें—पर्वत, नदी, सघन वन आदि कम हैं वहाँ की भाषा में परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक वेग से होता है। इसके विपरीत घने वनों, ऊँचे पर्वतों और बड़ी नदियों एवं दलदलों से घिरे प्रदेशों की भाषा में परिवर्तन बहुत देर से होता है।

शब्दों के अर्थ एवं ध्वनि-परिवर्तन पर भी भौगोलिक प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, वैदिककाल में 'उष्ट्र' शब्द का अर्थ 'जंगली भैंसा' था। तत्कालीन आर्य-परिवेश में वही सबसे बड़ा और उपयोगी पशु था। अतः, जब आर्य लोग फारस की दिशा में बढ़े, तो वहाँ उन्होंने सबसे बड़े और उपयोगी पशु 'ऊँट' को ही 'उष्ट्र' कहना प्रारम्भ कर दिया। यही बात पेड़-पौधों तथा नदियों पर भी घटित होती है।

ध्वनि-परिवर्तन पर भी भौगोलिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान प्रदेशों के निवासी जिन शब्दों के उच्चारण में मुख कम खोलते हैं और श्वास को बाहर कम निकालते हैं उन्हीं शब्दों के उच्चारण में उष्ण प्रदेशों के निवासी मुख अधिक खोलते हैं तथा अधिक श्वास बाहर निकालते हैं। इस प्रकार ध्वनियाँ संवृत या विवृत हो जाती है। उदाहरणार्थ—एक ही 'अ' (या a) ध्वनि, शीत और उष्ण प्रदेश में भिन्न-भिन्न प्रकार से उच्चरित होती है।

दूसरी ओर प्राचीन भूगोल या ऐतिहासिक भूगोल का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भाषाविज्ञान, भूगोल की बड़ी सहायता करता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्राचीन नदियों, पर्वतों आदि के नामों का ज्ञान और उनके तुलनात्मक अध्ययन से भूगोल के अध्ययन को एक नयी दिशा प्राप्त होती हैं। इस प्रकार भूगोल को भी अपने शोधकार्य में भाषाविज्ञान से सहायता मिलती हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों शास्त्र परस्पर सहायक हैं।

(vii) भाषाविज्ञान तथा समाजविज्ञान

ये दोनों ही विज्ञान समाज-सापेक्ष होने के कारण परस्पर सम्बन्धित हैं। समाजविज्ञान में समाज की दृष्टि से मानव के आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान तथा रीति रिवाजों का अध्ययन होता है। भाषा भी सामाजिक सम्पत्ति होने के कारण समाजविज्ञानी के अध्ययन का विषय बन जाती है। कारण, समाज में होने वाले अनेक परिवर्तनों का कारण भाषा होती है।

इसके विपरीत भाषा भी सामाजिक नियन्त्रण में रहती है। भाषा में होने वाले अनेक परिवर्तनों का कारण समाज में मान्यताप्राप्त परम्परायें एवं रीति-रिवाज

ही होते हैं। भाषा से पुराने शब्दों को निकालना, उसमें नये शब्दों को लेना तथा शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होना आदि बातें समाज-सापेक्ष ही हैं। अतः, समाजविज्ञान तथा भाषाविज्ञान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। हाँ, तुलना करने पर समाजविज्ञान का क्षेत्र जहाँ विस्तृत है, वहाँ भाषाविज्ञान का क्षेत्र सीमित है।

(viii) भाषाविज्ञान तथा शरीरविज्ञान

भाषा का सम्बन्ध वक्ता तथा श्रोता से है। वक्ता के मुख से उच्चारित भाषा ही श्रोता के कानों द्वारा सुनी जाकर भावाभिव्यक्ति में सफल होती है। संक्षेप में, वक्ता के शरीर में स्थित वाग्यन्त्र तथा श्रोता के शरीर में विद्यमान श्रवणयन्त्र का सम्बन्ध शरीरविज्ञान से ही है। वाग्यन्त्र में फेफड़े, श्वासनली, स्वरतन्त्रियाँ, गलबिल, नासिकाविवर, मुखविवर तथा उसमें स्थित कण्ठ, तालु, दन्त, जिह्वा तथा ओष्ठ आदि का ज्ञान, जहाँ शरीरविज्ञान से होता है, वहाँ इन अङ्गों से उत्पन्न ध्वनियों तथा उनके अध्ययन का सम्बन्ध भाषाविज्ञान से है। ध्वनियों के ठीक-ठीक उच्चारण के लिए शरीरविज्ञान का थोड़ा ज्ञान नितान्त आवश्यक है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित उच्चारण भी शरीर विज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। अतः, भाषाविज्ञान तथा शरीरविज्ञान का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है।

(ix) भाषाविज्ञान तथा मानवविज्ञान

मानवविज्ञान का सम्बन्ध मानव-जाति की उत्पत्ति एवं उसके विकास से है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य के सांस्कृतिक विकास में भाषा का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। भाषाविज्ञान के द्वारा प्राचीन भाषाओं को समझ लेने पर मानवविज्ञान का कार्य बड़ा सरल हो जाता है। इसी प्रकार मानवविज्ञान के द्वारा विभिन्न प्रजातियों के मिश्रण का ज्ञान हो जाने पर भाषाविज्ञानी एक प्रजाति (Race) की भाषा पर दूसरी प्रजाति की भाषा के प्रभाव को जान सकता है। अतः, ये दोनों विज्ञान परस्पर एक-दूसरे के सहायक हैं।

(x) भाषाविज्ञान तथा भौतिकविज्ञान

वक्ता के मुख से उच्चारित भाषा श्रोता के कानों तक कैसे पहुँचती है, यह विषय भौतिकविज्ञान का ही है। वही बतलाता है कि आकाश में व्याप्त 'ईथर' संज्ञक पदार्थ, ध्वनि की तरङ्गों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाता है। यह 'ईथर' नाम का पदार्थ क्या है और यह ध्वनि-तरङ्गों को किस प्रकार वहन करता है? क्या ध्वनियों की गति को घटाया-बढ़ाया जा सकता है? आदि-आदि प्रश्नों का समाधान भौतिकविज्ञान से ही होता है। अतः, जिस प्रकार अपने मानसिक आधार के कारण भाषा मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती है और इस प्रकार भाषाविज्ञान तथा मनोविज्ञान का सम्बन्ध बनता है; ठीक उसी प्रकार अपने भौतिक, आधार के कारण भाषा, भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखती है तथा इस प्रकार भाषाविज्ञान और भौतिकविज्ञान में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

[अध्याय १]

भाषा

१. 'भाषा' शब्द के विभिन्न अर्थ
२. भाषा की परिभाषा
३. भाषा का आधार
४. भाषा के विभिन्न रूप
५. सर्वसाधारण की भाषा तथा साहित्यिक भाषा में अन्तर
६. भाषा की उत्पत्ति एवं विकास
७. भाषा की प्रमुख प्रवृत्ति : परिवर्तनशीलता
८. भाषा की सामान्य विशेषताएँ तथा प्रवृत्तियाँ
९. भाषा-परिवर्तन के कारण

[अध्याय २]

भाषा

सामान्यरूप से भाषा के विषय में कुछ भी कहना-सुनना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है; क्योंकि, भाषा के विषय में कहने-सुनने वाले सभी व्यक्ति भाषा का खूब प्रयोग करते हैं और उसकी उपयोगिता को भली-भाँति समझते हैं। सचमुच, भाषा के अभाव में हमारी आज क्या दशा होती, भाषा के होते हुए यह कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन है। आचार्य 'दण्डी' ने इसका कुछ अभास दिया है—

"इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥"[1]-काव्यादर्श १/४

वस्तुतः, हमारी लोकयात्रा वाग्देवी को कृपा से ही सम्भव हो पाती है—

"वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।"[2]—काव्यादर्श १/३

१. 'भाषा' शब्द के विभिन्न अर्थ

'भाषा' का जीवन में पग-पग पर व्यवहार करने पर भी 'भाषा' शब्द का अर्थ बतलाना उतना सरल नहीं है। विचार करने पर 'भाषा' शब्द का प्रयोग जिन अनेक अर्थों में होता है, उन्हें निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) 'भाषा' शब्द का औपचारिक प्रयोग—हम इस अनुभव के अभ्यस्त हो गये हैं कि वक्ता और श्रोता वर्णमयी या ध्वन्यात्मक भाषा द्वारा पारस्परिक अभिव्यक्ति या विचार-विनिमय करते हैं, एक दूसरे के अभिप्राय को समझते है। अतः हम अभिप्राय व्यक्त करने के प्रत्येक साधन को, जैसेः—इंगित, मुद्रा, मुखविकार आदि को भी सामान्य रूप से भाषा' कह देते हैं। इस प्रकार यहाँ 'भाषा' शब्द का प्रयोग औपचारिक रूप में ही किया जाता है, क्योंकि मूलरूप से (भाष् व्यक्तायां वाचि धातु से निष्पन्न) 'भाषा' शब्द का अर्थ तो 'व्यक्त वाक्' क लिए ही प्रमुख रूप से होता है, उसका मुख्यार्थ वर्णात्मक मानव-भाषा ही है। किन्तु, औपचारिक रूप में पशुओं तथा पक्षियों द्वारा उत्पन्न अस्पष्ट ध्वनियों (अव्यक्त वाक्) को भी 'भाषा' ही कह दिया जाता है।

(२) मानवमात्र की भाषा—औपचारिक प्रयोग की अपेक्षा कुछ सीमित अर्थ में 'भाषा' का अर्थ—मानवमात्र की भाषा है। मानव चाहे जिस देश, जाति या वर्ग का हो, सभ्य-शिष्ट हो या असभ्य-अशिष्ट, ग्राम्य हो या नागरिक। इस अर्थ में मनुष्य

---

१. अर्थात् यह सम्पूर्ण त्रिभुवन अन्धकारपूर्ण हो जाता, यदि 'शब्द' नाम की ज्योति इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित न कर देती।

२. अर्थात् वाणी की कृपा से ही लोकयात्रा चलती है।

मात्र द्वारा प्रयुक्त 'व्यंक्त वाक्' को भाषा कहा जाता है, चाहे उसमें ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों या अर्थों की कितनी भी विभिन्नता क्यों न हो। हां, पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ, तथा इंगित, चेष्टादि द्वारा की गयी अभिव्यक्ति इसके अन्तर्गत नहीं आती है।

(३) देश-विदेश की भाषा—'भाषा' शब्द का कुछ और अधिक संकुचित अर्थ में प्रयोग तब होता है, जब इसका व्यवहार हम किसी विशेष भू भाग या देश-विशेष के मनुष्यों द्वारा अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रयुक्त भाषा के लिए करते हैं। इस रूप में भाषा का अर्थ होता है—हिन्दी जर्मनी, फ्रेंच, अंग्रजी इत्यादि भाषाएँ। हिन्दी से तात्पर्य यहाँ 'हिन्द' देश की भाषा से है।

(४) प्रान्त-विशेष की भाषा—भौगोलिक क्षेत्र की दृष्टि से जब किसी देश के विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले मनुष्यों में अभिव्यक्ति के माध्यम के लिये 'भाषा' शब्द का व्यवहार किया जाता है, तब 'भाषा' से तात्पर्य होता है, किसी प्रान्तविशेष की भाषा। इस अर्थ में भाषा, शब्द का अर्थ कुछ और भी अधिक सीमित हो जाता है; उदाहरणार्थ, बगला, गुजराती, पंजाबी, मराठी आदि भारत के विभिन्न प्रान्तों में बोली जाने वाली भाषायें।

(५) वर्गविशेष की भाषा—मनुष्य का स्वभाव है कि वह समूह में रहना पसन्द करता है। इसके साथ ही वह अपने समूह में रहना चाहता है तथा पितृपरम्परा से प्राप्त समूह ही उसका अपना समूह होता है। कभी-कभी इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्यों का एक समूह या वर्ग, दूसरे समूहों या वर्गों से भिन्न प्रकृति, विचारधारा और वेशभूषा को अपनाकर, अन्य समूहों से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखता है। इसप्रकार एक वर्ग की भाषा दूसरे वर्ग की भाषा से कुछ भिन्न हो जाती है। एक ही नगर में रहने वाले विभिन्न वर्गों की भाषाओं को देखने से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है; उदाहरणार्थ, हिन्दु, मुसलमान, ब्राह्मण, कायस्थ आदि वर्गों में एक ही प्रकार की भाषा नहीं बोली जाती है।

इस प्रकार का अन्तर सम्प्रदायविशेष या व्यवसायविशेष से सम्बन्धित लोगों की भाषा में भी हो जाता है जैसे वैष्णवों-जैनों की भाषाओं में भी कुछ अन्तर रहता है। इसी प्रकार किसानों-व्यापारियों की भाषा भी कुछ भिन्न-भिन्न होती है।

(६) वैयक्तिक भाषा—'भाषा' शब्द का अर्थ तब सर्वाधिक संकुचित हो जाता है, जब उसका प्रयोग व्यक्तिविशेष की भाषा के लिए किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर होता है। एक मनुष्य का व्यक्तित्व दूसरे से भिन्न होता है। इसका कारण है पैतृक गुण, वातावरण, शिक्षा-दीक्षा आदि। प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक संघटन में भिन्नता रहती ही है। वाग्यन्त्र-श्रवणयन्त्र भी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। परिणामस्वरूप, एक ही भाषा का व्यवहार करने वाले दो व्यक्तियों की शब्दावली में भिन्नता आ जाती है। विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी क्षमता के कारण एक ही शब्द का अर्थ कुछ भिन्न भिन्न ग्रहण कर लेते हैं। जैसे धर्म, पुण्य, स्वतन्त्रता, अहिंसा, सत्य आदि शब्दों का अर्थ सबके लिए एक ही नहीं होता है।

प्रत्येक व्यक्ति या लेखक की शैली में भिन्नता भी व्यक्तिगत भाषा के कारण ही रहती है। इस प्रकार 'भाषा' शब्द का अर्थ 'व्यक्तिगत भाषा' भी है।[1]

२. भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषा की परिभाषा

यहाँ भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषा की कोई उपयुक्त परिभाषा करना आवश्यक है। भाषा का भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में जो गौण अर्थ लिया जाता है, जैसे संकेतादि, उनसे भाषाविज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः, यहाँ मानवप्रयुक्त वाचिक भाषा (व्यक्त वाक्) ही विचार का विषय है, उसी की युक्तियुक्त परिभाषा यहाँ उद्दिष्ट है।

'भाषा' शब्द संस्कृत की "भाष्" धातु से बना है, जिसका प्रयोग व्यक्त वाणी (व्यक्तायां वाचि) के लिये किया जाता है। पशु-पक्षियों की बोली तथा मानवकृत इंगितों व संकेतों की भाषा, वस्तुतः भाषा कहलाने की अधिकारिणी नहीं है, क्योंकि वह 'अव्यक्त वाक्' है। मनुष्य द्वारा वाणी से उच्चारित ध्वनि-संकेतों से गठित, शब्दमयी भाषा ही वस्तुतः भाषा है, क्योंकि उसमें स्पष्टता, असंदिग्धता तथा सुगमता है[2]।

यद्यपि भाषा की परिभाषा करना कुछ कठिन प्रतीत होता हैं, तथापि भाषाविज्ञान की दृष्टि से हम भाषा की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

जिन यादृच्छिक तथा विभिन्न अर्थों में रूढ़ ध्वनि-संकेतों के द्वारा मनुष्य अपने भावों-विचारों को अभिव्यक्त करता है, उन्हें 'भाषा' कहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषा में 'ध्वनि-संकेतों' को भाषा कहने से इंगितादि को भाषा कहे जाने का निराकरण हो जाता है। ध्वनि-संकेतों को 'यादृच्छिक' कहने से भाषा का मानवकृत होना ज्ञात हो जाता ; तथा ध्वनि-संकेतों के 'विभिन्न अर्थों में रूढ़' होने से भाषा की सामाजिक मान्यता की अनिवार्यता का ज्ञान होता है। भाषा के लिए ये बातें आवश्यक हैं, तभी उसके द्वारा विचारों का आदान-प्रदान सम्भव है।[3]

---

१. दे० तुलनात्मक भाषाशास्त्र – डॉ० मंगलदेव शास्त्री।

२. "अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।"—निरुक्त १।१

३. भाषा की कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

(१) डॉ० पी० डी० गुणे —

"Language in its widest sense means the sum-total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will".

—An Introduction to Comparative Philology.

अर्थात् "अपने व्यापकतम रूप में भाषा का अर्थ है, हमारे विचारों और मनोभावों को व्यक्त करने वाले ऐसे संकेतों का कुल योग, जो देखे या सुने जा सकें और इच्छानुसार उत्पन्न किए एवं दोहराए जा सकें।"

—उपर्युक्त का डॉ० भोलानाथ तिवारीकृत अनुवाद।

(२) ए. एच. गार्डीनर (A. H. Gardiner)—

"The common definition of speech is the use of Articulate sound-symbols for the expression of thought.

—Speech and Language

अर्थात् "विचार की अभिव्यक्ति के लिये व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यंवहार को भाषा कहते हैं।"

— उपर्युक्त का श्री श्यामसुन्दरदासकृत अनुवाद, 'भाषा-रहस्य'।

(३) हेनरी स्वीट (Henry sweet)—

"Language may be defined as the expression of thought by means of speech-sounds. —The History of Language.

(४) मेरिओ ए० पेई और फ्रॉन्क गॅयनोर (Mario A. Pei and Frank Gaynor)—

'A system of communication by sounds, i.e. through the organs of speech and hearing, among human beings of a certain group or community, using vocal symbols possessing arbitrary conventional meanings." —Dictionary of Linguistics.

अर्थात् "मनुष्यों के वर्गविशेष में आपसी व्यवहार के लिये प्रयुक्त वे व्यक्त ध्वनि-संकेत, जिनका अर्थ पूर्वनिर्धारित एवं परम्परागत है तथा जिनका आदान-प्रदान जिह्वा और कान के माध्यम से होता है।"

—उपर्युक्त का डॉ० रामेश्वरदयालुकृत अनुवाद, मुग्धबोध भाषाविज्ञान।

(५) डॉ० भोलानाथ तिवारी—

"भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित अध्ययन-विश्लेषणीय यादृच्छिक (arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।" —भाषाविज्ञान

(६) डॉ० बाबूराम सक्सेना—

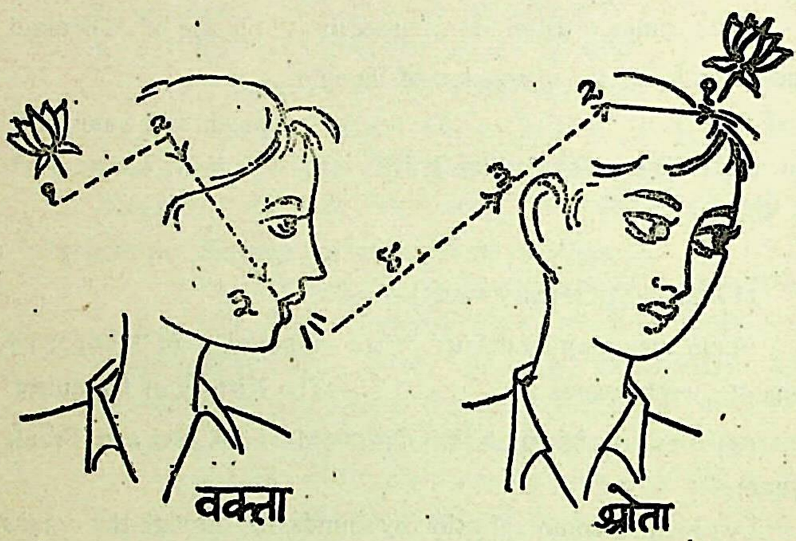
"जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनको समष्टिरूप से भाषा कहते हैं।" —सामान्य भाषाविज्ञान।

(७) आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—

"विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्दसमूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।"

—भारतीय भाषाविज्ञान।

भाषा का आधार



वक्ता		श्रोता
V		V
१ = प्रत्यय	↑ ———→	३ = श्रवण
२ = शाब्दबिम्ब	४ = शब्द	२ = ध्वानिक बिम्ब
३ = ध्वनन →———	↑	१ = प्रत्यय

[१. प्रत्यय = पदार्थज्ञान, जैसे कमल का फूल, २. शाब्दबिम्ब या ध्वानिक बिम्ब = पदार्थ के लिये मस्तिष्क में स्थित शब्दाकृति, जैसे 'कमल', ३. ध्वनन या श्रवण = क-म-ल आदि का क्रमशः उच्चारण या श्रवण, ४. शब्द = पदार्थ के लिये निश्चित शब्द-संकेत।

३. भाषा का आधार

मानव जिस रूप में भाषा का प्रयोग करता है, उसे देखने से भाषा के आधार के दो रूप स्पष्ट प्रतीत होते हैं—

(१) मानसिक आधार—इसी के कारण भाषा का जन्म हुआ है। मनुष्य अपने भावों-विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये ही भाषा को स्वीकार करता है। विभिन्न पदार्थों के सम्पर्क में आने पर मनुष्य को विभिन्न प्रकार का ज्ञान होता है, जिसे हम 'प्रत्यय' (=ज्ञान) कह सकते हैं। इस प्रत्यय के अनुसार ही वक्ता के मस्तिष्क में शब्दचित्रों या शाब्द-बिम्बों की रचना होती है, जिन्हें मन की प्रेरणा से[१] वह वाणी द्वारा

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥—पाणिनीय शिक्षा ६॥

अर्थात् आत्मा, बुद्धि द्वारा विभिन्न विषयो को जानकर, उन्हें व्यक्त करने के लिये मन को आदेश देता है, तब मन शारीरिक शक्ति को और शारीरिक शक्ति प्राण-वायु को प्रेरित करती है।

प्रकट या अभिव्यक्त करता है।[1] इसी प्रकार श्रोता में भी ध्वनि-संकेत कानों द्वारा सुने जाकर पहले ध्वनि-बिम्बों की रचना करते हैं और तब श्रोता को प्रत्यय या पदार्थ-ज्ञान होता है।

इस प्रक्रिया में, १. वक्ता का प्रत्यय > २. वक्ता का शाब्दबिम्ब > २. श्रोता का ध्वानिक-बिम्ब > १. श्रोता का प्रत्यय। यह सब प्रक्रिया मानसिक ही है, जिसका अध्ययन मनोविज्ञान द्वारा ही किया जा सकता है। अतः, यह भाषा का मानसिक आधार ही है इसका सम्बन्ध भाषा के अर्थ-पक्ष से है।

(२) भौतिक आधार—ऊपर कहा गया है कि प्रत्यय के अनुसार शाब्द-बिम्बों को वक्ता वाणी द्वारा ध्वनि-संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है तथा श्रोता श्रोत्र द्वारा उन ध्वनि-संकेतों को ग्रहण करता है। अतः, ध्वनि का उत्पन्न होना तथा सुनाई पड़ना एक भौतिक व्यापार है, जिसमें वायु (श्वास), ध्वनियन्त्र, मुख, तालु, जिह्वा, नासिका तथा श्रोत्र आदि भौतिक शरीरावयवों की आवश्यकता पड़ती है। इनके विना शाब्द-बिम्बों को ध्वनि-संकेतों या शब्दों का तथा ध्वनि-संकेतों या शब्दों को ध्वानिक-बिम्बों का रूप मिलना असम्भव है। इन्हीं से ध्वनि-संकेत (स्वर व्यञ्जन) उत्पन्न होते हैं। अतः, ३-वक्ता का ध्वनन, और ४-शब्द तथा ३-श्रोता का श्रवण, यह भाषा का भौतिक आधार है। इसका सम्बन्ध भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों, शब्दों से है। चित्र में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

४. भाषा के विभिन्न रूप

भाषा का सामान्य अध्ययन करते समय उसके विभिन्न रूप हमारी दृष्टि में आते है। यहाँ भाषा के इन विभिन्न रूपों के साथ उनके मूलभूत आधारों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। ये आधार तथा इन पर आधारित भाषा के विभिन्न रूप इस प्रकार है—

(१) इतिहास—इतिहास के आधार पर भाषा के विभिन्न रूप हो जाते हैं। एक ही भाषा के जीवन के सम्पूर्ण इतिहास को देखने से विदित होता है कि विभिन्न कालों में उसके विभिन्न रूप विद्यमान रहे हैं। उदाहरणार्थ, वैदिक, संस्कृत

---

१. सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥—पाणिनीय शिक्षा, ६ ॥
अर्थात् वह वायु (फेफड़ों से) ऊपर को उठा हुआ, मूर्धा पर टकराया हुआ, मुख-विवर में पहुँचकर वर्णों (ध्वनियों) को उत्पन्न करता है, उन वर्णों के ५ विभाग है।

पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि, ये सब एक ही भारतीय आर्यभाषा के, इतिहास के आधार पर होने वाले, विभिन्न रूप हैं।

(२) भूगोल—भूगोल के आधार पर भी भाषा के रूपों में भेद हो जाता है। इसके भी दो भेद हैं—(क) विशेष-विशेष प्रान्तों के आधार पर हुए भाषा-भेद; जैसे बंगला, मराठी, गुजराती, आदि तथा (ख) क्षेत्रीय विस्तार के आधार पर हुए भाषा-भेद; जैसे भाषा, विभाषा (बोली), उपभाषा (उपबोली या स्थानीय बोली) आदि।

(३) प्रयोग या व्यवहार—भाषा-भेद का तीसरा आधार है—प्रयोग या व्यवहार। जिस वर्ग-विशेष या उद्देश्य-विशेष के लिये भाषा का जो रूप प्रयोग में चल पड़ता है, वह उसी नाम पर प्रचलित हो जाता है। जैसे—जाति-विशेष में प्रयुक्त जातीय भाषा, व्यवसाय-विशेष के लोगों में प्रयुक्त व्यावसायिक भाषा, राजकीय कार्यों के लिये स्वीकृत राजभाषा, राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय भाषा, साहित्य-विशेष में प्रयुक्त साहित्यिक भाषा, शिष्ट-जन-प्रयुक्त शिष्ट भाषा, जनसाधारण प्रयुक्त सामान्य भाषा, गुप्त कार्यों के लिये प्रयुक्त गुप्त भाषा, या राजनीतिक उद्देश्यों के लिये व्यवहृत राजनयिक भाषा, आदि।

(४) साधुता-असाधुता—इस आधार पर भाषा के विभिन्न रूपों में मुख्य हैं—साधु (शुद्ध) भाषा, असाधु (अशुद्ध) भाषा, परिनिष्ठित भाषा तथा टकसाली भाषा आदि।

(५) प्रचलन—प्रचलन में विद्यमान भाषा (क) जीवित भाषा तथा प्रचलन बाह्य भाषा (ख) मृतभाषा कहलाती है।

(६) निर्मिति—जिस भाषा का निर्माण परम्परा के द्वारा अनजाने ही हुआ है और जो सहज ही सीख ली जाती है वह भाषा अकृत्रिम या स्वाभाविक कही जाती है। इसके विपरीत जिस भाषा का निर्माण जानबूझकर किसी उद्देश्य-विशेष के लिए, किसी काल-विशेष में किया जाता है, वह भाषा कृत्रिम भाषा कहलाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य अनेक आधारों पर भाषा के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। भाषा के कुछ प्रमुख रूपों का परिचय यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) मूल भाषा—जिस प्रकार मानव-सृष्टि का मूल (आदि) पुरुष हम मनु को मानते हैं, उसी प्रकार आज विश्व में बोली जाने वाली भाषाओं के मूल में भी कोई एक ही भाषा रही होगी। आज उस सर्वसम्मत किसी एक ही मूल भाषा का तो ज्ञान नहीं हैं, किन्तु भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण के आधार के रूप में ९-१० मूल भाषाओं को मान्यता दी गयी हैं। उदाहरण के रूप में आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की मूल भाषा है—भारोपीय भाषा। मूलभारोपीय भाषा > भारोपीय भाषाएँ > हिन्द-ईरानी भाषाएँ > वैदिक > संस्कृत > पालि > प्राकृत > अपभ्रंश > आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मूलभारोपीय भाषा से ही हमारी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ है। आज तक जितने भी भाषा-परिवार प्रकाश में आये हैं, उन सबकी आदिभाषा मूलभाषा कहलाती है। बिना किसी मूलभाषा के किसी भी भाषा-परिवार का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

(२) भाषा—सामान्यतया हम जानते हैं कि अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, चीनी, हिन्दी आदि भाषाएँ हैं। इसी प्रकार की अन्य भी सहस्रों भाषाएँ विश्व में हैं। वस्तुतः, इन्हें सापेक्षिक दृष्टि से ही 'भाषा' कहा जाता है। कुछ औसत जनसंख्या, कुछ औसत भू-भाग, बोलने वालों का कुछ औसत श्रेणी का महत्त्व, साहित्य की श्रेष्ठता, राजनीतिक उच्चता आदि के कारण ही उपर्युक्त भाषाएँ 'भाषा' कहलाती हैं। विश्व में जब किसी जन-समूह का महत्त्व, किसी भी कारण से बढ़ जाता है, तो उसकी बोलचाल की भाषा, 'भाषा' कही जाने लगती है, अन्यथा वह 'बोली' ही बनी रहती है। कोई ऐसी निश्चित विभाजक रेखा इनके मध्य में नहीं हैं। प्रत्येक 'भाषा' पहले 'बोली' ही रही होती है। हाँ, सापेक्षता का सिद्धान्त यहाँ सदैव कार्य करता है। यहाँ भाषा के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक परिचय ही दिया जा रहा है। 'भाषा' की परिभाषा आदि का विशेष उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

(३) बोली, विभाषा, उपभाषा या प्रान्तीय भाषा—अंग्रेजी में इसके लिये Dialect शब्द प्रचलित है। 'भाषा' की अपेक्षा 'बोली' का क्षेत्र उसके बोलने वालों की संख्या, उसका महत्त्व कम होता है। इसे 'बोली' भी सापेक्षिक दृष्टि से ही कहा जाता है। एक भाषा की कई बोलियाँ होती हैं। कारण, 'भाषा' का क्षेत्र विस्तृत होता है, और इस क्षेत्र-विस्तार के कारण विभिन्न उपक्षेत्रों में—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा मध्य उपक्षेत्रों में—एक ही भाषा के बोलचाल के अनेक रूप हो जाते हैं। क्योंकि, पूर्व उपक्षेत्र के व्यक्ति, पश्चिम उपक्षेत्र वालों से अधिक सम्पर्क नहीं कर पाते हैं तथा उत्तर क्षेत्र वाले भी दक्षिण क्षेत्र वालों से अधिक नहीं मिल पाते हैं। इस प्रकार उन-उन की भाषाओं में उपक्षेत्रीय विशेषताएँ बनी रहती हैं, जिससे वे एक ही भाषा की बोलियाँ होने पर भी परस्पर भिन्न-भिन्न होती हैं। परस्पर भिन्न-भिन्न होते हुये भी वे एक ही 'भाषा' के अधीन रहती हैं और उसकी सेवा उसी प्रकार करती हैं, जैसे कि विभिन्न प्रकृतिवाली सेविकाएँ एक ही रानी की सेवा करती हैं। बोली को ही विभाषा, उपभाषा या प्रान्तीय भाषा भी कहा जाता है। यहाँ 'प्रान्तीय' शब्द कुछ संकुचित अर्थ में ही प्रयुक्त है, क्योंकि दूसरे अर्थ में बङ्गला, मराठी आदि ही प्रान्तीय भाषाएँ हैं। कुछ लोग प्रान्तीय भाषा को विभाषा कहना अधिक पसन्द करते हैं तथा उसका क्षेत्र बोली की अपेक्षा कुछ विस्तृत मानते हैं।

यहाँ भाषा तथा बोली के विषय में कुछ विस्तार से विचार करना उपयोगी होगा, जिससे तुलनात्मक रूप से दोनों का ज्ञान स्पष्ट रूप से हो सके। बोली तथा भाषा के विषय में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(क) परस्पर सम्बन्धित बोलियाँ किसी एक ही भाषा का अङ्ग होती हैं। अर्थात् भाषा अङ्गी है और बोलियाँ उसके अङ्ग हैं।

(ख) भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत होता है, किन्तु बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित। उदाहरण के लिये 'हिन्दी' एक भाषा है तथा हिन्दी-भाषी क्षेत्र के विभिन्न उपक्षेत्रों में बोली जाने वाली ब्रज, अवधी, बाँगरू, खड़ी बोली आदि हिन्दी की ही बोलियाँ हैं।

(ग) किसी भाषा की एक बोली, दूसरी बोली से भिन्नता रखते हुए इतनी अधिक भिन्न नहीं होती है कि दूसरी बोली वाले उसे समझ ही न सकें।

(घ) प्रायः, साहित्य-रचना में भाषा का प्रयोग होता है, जबकि बोलचाल में बोली का। एक ही भाषा के विभिन्न बोली वाले व्यक्ति, साहित्य की रचना एक ही भाषा में करते हैं।

(ङ) बोलियों में से ही कोई एक बोली महत्त्व-विशेष से 'भाषा' बन जाती है तथा कालान्तर में 'भाषा' के ही विभिन्न क्षेत्रीय रूप बोलियाँ कहलाने लगते हैं।

इस प्रकार "बोली", किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं, जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किन्तु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों को बोलने वाले उसे समझ न सकें। साथ ही, जिसके अपने क्षेत्र में बोलने वालों के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरों आदि में कोई बहुत स्पष्ट भेदक और महत्त्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती है।"[1]

डॉ० पी० डी० गुणे ने 'बोली' की परिभाषा इस प्रकार की है :—

"Dialect is constituted by the speech of all those persons, in whose utterances, variations are not sensibly perceived or attended to."—An Introduction to Comparative Poilology.

अर्थात् बोली उन सभी लोगों की बोल-चाल की भाषा का वह मिश्रित रूप है, जिनकी भाषा में पारस्परिक भेद को अनुभव नहीं किया जाता है।

किसी 'बोली' का 'भाषा' बनने का कारण—

किसी 'बोली' का 'भाषा' बनने का सर्वप्रमुख कारण है—उस बोली द्वारा महत्त्व प्राप्त कर लेना। यह महत्त्व कई कारणों से प्राप्त हो सकता है, जिनमें निम्नलिखित कारण प्रमुख हैं :—

(१) किसी भाषा की कई बोलियों में से जब एक ही 'बोली' जीवित रह जाती है तथा शेष, किन्हीं कारणों से, अस्तित्व में नहीं रहतीं, तो उस 'बोली' को ही 'भाषा' का पद प्राप्त हो जाता है।

(२) जब अनेक बोलियों में से कोई एक बोली, इतने भिन्न स्वरूप वाली हो जाती है कि शेष बोलियों को बोलने वाले उसे नहीं समझ पाते हैं।

१. दे० भाषाविज्ञान-कोश, डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० ४५९—६०।

(३) किसी 'बोली' में श्रेष्ठ साहित्य की रचना के कारण भी उसे 'भाषा' का पद दे दिया जाता है।

(४) धार्मिक श्रेष्ठता के कारण भी कोई बोली भाषा बन जाती है, और उसमें धर्म-विशेष का साहित्य रचा जाने लगता है—जैसे, अवधी-भाषा में राम-साहित्य तथा ब्रजभाषा में कृष्ण-साहित्य।

(५) राजनीति के कारण भी 'बोली' भाषा का पद प्राप्त कर लेती है। यदि किसी बोली का क्षेत्र राजनीतिक केन्द्र बन जाता है, तो सब लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। दिल्ली-मेरठ की खड़ी बोली ने आज इसी आधार पर 'भाषा' का पद प्राप्त किया हुआ है। हिन्दी की सभी बोलियों के भाषी आजकल साहित्यिक रचनायें उसी में करते हैं।

(४) **उपबोली**—'बोली' की अपेक्षा और भी सीमित क्षेत्र में व्यवहृत होने वाली बोल-चाल की भाषा 'उपबोली' कहलाती है। जिस प्रकार एक 'भाषा' में कई बोलियाँ होती हैं, उसी प्रकार एक 'बोली' में भी कई 'उपबोलियाँ' होती हैं। यद्यपि अंग्रेजी में 'उपबोली' के लिए 'पैटवा' (Patois) शब्द का व्यवहार आजकल प्रचलित है, किन्तु, 'उपबोली' के लिए अंग्रजी में 'सब-डाइलेक्ट' (Sub dialect) शब्द का व्यवहार अधिक उपयुक्त है। संक्षेप में, 'भाषा' और 'बोली' में जो अन्तर तथा समानता है वही अन्तर-समानता 'बोली' तथा उसकी उपबोली में भी होती है। कुछ लोग इसे केवल 'बोली' ही कहना पसन्द करते हैं। ऐसे लोग बोली को 'विभाषा' कहते हैं।

(५) **परिनिष्ठित भाषा**—इसी को आदर्श भाषा, टकमाली भाषा भी कहा जाता है। यह एक ऐसा विशिष्ट स्तर प्राप्त (Standard) भाषा होती है कि जिसका एक क्षेत्र-विशेष के, चाहे वे पृथक्-पृथक् बोली क्षेत्रों के हों, सभी शिक्षित, सभ्य व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा, साहित्य-रचना, पत्र व्यवहार आदि में प्रयोग करते हैं। यह अपने आस-पास की सभी बोलियों को अत्यधिक प्रभावित करती है और कभी-कभी उनपर छा भी जाती है। इसके सम्मुख बोलियाँ महत्त्वहीन-सी हो जाती हैं। व्याकरण की रचना भाषा के 'परिनिष्ठित' या 'आदर्श' रूप को ही दृष्टि में रखकर की जाती है। परिणाम-स्वरूप अपने लिखित रूप में यह, विकास की दृष्टि से, बोलियों से पिछड़ जाती है। हाँ, इसका मौखिक रूप धीरे-धीरे विकसित होता रहता है।

(६) **राष्ट्रभाषा**—'आदर्श' या 'परिनिष्ठित' भाषा का जो महत्त्वपूर्ण स्थान अपने क्षेत्र की बोलियों में होता है, वही स्थान 'राष्ट्र-भाषा' का सम्पूर्ण राष्ट्र की बोलियों और भाषाओं में होता है। उपक्षेत्रों और क्षेत्रों तथा प्रान्तों में अपनी-अपनी बोलियों तथा भाषाओं का प्रयोग करते रहने पर भी राष्ट्र की एकता को ध्यान में रखते हुए, सभी राष्ट्रवासी जिस भाषा का प्रयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए करते हैं, उसे 'राष्ट्रभाषा' कहा जाता है। राष्ट्रीय पर्वों-उत्सवों तथा राष्ट्रीय महत्त्व के अवसरों पर इसी भाषा का प्रयोग होता है। इसे राष्ट्रीय ध्वज से सम्बन्धित करके हम इसके महत्त्व को सहज ही समझ सकते हैं।

(७) राजभाषा—राजकीय कार्यालयों, राजाज्ञाओं आदि में प्रयुक्त भाषा ही राजभाषा कहलाती है। प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा ही प्रायः उसकी राजभाषा होती है; क्योंकि उसी के माध्यम से वहाँ का राजकार्य चलता है। राजकीय कार्यालयों, लेखों और पत्र व्यवहार में उसी का प्रयोग होता है। राजाज्ञाएँ उसी में प्रसारित होती हैं। किन्तु, परतन्त्रता-काल में राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा हिन्दी ही है, किन्तु मुगलों के शासनकाल में राष्ट्रभाषा हिन्दी होते हुए भी राजभाषा फारसी थी। इसी प्रकार अंग्रेजों के शासनकाल में भी हमारी राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही थी, किन्तु राजभाषा अंग्रेजी थी।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय भाषा—इसी प्रकार शासन या अन्य किसी प्रभाव से जब किसी भाषा का प्रयोग एक से अधिक राष्ट्रों में होने लगता है, तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का पद प्राप्त हो जाता है; उदाहरणार्थ, आजकल अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। यद्यपि अंग्रेजी को वह पद शासन के बल पर ही प्राप्त हुआ था, किन्तु आजकल ज्ञान-विज्ञान का माध्यम होने के कारण ही वह अपने इस पद को बनाये हुए हैं।

(९) कृत्रिम भाषा—वैसे तो किसी भी मनुष्य-समूह द्वारा अपने निजी या सीमित व्यवहार के लिए कुछ विशेष नियमों के आधार पर बनायी गयी, कोई भी भाषा 'कृत्रिम-भाषा' कहला सकती है—जैसे, गुप्त वार्ता के लिए कुछ लोग आपसी भाषा बना लेते हैं; किन्तु यहाँ एक उच्च आदर्श को दृष्टि में रखकर डॉ० जमेनहॉफ (Dr. Zamenhof) द्वारा निर्मित 'एसपिरैण्टो' या 'एसपिरैन्तो' नाम की 'कृत्रिम-भाषा' की चर्चा आवश्यक है। इसका निर्माण 'विश्व-भाषा' के रूप में किया गया था, जिसमें सभी देशों के वासी सरलतापूर्वक व्यवहार कर सकें और जिससे विश्वबन्धुत्व की स्थापना हो सके। सन् १८८० ई० के लगभग इसका पर्याप्त प्रचलन हुआ। विश्व के ३२ देशों में इसका विधिवत् पठन-पाठन होने लगा था। लीवरपुल, जेनेवा और क्रेकाऊ (Cracow) विश्वविद्यालयों में 'एसपिरैण्टो' भाषा के लिए प्रोफेसरों के पद बना दिये गये थे। रूस जैसे बड़े देश ने इसको सरकारी तौर पर स्वीकृति एवं संरक्षण प्रदान कर दिया था। किन्तु, बाद में इसका प्रचार एव व्यवहार कम हो गया। आज तो यह केवल कृत्रिम-भाषा का उदाहरणमात्र ही रह गयी है।

(१०) साहित्यिक भाषा—जिस भाषा में प्रचुर साहित्य की रचना होती है, वह साहित्यक-भाषा कही जाती है। जब कोई बोली किसी कारण प्रधानता प्राप्त कर लेती है, तो वह शिक्षितों की तथा साहित्य की भाषा बन जाती है। साहित्यिक-भाषा स्थानीय प्रभावों से अछूती रहती है। विभिन्न क्षेत्रों या प्रान्तों के शिक्षित लोगों के पारस्परिक व्यवहार में भी प्रायः इसी का प्रयोग होता है। अपने साहित्य के कारण साहित्यिक-भाषा बहुत समय तक अपनी स्थिरता तथा अस्तित्व को बनाये रखती है। यह व्याकरण द्वारा नियमित होती है। प्राचीन संस्कृत तथा आधुनिक हिन्दी आदि भाषाएँ इसका उदाहरण हैं।

भाषा के अन्य रूपों की अपेक्षा सर्वसाधारण की भाषा या बोली तथा साहित्यिक भाषा में बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन दोनों की विशेष चर्चा अपेक्षित है। अतः, आगे इन दोनों के पारस्परिक भेद को विशेष रूप से स्पष्ट किया जा रहा है।

५. सर्वसाधारण की भाषा तथा साहित्यिक भाषा में अन्तर

सर्वसाधारण की भाषा ही, जिसे बोलचाल की भाषा भी कहते हैं, परिस्थिति-वश महत्त्व प्राप्त कर लेने से साहित्यिक भाषा का रूप ले लेती है। इस महत्त्व-प्राप्ति का कारण या तो राजनीतिक होता है या धार्मिक। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्यिक भाषा या तो किसी धर्म की भाषा होती है या किसी राज्य की शिक्षित तथा सभ्य लोगों की भाषा होने के कारण धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा सर्वसाधारण की भाषा से पृथक हो जाती है। उसका रूप कुछ आदर्श भाषा-जैसा हो जाता है। वह स्थानीय विशेषताओं से रहित तथा प्रान्तीय प्रभावों से परे हो जाती है। सक्षेप में, शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन, पत्र लेखन तथा पत्र-पत्रिकाओं की भाषा होने से उसका स्तर सर्वसाधारण की भाषा से कुछ ऊँचा हो जाता है।

सर्वसाधारण की भाषा तथा साहित्यिक भाषा में मुख्य रूप से निम्नलिखित अन्तर रहता है—

(१) सर्वसाधारण की भाषा अकृत्रिम होती है, किन्तु साहित्यिक भाषा कृत्रिम होती है। यहाँ कृत्रिमता से अभिप्राय है कलात्मकता का होना या स्वाभाविकता का न होना। इस दृष्टि से सर्वसाधारण की भाषा की तुलना एक निरन्तर प्रवाहशील नदी से तथा साहित्यिक भाषा की तुलना एक कृत्रिम, बनावटी, कलात्मक झील से की जाती है। जिस प्रकार नदी में अपना प्राकृतिक सौन्दर्य होता है, वह अपने प्राकृतिक मार्ग पर सदैव आगे बढ़ती रहती है, उसमें स्वच्छ जल प्रवाहित होता रहता है, इन सबके कारण उसमें एक सजीवता बनी रहती है, उसी प्रकार सर्वसाधारण की भाषा भी स्वाभाविक रूप से विकसित होती रहती है, उसमें सदैव सजीवता बनी रहती है। इसके विपरीत, जैसे झील का सौन्दर्य,-कलात्मक होने से अधिक भले ही हो, किन्तु फिर भी उसमें एक प्रकार की कृत्रिमता रहती है तथा उसका पानी रुका हुआ होने के कारण निर्जीव-सा प्रतीत होता है, उसमें ताजगी तथा सजीवता का अभाव रहता है, उसी प्रकार साहित्यिक भाषा भी नियमों के बाँधों से बँधी, अलङ्कारों की छटा से अलंकृत तथा व्याकरण के नियमों से परिष्कृत होती है। उसमें सौन्दर्य तो होता है, किन्तु कृत्रिम। इसी कारण कुछ समय पश्चात् साहित्यिक भाषा जीवनहीन सी प्रतीत होने लगती है, जबकि सर्वसाधारण की भाषा में सदैव जीवन बना रहता है।

(२) सर्वसाधारण की भाषा गतिशील होती है, किन्तु साहित्यिक भाषा अपेक्षाकृत स्थिर रहती है। सर्वसाधारण की भाषा का स्वरूप सदैव मौखिक ही होने के कारण वह अनजाने ही हर क्षण बदलती रहती है। भाषावैज्ञानिक इसे ही भाषा का

विकास मानते हैं। साहित्यिक भाषा व्याकरण के नियमों से जकड़ी होने के कारण तथा लिखित रूप में परिवर्तन का कम अवकाश होने के कारण चिरकाल तक स्थिर बनी रहती है। उपर्युक्त नदी तथा झील के उदाहरण से भी यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है।

६. भाषाविज्ञान की दृष्टि से सर्वसाधारण की भाषा अर्थात् बोली का महत्त्व

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, साहित्यिक भाषा की अपेक्षा सर्व-साधारण की भाषा या बोलचाल की भाषा या बोली अधिक परिवर्तनशील होती है। यह परिवर्तन ही भाषा की सजीवता है। इसी को भाषावैज्ञानिक भाषा का विकास मानते हैं। भाषा की ध्वनियों, रूपों, अर्थों एवं वाक्य-विन्यास में परिवर्तन इसी विकास का परिणाम है। भाषाविज्ञान में भाषा के परिवर्तित स्वरूप तथा परिवर्तन के कारणों का अध्ययन ही विशेष महत्त्व रखता है। साहित्यिक भाषा के स्थिरतायुक्त होने के कारण उसमें इस प्रकार के अध्ययन के लिए उपयुक्त सामग्री का अभाव रहता है। सर्वसाधारण की भाषा की अपेक्षा भी भाषावैज्ञानिक के लिए असभ्य तथा अशिक्षित जंगली जातियों की भाषाओं का महत्त्व इसीलिए और भी अधिक होता है, क्योंकि उनमें अकृत्रिमता या स्वाभाविकता का गुण और भी अधिक होता है। संक्षेप में, भाषावैज्ञानिक के लिए भाषा के लिखित स्वरूप की अपेक्षा उनका बोल-चाल वाला मौखिक स्वरूप अधिक उपयोगी होता है, जो कि जन-साधारण या अशिक्षित लोगों की भाषा में ही सरलता से उपलब्ध होता है।

हाँ, जिन भाषाओं का बोल-चाल का स्वरूप सुरक्षित नहीं है, जैसे प्राचीन भाषाएँ—वैदिक, संस्कृत, प्राकृत आदि, उनके अध्ययन के लिए भाषावैज्ञानिकों को साहित्यिक भाषाओं का ही आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि उनके बोलचाल वाले भाषा के स्वरूप की कल्पना तत्कालीन साहित्य के आधार पर ही की जा सकती है।

भाषा की उत्पत्ति एवं विकास

(Origin and Development of Language)

भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का सम्बन्ध मनुष्य की वोल पाने की शक्ति से न होकर यह है कि मनुष्य ने अपने द्वारा उच्चारित ध्वनियों का सम्बन्ध विभन्न वस्तुओं से, सर्वप्रथम कब स्थापित किया ? अर्थात् 'इन ध्वनियों का संकेत इस पदार्थ में होगा या इस शब्द का यह अर्थ होगा।"—मानव ने यह निश्चय इतिहास के किस काल में किया ? क्योंकि मनुष्य द्वारा भाषा की उत्पत्ति उसी रूप में सम्भावित है, अन्यथा अन्य पशु-पक्षियों की भाँति केवल ध्वनि उत्पन्न करने की शक्ति तो उसमें भी जन्म से ही रही होगी।

वास्तव में देखा जाय तो 'भाषा की उत्पत्ति' का विचार ही भाषाविज्ञान के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता है। कारण, किसी भी विज्ञान की भाँति भाषाविज्ञान का कार्य भी प्रस्तुत सामग्री का विवेचन-विश्लेषण ही होता है, उसका कार्य केवल प्रस्तुत या प्रत्यक्ष विषय-वस्तु पर विचार करना ही है, जबकि भाषा की उत्पत्ति-सम्बन्धी जितने भी विचार आज तक व्यक्त किये गये हैं, वे सब के सब अनुमान पर ही आधारित हैं। अनुमान पर आधारित विचार सीधे दर्शन से ही सम्बन्ध रखते हैं, किसी विज्ञान से नहीं। अतः, भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न भी सीधे दर्शन, मानव-विज्ञान या समाजविज्ञान से जुड़ा हुआ है, भाषाविज्ञान से नहीं।

यही कारण है कि आज से लगभग ११४ वर्ष पूर्व, सन् १८६६ ई० में ही पेरिस (फ्रांस) में स्थापित "भाषाविज्ञान समिति"[1] ने अपने विधान में यह स्पष्ट व्यवस्था कर दी थी, कि इस समिति के तत्त्वाधान में भाषा की उत्पत्ति पर विचार नहीं किया जा सकता।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'भाषा की उत्पत्ति' पर विचार करना आजकल भाषा-विज्ञान का विषय नहीं माना जाता, तथापि इस सम्बन्ध में मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासावृत्तिवश जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण उन्हें यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

भाषा की उत्पत्ति पर विचार के दो मार्ग

भाषा की उत्पत्ति पर विचार के लिए विद्वानों ने दो मार्गों का आश्रय लिया है—(१) प्रत्यक्ष मार्ग (Deductive Method) तथा (२) परोक्ष मार्ग (Inductive

---

१. "ला सोसियेते द लैंगिस्तीक"

२. ऑटो जेस्पर्सन, लैंग्वेज : इट्स नेचर, डवलपमेण्ट एण्ड ओरिजन, पृ० ९६.

Method)। प्रत्यक्ष मार्ग में भाषा की आदिम अवस्था की ओर से चलकर उसकी आजतक विकसित दशा का विचार किया जाता है तथा परोक्ष मार्ग में, इसके विपरीत भाषा की आज की विकसित अवस्था से पीछे की ओर चलते हुए भाषा की आदिम अवस्था का विचार किया जाता है।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परोक्ष मार्ग की व्यर्थता

आजकल विकास की तीव्र गति को देखते हुए भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परोक्ष मार्ग की चर्चा करना व्यर्थ-सा ही प्रतीत होता है। कारण, परोक्ष मार्ग में बच्चों की भाषा, आदिम जातियों की भाषा या आधुनिक भाषाओं का इतिहास आदि, जिसको भी विचार-सामग्री के रूप में अपनाया जाता है, उससे भाषा की उत्पत्ति का अनुमान करना आज व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता है। कारण, आज के बच्चे भाषा को जिस तीव्र गति से सीखते हैं, या आज की तथाकथित आदिम जातियों की भाषाएँ विकास की जितनी सीढ़ियाँ पार कर चुकी हैं या आज की भाषाओं का इतिहास जिस तीव्र गति से विकसित हो रहा है, उनकी वही अवस्था भाषा की आदि-उत्पत्ति के समय नहीं रही होगी। अतः जिन विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के समाधान के लिए 'परोक्ष मार्ग' की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है, वह केवल परम्परा का निर्वाह मात्र ही है।

प्रत्यक्ष मार्ग के अनुसार भाषा की उत्पत्ति एवं विकास

प्रत्यक्ष मार्ग में भाषा की उत्पत्ति तथा विकास से सम्बन्धित निम्नलिखित सिद्धान्तों का उल्लेख प्रमुख रूप से किया जाता है :—

(१) दैवी सिद्धान्त (Divine-theory)--इसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है। अर्थात् ईश्वर ने जब मनुष्य की सृष्टि की थी तभी उसे पूर्णतया विकसित भाषा भी उसने प्रदान कर दी थी। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक धर्म वालों के द्वारा अपनी भाषा को ही 'आदिम भाषा' स्वीकार किया जाता है। अर्थात् वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार वैदिक या संस्कृत को, बौद्धों के अनुसार पालि को, जैनियों के अनुसार अर्धमागधी को, सिक्खों के अनुसार पंजाबी को, ईसाइयों के अनुसार हिब्रू या ईब्रानी को तथा मुसलमानों के अनुसार अरबी को ही, जो उन-उन के धार्मिक ग्रन्थों की भाषा है, आदिम भाषा माना जाता है तथा उसी से विश्व की अन्य भाषाओं का विकास स्वीकार किया जाता है।

उपर्युक्त भावना से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रायः सभी धर्मों के धार्मिक ग्रन्थों में पाया जाता है; उदाहरणार्थ, वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार 'ऋग्वेद' में कहा गया है, कि—

"दैवीं वाचमजनयन्त देवाः तां विश्वरूपा. पशवो वदन्ति।"—ऋ० ८/१००/११

अर्थात् देवों ने वाणी (वाक्=भाषा) को उत्पन्न किया तथा सब प्राणी उस (ही) को बोलते हैं।

इसी प्रकार महावैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधारभूत १४ प्रत्याहार सूत्रों को भी माहेश्वर-सूत्र अर्थात् शिवजी द्वारा उत्पन्न किया गया माना जाता है।

अतः, वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार संस्कृत, जिसे देववाणी या अमरवाणी भी कहा जाता है, ही वह आदिम भाषा सिद्ध होती है, जिसे ईश्वर ने सर्वप्रथम उत्पन्न किया था तथा जिससे विश्व की अन्य भाषाएँ विकसित हुई हैं।

प्रायः, इसी प्रकार के वाक्य सभी धर्मावलम्बी अपनी भाषा को दैवी सिद्ध करने के लिए, अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों से उद्धृत करते हैं।

समीक्षा—भाषा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त कोरी श्रद्धा पर आधारित तथा मात्र श्रद्धालुओं क लिये ही सन्तोषावह है। विज्ञान तथा तर्क से सम्मत न होने के कारण आज यह नितान्त अमान्य है। इसके खण्डन के लिए निम्न तर्क प्रायः दिये जाते हैं :—

(१) प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् 'हर्डर' के अनुसार यदि भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा होती, तो उसमें कहीं अधिक पूर्णता, व्यवस्था, तथा बुद्धिसंगतता होती। उस दशा ने भाषा असंगतियों, अनियमितताओं तथा अपवादों से पूर्णतया रहित होती।

(२) अन्य पशुओं की भाँति ही संसार के सभी मनुष्य भी एक-सी ही भाषा बोलते। अतः, समाज-भेद, जाति-भेद से मनुष्यों की भाषा में भेद नहीं होता।

(३) प्रत्येक मानव-शिशु जन्म से ही भाषा को प्राप्त कर लेता, उसे समाज से भाषा को सीखना न पड़ता।

(४) यदि भाषा ईश्वर द्वारा उत्पन्न होती तो उसमें परिवर्तन, संशोधन की कोई आवश्यकता न पड़ती; किन्तु भाषा का रूप, जैसा कि हम देखते हैं, सदैव बदलता रहता है। आवश्यकतानुसार उसमें नये-नये शब्द प्रवेश करते रहते हैं और अनावश्यक शब्द, व्यवहार से बाहर हो जाते हैं।

निष्कर्ष—इस प्रकार सिद्ध होता है कि भाषा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे भाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई समाधान नहीं मिलता है। हाँ, मनुष्यमात्र में भाषणशक्ति की उत्पत्ति को निश्चय ही दैवी स्वीकार किया जाना चाहिये।

(२) संकेत-सिद्धान्त (Symbolic-Theory)—इसे 'निर्णय-सिद्धान्त' भी कहा जाता है। इसके सर्वप्रथम प्रतिपादक फ्राँसीसी विचारक 'रूसो' (Rousseau) हैं। संकेत-सिद्धान्त के अनुसार आदिम मानव अपने मनोभावों को आंगिक संकेतों के द्वारा व्यक्त किया करता था, किन्तु बाद में कठिनाई उपस्थित होने पर सामाजिक समझौते के आधार पर उसने विभिन्न भावों, विचारों तथा पदार्थों के लिये विभिन्न ध्वन्यात्मक संकेत निश्चित कर लिये। यह कार्य सभी मनुष्यों ने किसी स्थान पर एकत्र होकर पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा किया और इस प्रकार सामाजिक पृष्ठभूमि में सांकेतिक संस्थान द्वारा भाषा की उत्पत्ति हुई।[1]

---

१. 'भामह' ने इस सिद्धान्त का उल्लेख अपने 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ में इस प्रकार किया है :—

इस संकेत-सिद्धान्त के ही आधार पर आगे चलकर 'रिचर्ड', 'रॉव' तथा 'जोहान्सन' आदि विद्वानों ने इङ्गित-सिद्धान्त (Gestural Theory) का प्रतिपादन किया, जो संकेत-सिद्धान्त की अपेक्षा कुछ अधिक परिष्कृत होते हुए भी लगभग इसी मान्यता को प्रकट करता है[1]।

समीक्षा—संकेत सिद्धान्त के खण्डन के लिए निम्नलिखित तर्क बहुत सशक्त हैं :—

(१) यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि इससे पूर्व मानव को भाषा की प्राप्ति नहीं हुई थी। यदि ऐसा है, तो अन्य भाषाहीन प्राणियों की ही भाँति मनुष्य को भी भाषा की आवश्यकता अनुभव नहीं होनी चाहिये थी।

(२) यदि भाषा का अभाव था, तो फिर मनुष्यों को कैसे एकत्रित किया गया तथा भाषा के अभाव में विचार-विमर्श कैसे सम्भव हुआ ?

(३) विभिन्न पदार्थों के संकेत (वाचक शब्द) कहाँ से प्राप्त हुए तथा उनके विषय में निर्णय कैसे हुआ ?

(४) जिन वस्तुओं के संकेत निश्चित किये गये, उन्हें एक स्थान पर कैसे एकत्रित किया गया।

(५) संक्षेप में, यदि भाषा के अभाव में इतना वड़ा तथा महत्त्वपूर्ण विचारशील कार्य हो सकता है, तो फिर भाषा की आवश्यकता ही किस लिए पड़ी ?

निष्कर्ष—संकेत-सिद्धान्त भी भाषा की उत्पत्ति के समाधान के लिए उपयुक्त नहीं माना गया। कारण, एक तो यह नितान्त काल्पनिक है, दूसरे इसमें भी भाषा की उत्पत्ति कृत्रिम उपायों द्वारा ही स्वीकार की गयी है।

(३) धातु-सिद्धान्त या अनुरणन-सिद्धान्त (Root-theory or Ding-dong theory)—इसके मूल प्रवर्त्तक महान् विचारक 'प्लेटो' थे। बाद में, जर्मन विद्वान् 'हैज' (Heyes), तथा उनके भी बाद 'मैक्समूलर' ने इसे व्यवस्थित रूप दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिभा की देन है। अनुभव से हम यह जानते हैं कि चोट करने पर लोहा, लकड़ी, पत्थर आदि पदार्थों से भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं। प्रारम्भिक मानव में भी ऐसी सहज शक्ति थी कि जब वह किसी वाह्य वस्तु के सम्पर्क में आता था, तो उससे उत्पन्न ध्वनियों (अनुरणन) की छाप उस पर पड़ती थी। उन ध्वनियों का अनुकरण करते हुए उसने कुछ सो (४०० या ५००) मूल-धातुओं (मूल शब्दों) का निर्माण कर लिया। जब कुछ काम चलाऊ धातु वन गये और इस प्रकार मनुष्य को भाषा प्राप्त हो गयी, तो

इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः ॥६/१३॥

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में (प्राक्) ही लोक-व्यवहार के लिये यह निर्णय कर लिया गया था कि इतने वर्ण, इस क्रम से (शब्दरूप में) इस प्रकार के अर्थों को कहने वाले हैं।

उसकी वह नये-नये धातु बनाने वाली सहज शक्ति नष्ट हो गयी। तत्पश्चात् वह उन्हीं मूल धातुओं से नये-नये शब्द बनाकर काम चलाने लगा।

समीक्षा—इस सिद्धान्त की निस्सारता का स्पष्ट प्रमाण यही है कि बाद में स्वयं 'मैक्समूलर' ने ही इसका परित्याग कर दिया था। इसके खण्डन में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं –

(१) इस सिद्धान्त के अनुसार आदिम मानव में नये-नये धातु बनाने वाली जिस सहज शक्ति की कल्पना की गयी है, उसमें कोई प्रमाण नहीं हैं। यदि ऐसी कोई शक्ति थी, तो बाद में वह नष्ट क्यों हो गयी?

(२) यह सिद्धान्त शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध मानकर चलता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नही है।

(३) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी भाषायें धातुओं से बनी हैं; किन्तु चीनी आदि कुछ भाषाओं के विषय में यह बात सत्य नहीं है।

(४) आज भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन से यह सिद्ध हो चुका है कि धातु या प्रातिपदिक या मूल शब्दों की कल्पना, भाषाओं के बाद में होने वाले व्याकरण सम्बन्धी विवेचन का परिणाम है।

(५) यह सिद्धान्त भाषा को पूर्ण मानता है, जबकि, वस्तुतः, भाषा अपूर्ण है।

(६) आधुनिक मानवता के अनुसार भाषा का आरम्भ धातुओं से बने शब्दों से नहीं, अपितु पूर्ण विचार वाले वाक्यों से ही हुआ है।

निष्कर्ष – इस प्रकार इस सिद्धान्त के द्वारा भी भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का कोई समाधान नहीं हो सका। पहले सिद्धान्तों की भाँति ही यह भी नितान्त अवैज्ञानिक है।

(४) अनुकरण सिद्धान्त (Bow-Wow-Theory)—'ह्विटनी', 'पॉज', 'हर्डर' आदि विद्वान् इस सिद्धान्त को मानने वालों में प्रमुख हैं। 'मैक्समूलर' ने इस सिद्धान्त का उपहास करने के लिये ही इसे 'वाऊ-वाऊ-सिद्धान्त' कहा था, जो कि कुत्ते की बोली का सूचक है। वैसे अंग्रेजी में इसके लिये 'ऑनोमॉटोपोयिक (Onomotopoeic) या 'ईकोइक (Echoic)' शब्द प्रचलित है। हिन्दी में इसे 'अनुकरणमूलकतावाद' भी कहा जाता है। जिस प्रकार अनुरणन सिद्धान्त में यह माना जाता है कि मनुष्य ने जड़ पदार्थों से उत्पन्न ध्वनियों का अनुकरण किया, उसी प्रकार अनुकरण सिद्धान्त में यह माना जाता है कि मनुष्य नें जड़-चेतन सभी पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण करते हुए पहले कुछ शब्द बना लिये और फिर उन्हीं शब्दों से अन्य शब्द बनाते हुए भाषा का विकास कर लिया। मनुष्य ने जिस पदार्थ अथवा प्राणी की जैसी ध्वनि सुनी, उसी का अनुकरण करते हुए उसने उसी ध्वनि के आधार पर उस-उस वस्तु या प्राणी का नामकरण कर दिया। उदाहरण के लिये, भाषा में 'काक', 'कोकिल', 'भौं-भौं', 'म्याऊँ' 'कुक्कुट', 'दर्दुर', 'निर्झर', 'मर्मर', 'तड़तड़', 'भर्भर', 'मिमियाना', 'गरजना', 'दहाड़ना', टपकना 'चहकना', 'चहचहाना' तथा 'हिनहिनाना' आदि अनेक शब्द इसी प्रकार के हैं।

समीक्षा—इसका खण्डन विद्वानों ने इस प्रकार किया है :—

(१) प्रसिद्ध विद्वान् 'रेनन' ने इस सिद्धान्त का खण्डन इसलिये किया है, क्यों कि इस सिद्धान्त के अनुसार ध्वनियों का उत्पादन करने में मनुष्य पशु-पक्षियों से भी निकृष्ट सिद्ध होता है।

(२) प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द अनुकरणमूलक होते हुए भी, उनकी संख्या इतनी कम है कि उसने किसी भाषा का निर्माण होना असम्भव ही है। उत्तरी अमरीका की एक भाषा 'अथवस्कन' में तो एक शब्द भी अनुकरणमूलक नहीं है।

(३) अनुकरणमूलक शब्द सभी भाषाओं में समान रूप वाले नहीं हैं, जब कि ध्वनि के अनुकरण पर बनने के कारण इन्हें समान ही होना चाहिये था। कुछ विद्वानों ने इसका कारण, विभिन्न भाषाओं में ध्वनियों की विभिन्नता बतलाया है, जो स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि ये ध्वनियाँ भी तो इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण का ही परिणाम है। हाँ, अनुकरण की अपूर्णता को इसमें कुछ अंशों में कारण माना जा सकता है।

(४) अनुकरण पर बने शब्द किसी भाषा का केवल अलङ्कार बन सकते हैं, आधार नहीं।

निष्कर्ष—'ऑटो जेम्पर्सन' ने इस सिद्धान्त को मान्यता देते हुए कहा है कि अनुकरणमूलक शब्दों से भाषा में अनेक शब्दों का विकास हुआ है, और हो सकता है। किन्तु, सब मिलाकर भी इस सिद्धान्त से भाषा की उत्पत्ति का आँशिक समाधान ही हो सकता है पूर्ण नहीं।[1]

(५) आवेग सिद्धान्त (Pooh pooh theory or Interjectional-theory)—हिन्दी में इसे 'मनोरागाभिव्यंजकशब्दमूलकतावाद' या 'मनोभावाभिव्यंजकतावाद' भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आदिकाल का भावुक मानव भावावेश या भागावेग में हर्ष, शोक, क्रोध, विस्मय, घृणा आदि की व्यंजक जिन ओह, 'आह', 'हाय', 'ओफ', 'धिक्', 'छिः', 'पूह (Pooh)', 'पिश (Pish)', 'फाइ (Fie)' आदि ध्वनियों को उत्पन्न करता था, आगे चलकर उन्हीं से भाषा का विकास हुआ। उदाहरणार्थ 'धिक्', से 'धिक्कार', 'धिक्कारना', 'धिक्-धिक् करना' आदि अनेक शब्द जिस प्रकार से बन गये, उसी प्रकार अन्य शब्दों से भी अनेक शब्द बन गए होंगे।

समीक्षा—इस सिद्धान्त में भी अनेक त्रुटियाँ हैं—

(१) इस प्रकार की ध्वनियाँ या शब्द भाषा के मुख्य अङ्ग नहीं हैं। उनका प्रयोग वाक्य में न होकर वाक्य के प्रारम्भ में, पृथक् रूप से होता है।

(२) इस प्रकार के शब्द भाषा की असमर्थता को प्रकट करते हैं, फिर वे स्वयं भाषा कैसे बन सकते हैं ? 'बेनफी' ने इसी आधार पर इस सिद्धान्त का खण्डन किया है।

---

१. लैंग्वेज—इट्स नेचर, डवलपमेण्ट एण्ड ओरिजिन।

(३) इनका प्रयोग सोच-विचार कर किसी भाव को प्रकट करने के लिए नहीं किया जाता। ये तो आवेगवश स्वतः ही मुख से निकल पड़ते हैं।

(४) इस प्रकार के शब्दों की संख्या किसी भी भाषा में बहुत थोड़ी होती है।

(५) ये शब्द सभी भाषाओं में एक-से नहीं मिलते हैं; जैसे 'पीड़ा को व्यक्त करने के लिए अंग्रेज—'ओह (Oh)' जर्मन—'आउ (Au)' फ्राँसीसी–'आहि (Ahi)'—जैसे भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं।

निष्कर्ष– इस सिद्धान्त से भी भाषा के उन बहुत थोड़े से शब्दों का ही समाधान हो पाता है, जिनका भाषा मे कोई महत्त्व नहीं है, तथा जिनसे भाषा के अन्य शब्दों को बनाने में कुछ भी विशेष सहायता नहीं मिलती। कुछ भावों की व्यञ्जक ध्वनियों को तो लिपिबद्ध करना भी कठिन हो जाता है। जैसे-खेद या सहानुभूति को व्यक्त करने के लिये जिस 'च–च' आदि ध्वनि का हम प्रयोग करते हैं, उसका रूप सन्देहात्मक ही है। वस्तुतः उसे 'च–च' या 'त्–त' कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

(६) श्रम ध्वनि-सिद्धान्त (Yo he-ho-theory)—हिन्दी में इसे 'श्रमपरिहरण-मूलकतावाद' भी कहा जाता है। 'न्वारे' (Noire)' नामक प्रसिद्ध विद्वान् इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जब व्यक्ति श्रम करता है, तो उसके श्वास की गति तीव्र हो जाती है और अधिक तीव्रता के कारण स्वरतन्त्रियों में कम्पन्न उत्पन्न हो जाता है। परिणामस्वरूप, कुछ ध्वनियाँ स्वाभाविक रूप से मुँह से निकल पड़ती हैं। धोबियों की 'हियो-हियो' या 'छियो-छियो', मल्लाहों की 'हैया हो हैया', मजदूरों या हथौड़ा चलाने वालों की 'हूँ-हूँ' आदि ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं।

आदिम मानव सामूहिक श्रम करने के कारण इस प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करता था, जो उन-उन कार्यों की द्योतक बन गयीं। बाद में, उनसे ही भाषा का विकास हुआ है। अंग्रेजी की 'यो-हे-हो' ध्वनि–जैसी ही किसी ध्वनि से 'हीव' (heave) और हॉल (houl) जैसी क्रियायें बनी हैं।

समीक्षा—इसमें निम्न दोष हैं—

(१) आवेग सिद्धान्त की भाँति ही इस सिद्धान्त द्वारा उत्पन्न ध्वनियाँ भी निरर्थक ही हैं। अतः, निरर्थक शब्दों से सार्थक भाषा की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

(२) ये ध्वनियाँ केवल शारीरिक श्रम की प्रतिक्रिया को व्यक्त करती हैं।

(३) इससे भाषा के बहुत ही थोड़े शब्दों का समाधान हो पाता है।

निष्कर्ष—पूर्व प्रस्तुत सिद्धान्त की भाँति ही श्रमध्वनि-सिद्धान्त से भी भाषोत्पत्ति की समस्या का कोई समाधान नहीं होता, हाँ भाषा के विशाल शब्द-कोष में ऐसे शब्दों की संख्या अत्यल्प ही है और वे शब्द भी, वस्तुतः, भाषा के अङ्ग नहीं हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री, अंग्रेज वकील 'ए. एस. डायमण्ड' को एक प्राचीन भाषा 'ओर' में एक भी शब्द ऐसा नहीं मिला जो श्रम-सिद्धान्त पर आधारित हो। अतः,

'ओर'–जैसी भाषाओं की उत्पत्ति के समाधान का तो इस सिद्धान्त में प्रश्न ही नहीं उठता है।

(७) इंगित सिद्धान्त (Gestural theory)—'डॉ० राये', 'रिचर्ड' तथा 'जोहान्सन' इसके प्रतिपादक हैं। इस मत के अनुसार आदि मानव ने स्वयं अपने ही अङ्गों से होने वाली चेष्टाओं या ध्वनियों का वाणी द्वारा अनुकरण किया तथा इस प्रकार भाषा बन गयी। उदाहरणार्थ, जब मनुष्य पानी पीता था तो ओठों को पास लाकर अन्दर को श्वास खींचने में 'पा पा'–जैसी ध्वनि होती थी।' उसी से 'पानी', 'पीना', 'पिपासा' आदि शब्दों का विकास हुआ।

समीक्षा—यह सिद्धान्त भी सारहीन है, क्योंकि मानव द्वारा अपनी ही चेष्टाओं या ध्वनियों का अनुकरण कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

निष्कर्ष—इससे भी भाषोत्पत्ति का समाधान नहीं होता है।

(८) सम्पर्क-सिद्धान्त—(Contact theory)—प्रसिद्ध विद्वान् 'जी० रेवेज' इसके प्रतिपादक हैं। इन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। आदिम मानव जब अपने दूसरे साथी मनुष्यों के तथा अपने चारों ओर विस्तृत वातावरण के सम्पर्क में आया, तभी इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप भाषा उत्पन्न हुई। 'रेवेज' ने अपने सिद्धान्त में क्रियात्मकता को विशेष महत्त्व दिया है। उसके अनुसार सम्पर्क के कारण मनुष्य सक्रिय हुआ होगा, तथा सक्रियता के कारण ध्वनियाँ उत्पन्न हुई होंगी। पहले ये ध्वनियाँ केवल निरर्थक चिल्लाहट के रूप में रही होंगी, धीरे-धीरे इन्होंने सोद्देश्य पुकार का रूप लिया होगा और बाद में ये ही व्यवस्थित शब्दों का रूप ग्रहण करके भाषा बनी होंगी। 'रेवेज' की यह भी मान्यता है कि भाषा में पहले क्रिया शब्द बने होंगे और बाद में संज्ञा शब्द।

समीक्षा—(१) मनोविज्ञान के आधार पर निर्मित सम्पर्क-सिद्धान्त यद्यपि पर्याप्त युक्तिसंगत है, किन्तु भाषा उत्पत्ति का पूर्ण समाधान इसके द्वारा भी नहीं हो पाता है। हाँ, दूसरे सिद्धान्तों की अपेक्षा इसमें कुछ अधिक बल है।

(२) इसमें भी कल्पना तथा अनुमान का सहारा लिया गया है।

(३) प्रसिद्ध विद्वान् 'कॉसिडी' के अनुसार 'सम्पर्क-सिद्धान्त' के होते हुए भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान पूर्णतया नहीं हो सका है।

निष्कर्ष—सम्पर्क-सिद्धान्त भी आँशिक रूप में ही भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान कर सका है, पूर्णरूप से नहीं।

(९) समन्वित-सिद्धान्त—उपर्युक्त मतों में से अधिकांश सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की समस्या के समाधान में कुछ भी सहायक नहीं होते हैं। जिन तीन-चार सिद्धान्तों में आँशिक समाधान की क्षमता का अनुमान होता है, वे भी एकांगी रूप में भाषा की उत्पत्ति का समाधान स्पष्टतः नहीं कर सकते हैं। अतः, आँशिक सत्य वाले सिद्धान्तों को समन्वित कर इस प्रश्न का समाधान खोजना युक्तिसंगत ही है। प्रसिद्ध विद्वान् 'हेनरी स्वीट (Henry Sweet)' ने यही किया है। उन्होंने किसी नये सिद्धान्त

की खोज नहीं की है; अपितु (क) 'अनुकरण सिद्धान्त' (ख) 'आवेग सिद्धान्त' और (ग) 'प्रतीक सिद्धान्त' एवं (घ) 'उपचार-सिद्धान्त' का समन्वित रूप ही उन्होंने प्रस्तुत किया है।

यहाँ (क) अनुकरण सिद्धान्त में ही अनुरणन सिद्धान्त को भी सम्मिलित समझना चाहिये, क्योंकि दोनों में ही ध्वनियों के अनुकरण पर शब्दों के निर्माण की कल्पना की जाती है। इसके साथ ही आदिम मानव की भाषा में (ख) आवेगात्मक शब्दों की स्थिति भी अवश्य ही रही होगी। क्योंकि, सभी भाषाओं में इस प्रकार के मिलते-जुलते शब्द उपलब्ध होते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त, भाषा में प्रयुक्त अन्य शब्दों का समाधान (ग) 'प्रतीक-सिद्धान्त' के द्वारा किया जा सकता है। प्रारम्भ में भाषा स्थूल एवं वर्णनात्मक ही होती है। उसी से, बाद में सूक्ष्म, लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक भाषा का धीरे-धीरे विकास होता है। 'पत्र' शब्द इनका अच्छा उदाहरण है। पहले वृक्षादि के पत्ते के अर्थ में इसका व्यवहार होता था, किन्तु बाद में अनेक स्थूल, सूक्ष्म एवं व्यंग्य अर्थों में इसका व्यवहार होने लगा। इसी प्रकार भाषा में ऐसी अनेक ध्वनियाँ हैं, जो पहले स्थूल पदार्थों को द्योतक थीं, किन्तु बाद में सूक्ष्म अर्थों में प्रयुक्त होने लगीं।

'प्रतीक-सिद्धान्त' के साथ ही (घ) 'उपचार-सिद्धान्त' को भी सम्मिलित कर लिया जाय, तो भाषा में प्रयुक्त शब्दों के एक बड़े भाग का समाधान हो जाता है। उपचार का अर्थ है—ज्ञात के आधार पर अज्ञात की व्याख्या। भाषा को, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जाने में उपचार या सादृश्य का भी बहुत योगदान है। उदाहरण के लिये—दक्षिण अफ्रीका की 'सासुतो' भाषा में भिनभिनाने की ध्वनि के आधार पर मक्खी को 'न्त्सी न्त्सी' कहते हैं। चापलूस व्यक्ति भी, चूँकि खुशामद करता हुआ, अपने लक्ष्य के चारों ओर चक्कर काटता रहता है; अतः उसे भी 'सासुतो' में 'न्त्सी-न्त्सी' ही कहने लगे। इसी प्रकार 'मूयूम' अर्थात् स्नायुओं के खुलने-बन्द होने के आधार पर आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों ने, बाद में 'पुस्तक' को भी 'मूयूम' ही कहना प्रारम्भ कर दिया।

संस्कृत की 'व्यथ्' और 'कुप्' धातुएं पहले भौतिक पदार्थों के 'कम्पन' और 'गति' को सूचित करती थीं, जैसे—'व्यथमाना पृथिवी' तथा 'कुपितः पर्वतः' का अर्थ क्रमशः 'काँपती हुई पृथ्वी' तथा 'चलता हुआ पहाड़' था; किन्तु बाद में, उपचार के कारण, मानसिक सूक्ष्म अर्थों में भी इनका प्रयोग होने लगा; जैसे 'व्यथा' अर्थात् मानसिक पीड़ा तथा 'कोप' अर्थात् क्रोध।

समीक्षा—'स्वीट' के मत में यद्यपि पर्याप्त सत्य है, तथापि उसे पूर्णतया निर्दोष नहीं माना जाता है। उसमें, अपने में गृहीत सिद्धान्तों के दोष तो हैं ही; इसके अतिरिक्त भी वह भाषा की उत्पत्ति की समस्या का पूर्णरूपेण समाधान करने में असमर्थ रहा है।

निष्कर्ष—इस प्रकार, यद्यपि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं, तथापि प्रारम्भ में ही जैसा कहा गया है, ये सभी सिद्धान्त अनुमान पर आधारित हैं। अतः इनका केवल यही महत्त्व है कि इनसे हमें ज्ञात हो जाता है कि इस समस्या पर विद्वानों ने क्या-क्या विचार व्यक्त किये हैं। अतः, इनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक ही है।

वस्तुतः, भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक उलझा हुआ ही है। भविष्य में भी इसका कोई समाधान हो सकेगा, यह आशा प्रतीत नहीं होती। कारण, इसमें कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं है तथा अनुमान प्रमाण का विज्ञान में कोई महत्त्व नहीं है। यही कारण है कि फ्रांस की 'भाषाविज्ञान परिषद्', ने अपने कार्यक्रमों में 'भाषा की उत्पत्ति' के विचार पर सदैव के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया था।

भाषा-परिवर्तन

(Change in the Language)

जब विश्व और उसकी प्रत्येक वस्तु ही परिवर्तनशील है, तब भाषा भी अपरिवर्तित कैसे रह सकती है ? कुछ विद्वान् भाषा की इस परिवर्तनशीलता को भाषा का विकास कहना उपयुक्त मानते हैं।

परिवर्तनशीलता भाषा की एक प्रमुख प्रवृत्ति है

जिस प्रकार निरन्तर प्रवाहशीला नदी की धारा अविच्छिन्न होते हुये भी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, त्यों-त्यों बदलती जाती है; उसी प्रकार भाषा की धारा को भी समझना चाहिए। वह भी आगे बढ़ने के साथ-साथ बदलती रहती है। कहावत है— "चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी।" हम प्रायः अनुभव करते हैं कि जिस स्थान पर हम निवास करते हैं, यदि उसे केन्द्रविन्दु मान लें, तो उस स्थान से चारों दिशाओं मे थोड़े थोड़े स्थान-भेद से भाषा में भी भेद होता जाता है। 'बोली' तथा 'भाषा' का भेद इसी आधार पर किया जाता है। वस्तुतः तो एक स्थान ही नहीं, एक व्यक्ति की भाषा में भी शनैः-शनैः, अनजाने ही परिवर्तन होता रहता है। अतः, किसी भी भाषा का रूप ५०—१०० वर्षों में ही इतना परिवर्तित हो जाता है कि उसका भली-भाँति विश्लेषण किया जा सकता है।

भाषा में यह परिवर्तन उसके प्रत्येक अङ्ग में होता है, अर्थात् ध्वनि, पद (शब्द) वाक्य-रचना तथा अर्थ, सभी में परिवर्तन होता है। सर्वाधिक परिवर्तन भाषा के शब्द-भाण्डार में होता है। कार्य से काज, दूर्वा से दूब, बिन्दु से बूंद, वज्राङ्ग से बजरंग, वार्ता से बात, आदि सभी ध्वनि-परिवर्तन के सूचक हैं। इसी प्रकार 'उपाध्याय' से 'झा', 'द्विवेदी' से 'दूबे', 'चतुर्वेदी' से 'चौबे' भी इसी परिवर्तन का परिणाम हैं। 'असुर' शब्द का अर्थ पहले 'प्राणवान् या देवता' था, किन्तु बाद में परिवर्तित होकर 'राक्षस' हो गया। समय समय पर भाषा में कुछ शब्द प्रयोग से बाहर हो जाते हैं, जैसे अनेक वैदिक शब्द 'मूर', 'अक्तु' आदि बाद की संस्कृत में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। इसी प्रकार कुछ नये शब्द भाषा में प्रविष्ट हो जाते हैं। गान्धी जी के समय में सत्याग्रह, आन्दोलन आदि शब्द हिन्दी भाषा में आये। 'संविद' मीसा, आँसुका आदि शब्द भी हिन्दी में नये ही हैं।

परिवर्तन पहले उच्चरित रूप में

यह परिवर्तन सर्वप्रथम, भाषा के उच्चरित अर्थात् बोलचाल वाले रूप में होता है और कुछ समय पश्चात् इसे लिखित रूप में भी मान्यता प्राप्त हो जाती है। अंग्रेजी के अनेक शब्द, जैसे—'night', 'knife', 'daugter' आदि का उच्चरित रूप,

लिखित रूप से भिन्न है। अब अमेरिकन इंगलिश में तो इन्हें उच्चारण के अनुसार ही लिखा भी जाने लगा है।

परिवर्तन की गति

भाषा परिवर्तनशील होते हुए भी, परिस्थितियों के अनुसार कभी तो तीव्र-गति से बदलती है और कभी मन्दगति से। जब परिवर्तन की अनुकूल परिस्थितियों में भाषा तीव्रगति से बदलती है, तो इसे 'भाषा की गतिशीलता' कहा जाता है। ऐसा प्रायः तब होता है, जब एक भाषा को बोलने वालों का दूसरी भाषा के बोलने वालों से अधिक सम्पर्क होता है। उदाहरण के लिए—हिब्रू भाषाभाषियों को, क्योंकि अपना मूल स्थान छोड़कर सारे विश्व में घूमना पड़ा है, अतः हिब्रू भाषा बड़ी तीव्रगति से परिवर्तित हुई है।

इसके विपरीत, जब प्रतिकूल परिस्थितियों में भाषा में परिवर्तन की गति धीमी हो जाती है, तब इसे 'भाषा की स्थिरता' कहा जाता है। ऐसा तब होता है जब किसी एक भाषा को बोलने वालों का बाह्य जगत् से सम्पर्क अपेक्षाकृत बहुत ही कम होता है। 'भाषा की स्थिरता' के उदाहरण के लिए प्रायः 'लिथुआनी' भाषा का उल्लेख किया जाता है। यूरोप-स्थित लिथुआनिया देश क्योंकि चारों ओर पर्वतों तथा दलदल से घिरा हुआ है, अतः न वहाँ के लोग बाहर अधिक जाते हैं और न बाहर के लोग वहाँ अधिक आते हैं। अतः, दूसरी भाषाओं के सम्पर्क में न आने से 'लिथुआनी' भाषा अपने प्राचीन रूप को पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित किए हुये है। इसके अतिरिक्त भी, भाषा में परिवर्तन लाने वाले अनेक बाह्य तथा आन्तरिक (व्यक्ति में रहने वाले) कारण हैं, जिसका उल्लेख पृथक् स्थान पर विस्तार से किया जायेगा।

परिवर्तन पर नियन्त्रण

यहाँ यह विचार करना भी आवश्यक है कि यदि भाषा परिवर्तनशील है तो पुरानी भाषा को जानने वाले नवीन परिवर्तित भाषा को कैसे समझते हैं? इसके समाधान में कहा जा सकता है कि (क) एक तो भाषा में परिवर्तन ही इतना सहज होता है कि उसे सीखने में कोई समय या श्रम नहीं लगता है। (ख) दूसरे, मनुष्य अपने स्वभाववश भाषा में बड़े-बड़े परिवर्तनों को सहज ही स्वीकार नहीं करता तथा उनके लिये बाधक बन जाता है। अशुद्ध उच्चारण को रोकने की प्रवृत्ति भी इसी के अन्तर्गत है। (ग) साथ ही, साहित्य-संरचना, शिक्षा, व्याकरण, पत्र-पत्रिकायें तथा रेडियो-प्रसारण आदि भाषा-परिवर्तन-प्रवाह में बाँध का कार्य करते हैं, अन्यथा एक ही पीढ़ी की भाषा उसी पीढ़ी के व्यक्तियों के लिये भी दुर्बोध हो जाये।

इस प्रकार, यद्यपि भाषा की अपनी सहज प्रवृत्ति, गतिशीलता एवं परिवर्तन-शीलता की है, तथापि मानव-समाज अपने व्यवहार-सौकर्य के लिए भाषा को स्थिर एवं अपरिवर्तित बनाये रखने का प्रयास करता है।

भाषा की परिवर्तनशीलता तथा भारतीय आर्यभाषा

वस्तुतः, भाषा एक अविच्छिन्न धारा-प्रवाह है। वह सदा प्रवाहमयी बनी रहती

है। यदि ऐसा न हो तो नयी पीढ़ी को पुरानी पीढी की भाषा को सीखने में अवश्य ही कठिनाई का अनुभव होने लगे। जिस प्रकार किसी नदी में बहने वाला जल वही जल नहीं रहता, जो कि मूलस्रोत से निकला होता है। उसके मूलस्रोत वाले जल में शनैः शनैः कमी होती रहती है तथा उसमें मार्ग के अनेक नदी-नालों का जल भी मिलता रहता है, और इस प्रकार उसका रूप बदलता रहता है। उसी प्रकार भाषा की मूलधारा के स्वरूप में भी सदैव परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिये, यदि भारतीय आर्यभाषा पर दृष्टिपात करें, तो उसके प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक के अनेक रूप हमारी दृष्टि में आते हैं; जैसे—वैदिक > संस्कृत > पालि > प्राकृत > अपभ्रंश > तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ।

इनमें से भी यदि प्रत्येक पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें, तो वैदिक भाषा के भी एक से अधिक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि, ऋग्वेद के, प्राचीनकाल में रचित सूक्तों की भाषा भी अर्वाचीन काल में रचित सूक्तों की भाषा से भिन्न है। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों की संस्कृत तथा कालिदास के ग्रन्थों की संस्कृत में भी भिन्नरूपता है।

भारतीय आर्यभाषा के सम्बन्ध में एक प्रश्न

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि प्राचीनकाल से वर्तमानकाल तक भारत में एक ही भाषा बोली जा रही है, तो उपर्युक्त वैदिक, संस्कृत आदि भिन्न-भिन्न नामों से उसे क्यों अभिहित किया गया है?

इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि जैसे गङ्गा की धारा, हिमालय से लेकर बङ्गाल की खाड़ी तक, वस्तुतः, एक ही है, फिर भी उसे स्थान-भेद से भागीरथी, जाह्नवी, गङ्गा, हुगली आदि नाम दे दिये गये हैं, जो उसकी अवस्था-विशेष के द्योतक हैं। उसी प्रकार भारतीय आर्यभाषा के उपर्युक्त नाम भी ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी विशेष-विशेष अवस्थाओं के द्योतक हैं। अर्थात् भारतीय आर्यभाषा में विशेष-विशेष कालों में, उन-उन विशिष्ट साहित्यिक रचनाओं का प्रणयन हुआ है। 'वैदिक भाषा से तात्पर्य है, उस काल की भारतीय आर्यभाषा, जिस काल में उसमें वेदों की रचना हुई थी। इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य के कारण वह 'संस्कृत', पालि साहित्य के कारण 'पालि', प्राकृत साहित्य के कारण 'प्राकृत', तथा अपभ्रंश साहित्य के कारण 'अपभ्रंश' भाषा कहलायी है। आजकल भारत के विभिन्न प्रदेशों में बोले जाने की विशेषता के कारण उसे ही 'बङ्गाली', 'गुजराती', 'मराठी', 'पञ्जाबी' आदि कहा जाने लगा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय आर्यभाषा की धारा अविच्छिन्न रूप से सदैव प्रवाहित रही है तथा भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण उसे ही भिन्न-भिन्न नाम दे दिये गये हैं।

एक भ्रम का निवारण

उपर्युक्त तथ्य को समझ लेने के उपरान्त यहाँ इस भ्रम का निवारण भी आवश्यक है कि वैदिक से संस्कृत, संस्कृत से पालि, पालि से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश

तथा अपभ्रंश से हिन्दी आदि आधुनिक भाषाएँ विकसित हुई हैं। सामान्य रूप से यही समझ लिया जाता है कि आधुनिक हिन्दी, बङ्गाली आदि भारत की वर्तमान भाषाओं का जन्म संस्कृत से ही. हुआ है। वस्तुतः, संस्कृत आदि सभी भाषाएँ साहित्यिक भाषाएँ हैं तथा किसी भी एक साहित्यिक भाषा से किसी दूसरी साहित्यिक भाषा का विकास नहीं होता है। इस तथ्य का अधिक स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है।

जनभाषा (बोली) तथा साहित्यिक भाषा का सम्बन्ध

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, 'संस्कृत', 'प्राकृत' आदि, भारतीय आर्यभाषा की उन विशेष-विशेष अवस्थाओं के नाम हैं, जिनमें तत्तत्कालों में उन-उन विशेष साहित्यों की रचना हुई है। इस प्रकार संस्कृत आदि अपने समय की बोलचाल की भाषा के ही साहित्यिक रूप हैं। दूसरे शब्दों में, हम इन्हें साहित्यिक भाषाएँ कह सकते हैं। डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री ने इन्हें "प्राचीन परिष्कृत या उत्कृष्ट भाषा" कहा है।[1] ऐसी भाषा को स्पष्ट करते हुए पुनः उन्होंने लिखा है "प्राचीन परिष्कृत तथा उत्कृष्ट भाषा से आशय ऐसी प्राचीन साहित्य-सम्पन्न भाषा का है, जो अपने व्याकरण और लिखित वर्णानुपूर्वी (या हिज्जों) के नियमों में बद्ध होने के कारण चिरकाल तक एक रूप में स्थिर रह सकती है। उच्चकोटि के साहित्य से सम्पन्न होना ऐसी भाषा के लिए आवश्यक है। उसकी स्थिरता का मुख्य कारण भी यही होता है।"[2]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि 'संस्कृत' आदि साहित्यिक भाषाएँ हैं तथा अपने सुव्यवस्थित व्याकरण के कारण ये अपेक्षाकृत स्थिर प्रतीत होती हैं, किन्तु पूर्णतया स्थिर नहीं हैं, क्योंकि जब आगे आने वाली पीढ़ियाँ ऐसी भाषाओं का उच्चारण करती हैं, तो इस उच्चारण के कारण उनमें भी परिवर्तन तो हो ही जाता है। तथापि अपेक्षाकृत स्थिरता के कारण साहित्यिक भाषाओं की तुलना प्रायः सरोवर के बँधे पानी से की जाती है, जिसका प्रवाह रुका रहता है।

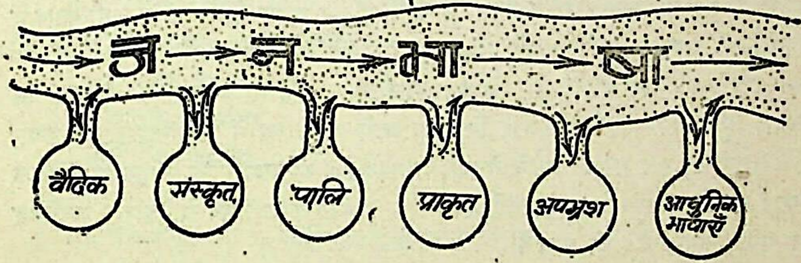
इस प्रकार बोलचाल की भाषा जहाँ निरन्तर विकासशील होती है, वहाँ साहित्यिक भाषा का विकास रुक जाता है। परिणामस्वरूप साहित्यिक भाषा से फिर किसी भाषा का विकास नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, उससे कोई भाषा नहीं निकलती। दूसरी ओर, बोलचाल की भाषा सदैव विकसित होती रहती है, उसका रूप सदैव बदलता रहता है।

अधिक स्पष्टता के लिये हम कह सकते हैं कि प्रायः प्रत्येक भाषा के दो रूप होते हैं – (क) बोलचाल की भाषा, (ख) साहित्य की भाषा। भाषा के साहित्यिक रूप, बोलचाल की भाषा के मार्ग में पड़ने वाले कुछ विशेष विश्राम-स्थल हैं, जहाँ भाषा कुछ देर ठहरकर विश्राम करती है, सजती-सँवरती है। किन्तु, इसी कारण वह बोलचाल की भाषा से कटकर अलग-अलग भी हो जाती है। जैसे एक पुरुष थिनी

१. तुलनात्मक भाषाशास्त्र, १९४८, पृ० ७९।
२. वही, पृ० ७९।

तथा एक विलासिनी नारी का साथ कठिन हो जाता है, उसी प्रकार पुरुषार्थिनी बोल-चाल की भाषा भी विलासिनी साहित्य की भाषा को छोड़ आगे बढ़ जाती है। भारतीय आर्यभाषा के माध्यम से, हम इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

भारतीय आर्यभाषा-प्रवाह



[चित्र परिचय—काले बिन्दुओं वाला स्थूल प्रवाह भारतीय आर्यभाषा के उस रूप का द्योतक है, जो जनसामान्य की स्वच्छन्द अपरिष्कृत भाषा के रूप में प्रयुक्त रहा है। उसमें तीरों के चिह्न प्रवाह की दिशा को सूचित करते हैं। बिन्दु-रहित गोल सरोवराकृति स्थल विभिन्न साहित्यिक नियमबद्ध भाषाओं के द्योतक हैं। उनका बिन्दुरहित होना उनके परिष्कृत रूप का द्योतक है। जनभाषा-प्रवाह तथा साहित्यिक भाषाओं को जोड़ने वाले पतले सन्धिस्थल जनभाषा तथा साहित्यिक भाषा के सम्बन्ध को प्रकट करते हैं, जिनमें धीरे-धीरे बिन्दुओं की कमी का होना, उनके शनैः शनैः होने वाले परिष्कार का द्योतक है। सन्धिस्थल के तीरों के चिह्न जनभाषा तथा साहित्यिक भाषा के पारस्परिक आदान-प्रदान को प्रकट करते हैं।]

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि भारतीय आर्यभाषा की धारा प्राचीनकाल से वर्तमान काल तक निरन्तर प्रवाहित रही है। उसका प्रधान रूप जनसाधारण की बोल-चाल का ही है, जिसे चित्र में एक लम्बी मोटी बिन्दुओं वाली दोहरी रेखा द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह भाषा की मुख्य धारा है। इसी मुख्य धारा से थोड़े-थोड़े अन्तर पर विकसित साहित्यिक भाषाएँ—वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाएं दिखलायी गयी हैं। इन्हें देखने से पाँच बातें नितान्त स्पष्ट हैं—(१) इन साहित्यिक भाषाओं का विकास जनसाधारण की बोल-चाल की भाषा से ही हुआ है, तथा (२) इनसे किसी भी अन्य साहित्यिक भाषा का विकास नहीं हुआ है। (३) इनका तथा बोलचाल की भाषाओं का परस्पर सम्पर्क रहा है, जिससे ये

एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। (४) बोलचाल की भाषा से कुछ अंशों में समानता रखते हुए भी ये परस्पर पर्याप्त भिन्न हैं। (५) इनमें परस्पर जो समानता है, उसका कारण इनका एक ही मूलभाषा से विकसित होना है।

इसके साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि उपर्युक्त बोलचाल की भाषा तथा साहित्यिक भाषाएँ विशेष-विशेष कालों में साथ-साथ अस्तित्व में रही हैं। ऐसा नहीं कि साहित्यिक भाषा के समय बोलचाल की भाषा न रही हो। अन्तर केवल यही है कि बोलचाल की भाषा को ही परिष्कृत करके साहित्य के लिए स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार जिस काल में साहित्य की भाषा वैदिक रही, उसी काल में बोलचाल की भाषा भी वैदिक ही रही। दूसरे शब्दों में, वैदिक आदि भाषाओं के दो-दो रूप उन-उन कालों में रहे—(१) बोलचाल का, (२) साहित्य का। भाषा का बोलचाल वाला रूप जहाँ एक ओर निरन्तर आगे की दिशा में विकसित होता गया, क्योंकि बोलचाल का माध्यम होने से उसमें परिवर्तन की सम्भावना स्वभावतः अधिक थी, वहाँ दूसरी ओर भाषा का साहित्यिक रूप व्याकरण के नियमों द्वारा मर्यादित होकर अपेक्षाकृत स्थिर हो गया।

अतः, यह कहना सर्वथा अनुचित ही है कि वैदिक आदि से संस्कृत आदि का विकास हुआ है। वास्तव में, इन सभी साहित्यिक भाषाओं का उद्भव अपने-अपने समय की बोलचाल की भाषा से ही हुआ है। हाँ, बोलचाल की वैदिक भाषा से बोलचाल की संस्कृत भाषा का जन्म निःसन्देह माना जा सकता है। इसी प्रकार बोलचाल की संस्कृत आदि से बोलचाल की पालि आदि का विकास भी मान्य है। किन्तु, बोलचाल की वैदिक या किसी अन्य भाषा से बोलचाल की संस्कृत या किसी अन्य भाषा का विकास-विन्दु जनभाषा-प्रवाह में कहाँ स्थित है, यह निश्चय करना असम्भव ही है, क्योंकि यह प्रक्रिया वहुत ही शनैः-शनैः तथा वहुत समय में होती है।

६. भाषा परिवर्तन के कारण

यह ज्ञात होने पर कि भाषा में परिवर्तन होता रहता है, यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि भाषा-परिवर्तन के मूल में कौन-कौन से कारण हैं। क्योंकि, विना कारण के तो कोई भी कार्य नहीं होता है।

यद्यपि यह कहना पूर्णतया कठिन है कि भाषा-परिवर्तन के मात्र इतने ही कारण हैं, अधिक खोजवीन करने पर इनकी संख्या में परिवर्तन हो सकता है, तथापि अभी तक भाषा-परिवर्तन के जो कारण प्रकाश में आये हैं, वे ही यहाँ उल्लेख्य हैं।

भाषावैज्ञानिकों ने भाषा-परिवर्तन के कारणों को प्रथमतः (अ) आभ्यन्तर तथा (ब) वाह्य—इन दो भागों में विभाजित किया है:—

(अ) आन्तरिक या आभ्यन्तर कारण—वे कारण जो किसी भाषा को बोलने वाले व्यक्तियों में ही रहते हैं। ये कारण प्रायः व्यक्ति के उच्चारण-अवयवों, श्रवण-अवयवों तथा इनके साथ सहयोग करने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क आदि से सम्बन्ध रखते हैं; जैसे—

(१) अनुकरण की अपूर्णता,
(२) प्रयत्नलाघव,
(३) मात्रा-सुर-बलाघात,
(४) भावावेश,
(५) सादृश्य या मिथ्यासादृश्य, आदि ।

(ब) बाह्य कारण—वे कारण, जो किसी भाषा को बोलने वाले व्यक्ति के चारों ओर विद्यमान वातावरण या परिवेश से सम्बन्ध रखते हैं, तथा जिनसे भाषा अनजाने ही प्रभावित होती रहती है; जैसे—

(१) भौगोलिक प्रभाव,
(२) ऐतिहासिक प्रभाव,
(३) सांस्कृतिक प्रभाव,
(४) सामाजिक प्रभाव,
(५) वैयक्तिक प्रभाव या व्यक्तित्व-विशेष का प्रभाव
(६) जाति-विशेष का प्रभाव,
(७) साहित्यिक प्रभाव,
(८) वैज्ञानिक प्रभाव, आदि ।

इस प्रकार भाषा-परिवर्तन के पाँच आभ्यन्तर तथा आठ बाह्य, (५+८=१३) कारणों की व्याख्या ही आगे क्रमशः, की जा रही है:—

[अ] आभ्यन्तर कारण

(१) अनुकरण की अपूर्णता—इसे हम उच्चारण में अनुकरण की अपूर्णता भी कह सकते हैं। हम सभी जानते हैं कि भाषा को सीखने-सिखलाने में ध्वनियों के उच्चारण का अनुकरण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। दादा-दादी प्रायः बच्चों से किसी ध्वनि या शब्द का अनुकरण बार-बार करवाया करते हैं। इसी प्रकार प्रारम्भिक पाठशालाओं में भी ऐसा प्रायः देखने को मिल जाता है। ध्वनियों के अनुकरण के पश्चात् शब्दों तथा वाक्यों का अनुकरण किया जाता है। इस अनुकरण के अपूर्ण रहने पर भाषा में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। उच्चारण के अनुकरण की इस अपूर्णता के भी अनेक कारण हैं:—

(क) वाग्यन्त्र की विभिन्नता—कुछ विद्वानों ने इसे शारीरिक विभिन्नता का नाम दिया है। वस्तुतः, प्रत्येक व्यक्ति का वाग्यन्त्र या उच्चारणावयव दूसरे व्यक्ति के वाग्यन्त्र से भिन्न होता है। परिणामस्वरूप, दो व्यक्तियों का उच्चारण कदापि एक-सा नहीं होता है। किसी का स्वर बारीक और कोमल होता है तो किसी का मोटा और कठोर। इसी प्रकार किसी के उच्चारण में स्पष्टता होती है तो किसी के उच्चारण में अस्पष्टता। मुख, दन्त, नासिका आदि उच्चारणावयवों में किसी दोष के कारण भी उच्चारण में विकार हो जाता है। 'अग्निपुराण' का यह श्लोक इस सम्बन्ध में स्मरणीय है—

"न करालो, न लम्बोष्ठो, नाव्यक्तो, नानुनासिक; ।
गद्‌गदो, बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ।।"

अर्थात् जिस व्यक्ति का मुख (बहुत बड़ा या दाँत आदि बाहर निकले होने के कारण) भयानक है, जिसके होट लटके हैं, जिसने वर्णों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से नहीं समझा है, जो प्रत्येक वर्ण का उच्चारण नासिका से करता है, जो भावावेश के कारण गद्‌गद है तथा जिसकी जिह्वा जकड़ी हुई है, वह व्यक्ति वर्णों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सकता है।

इस प्रकार, वाग्यन्त्र की विभिन्नता तथा सदोषता के कारण भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों के उच्चारण में अनुकरण की अपूर्णता रह जाती है। कालान्तर में इससे भाषा में परिवर्तन आ जाता है।

(ख) प्रमाद या असावधानी—प्रायः देखा जाता है कि कभी-कभी प्रमादवश हम अपनी भाषा में ध्वनियों तथा शब्दों का प्रयोग अनुपयुक्त रूप में कर जाते हैं। इसका मुख्य कारण ध्वनियों तथा शब्दों के ठीक-ठीक व्यवहार की ओर से असावधान रहना ही है। अपनी भाषा से भिन्न भाषा की ध्वनियों तथा शब्दों के विषयों में ऐसा और भी अधिक देखा जाता है। प्रायः हिन्दी भाषा-भाषी अरबी-फारसी की ध्वनियों तथा शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर पाते हैं। क़ाग़ज़ को प्रायः, कागज कहा जाता है। उपरि+उक्त=उपर्युक्त (जो ऊपर कहा जा चुका है) के स्थान पर आज हिन्दी में 'उपरोक्त' शब्द का व्यवहार देखा जाता है। हिन्दी में अनेक उपसर्गों का प्रयोग आजकल उनके अर्थों को समझने में प्रमाद के कारण ही भिन्न अर्थों में हो रहा है।

(ग) अशिक्षा—जैसा कि प्रायः देखा जाता है, अशिक्षित व्यक्ति की जिह्वा ध्वनियों तथा शब्दों के ठीक-ठीक उच्चारण में अनभ्यस्त रहती है। संयुक्त ध्वनियों का उच्चारण तो उसके लिए कठिन ही हो जाता है। इसी प्रकार प्राइमरी पाठशालाओं में कम शिक्षित अध्यापकों के द्वारा भी बच्चों को उच्चारण की शिक्षा ठीक-ठीक नहीं मिलती है। पाणिनि ने ऐसे शिक्षकों को 'कुतीर्थ' कहा है। हिन्दी-स्कूलों में अंग्रेजी, तथा अंग्रेजी-स्कूलों में हिन्दी प्रायः ऐसे ही शिक्षकों द्वारा आजकल पढ़ाई जाती है, जिससे बच्चों को ध्वनियों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप ब-व तथा श, ष, स आदि में कोई अन्तर नहीं रहता है।

अशिक्षा के कारण उपयुक्त शब्दों के व्यवहार का ज्ञान भी नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप, अनेक शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थों (त्रुटिपूर्ण अर्थों) में होने लगता है। संस्कृत के 'साहस', 'धन्यवाद' आदि शब्द इसके उदाहरण हैं।

(घ) लिपि की अपूर्णता—हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न भाषाओं में ध्वनियों का स्वरूप तथा संख्या भिन्न-भिन्न है। ऐसी दशा में जब एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में जाता है, तो उसकी मूल ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। हिन्दी के अनेक महापुरुषों के नाम जब अंग्रेजी में गये, तो वहाँ Rama, Krishna, Malviya आदि

लिखे गये। अब पुनः हिन्दी में आने पर भी इन्हें 'रामा' (-मेडिकल स्टोर), 'कृष्णा' (-वाच हाऊस), तथा 'मालविया' (मार्ग) आदि लिखा जाता है। अंग्रेजी में तवर्ग ध्वनियाँ नहीं हैं, हिन्दी में ग़, ज़ आदि ध्वनियाँ नहीं हैं। इससे अनेक ध्वनियों के अनुकरण में अपूर्णता रह जाती है, जिसके परिणामस्वरूप भाषा में परिवर्तन हो जाता है।

संक्षेप में, (क) वाग्यन्त्र की विभिन्नता, (ख) प्रमाद या असावधानी, (ग) अशिक्षा तथा (घ) लिपि की अपूर्णता आदि के कारण भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का उच्चारण ठीक-ठीक नहीं हो पाता है। भाषा को सीखते समय ध्वनियों का ठीक-ठीक अनुकरण न कर पाने के कारण कालान्तर में मूल ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। इस विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि उपर्युक्त दोष न भी हों, तब भी भाषा को सीखने की प्रक्रिया ही चूँकि ऐसी है कि उसे दूसरों के उच्चारण द्वारा ही सीखा जा सकता है, तथा प्रथम उच्चारण का ठीक उसी रूप में उच्चारण असम्भव ही होता है, अतः भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। परिणामस्वरूप, प्रत्येक भाषा में यह परिवर्तन घटित होता ही है।

(२) प्रयत्नलाघव (सुखसुख)

प्रत्येक व्यक्ति का यह स्वभाव है कि वह कम से कम श्रम के द्वारा अधिक से अधिक सफलता चाहता है। यदि शब्द के सम्पूर्ण उच्चारण की अपेक्षा शब्द के अपूर्ण या अधूरे उच्चारण से ही वक्ता को अपने अभिप्राय को प्रकट करने में सफलता मिल जाय, तो वह कदापि सम्पूर्ण उच्चारण का कष्ट नहीं उठाना चाहेगा। साथ ही प्रत्येक वक्ता उच्चारण में भी सुविधा चाहता है। प्रतिदिन की भाषा में हम ऐसे अनेक उदाहरण देखते हैं। उपाध्याय का 'झा', चतुर्वेदी का 'चौबे', संयुक्त विधायक दल का 'संविद', सात अनाज का 'सतनजा', श्मशान का 'मसान', मध्ये का 'में', वल्कल का 'बक्कल', काक का 'काग', महेन्द्र का 'महिन्दर' आदि अनेक शब्द इसी प्रवृत्ति का परिणाम हैं।

प्रयत्नलाघव के परिणामस्वरूप भाषा में अनेकविध परिवर्तन होते हैं, जिन्हें ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से आगम, लोप, विकार, वर्ण-विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण तथा स्वरभक्ति आदि नाम दिये गये हैं। इनकी व्याख्या ध्वनि-परिवर्तन के प्रसंग में विस्तार से की जायेगी। यहाँ केवल भाषा-परिवर्तन के मूल में निहित एक कारण के रूप में ही प्रयत्नलाघव की चर्चा संक्षेप में अभीष्ट है।

(३) मात्रा-सुर-बलाघात

शब्द में मात्रा, सुर तथा बलाघात के कारण भी ध्वनियों में, तथा उसके परिणामस्वरूप भाषा में परिवर्तन हो जाता है।

मात्रा — जिन शब्दों में मूलरूप से दो दीर्घ मात्राएँ साथ-साथ आ जाती हैं, वहाँ प्रायः दोनों में से कोई एक मात्रा, बाद में, ह्रस्व बोली जाने लगती है। उदा-

हरण के लिये संस्कृत 'आकाश' शब्द में दो दीर्घ मात्राएँ साथ-साथ थीं। आगे हिन्दी में विकसित तद्भव शब्द 'अकास' में पहली मात्रा ह्रस्व हो गयी।

सुर—सुर से यहाँ अभिप्राय है–शब्द की किसी ध्वनि को खींच कर बोलना। शब्द या वाक्य में हम सभी ध्वनियों या शब्दों का उच्चारण एक-सा नहीं करते हैं, किसी ध्वनि को खींचकर, किसी को हल्का करके 'आरोह-अवरोह' के रूप में बोलते हैं। जिस ध्वनि को खींचकर 'आरोह' के रूप में बोला जाता है, उसके स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत 'बिल्व' शब्द में 'इ' स्वर को खींचकर बोलने के कारण ही हिन्दी में वह 'बेल' शब्द में 'ए' के रूप में बदल गया है।

बलाघात—बलाघात से अभिप्राय है, शब्द में किसी ध्वनि पर अपेक्षाकृत 'बल' देकर बोलना। इससे समीप की ध्वनियाँ या तो दुर्बल हो जाती हैं या नष्ट। उदाहरण के लिए संस्कृत 'अभ्यन्तर' शब्द में 'भ्य' पर अधिक बल के कारण उसके पूर्व की 'अ' ध्वनि नष्ट हो गई है और यह शब्द हिन्दी में 'भीतर' के रूप में बदल गया है।

(४) भावावेश

भावावेश के कारण भी शब्दों के रूपों में परिवर्तन हो जाता है। अधिक लाड़-प्यार में, बेटा > बिटवा, बाबू > बबुआ, तथा 'राजकुमार > राजू' हो जाते हैं। क्रोध के कारण 'बच्चा > बच्चू' बन जाता है। निरादर प्रकट करने के लिए भी 'परशुराम > परसा या फरसा' बन जाता है।

(५) सादृश्य या मिथ्यासादृश्य

पहले से विद्यमान शब्दों के अनुरूप नये शब्दों का निर्माण करना 'सादृश्य' कहलाता है। इसी को 'मिथ्यासादृश्य' भी कहा गया है, क्योंकि इस सादृश्य का आधार मिथ्यात्व या भ्रान्ति है। संस्कृत 'करिन्' (नकारान्त) शब्द से तृतीया विभक्ति, एक वचन में बने 'करिणा' शब्द के सादृश्य पर 'हरि' (नकारान्त भिन्न इकारान्त) शब्द से भी तृतीया, एकवचन में 'हरिणा' बना लिया गया है। इसी प्रकार 'दृष्टि' में 'दृ' के सादृश्य से भी कुछ लोग 'दृष्टा' शब्द बनाते हैं, जबकि वस्तुतः यहाँ 'द्रष्टा' होना चाहिए। 'असुर' तथा 'अभिज्ञ' में 'अ' नञ् समास से नहीं आया है तथापि 'अज्ञान' आदि शब्दों के सादृश्य पर इसे 'नञ्' समास का 'अ' मान लिया गया और इसी कारण विरोधी अर्थ में 'सुर' तथा 'भिज्ञ' शब्द प्रचलित हो गये हैं।

[ब] बाह्य कारण

(६) भौगोलिक प्रभाव

डॉ० तारापुरवाला के अनुसार विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियाँ देश-विशेष की संस्कृति के निर्माण में सहायक होती हैं, जिसमें भाषा भी सम्मिलित है। वस्तुतः, भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव आजीविका के साधनों पर तथा आजीविका के साधनों का प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर पड़ता है। परिणामस्वरूप, किसी देश के

निवासी कर्मठ हो जाते हैं, तो किसी देश के निवासी अकर्मण्य। उदाहरणार्थ, पूर्व वैदिक काल के आर्यों को जिन भौगोलिक परिस्थितियों में रहना पड़ता था, वे पर्याप्त कठोर थीं, परिणामस्वरूप उनके व्यक्तित्व में भी कठोरता थी। अतः, उनकी भाषा भी ओजपूर्ण तथा सशक्त थी। जब आर्य लोग गंगा-यमुना के मैदान में आये, तो उनका जीवन कुछ सुखमय हो गया, परिणामस्वरूप उनकी भाषा में भी सूक्ष्मता तथा कोमलता का समावेश हो गया। अभी तक आर्यों की भाषा का प्रभाव अन्य भाषाओं पर नहीं पड़ा था, क्योंकि तब तक अन्य जातियों से उनका सम्पर्क नहीं हुआ था। परन्तु जब आर्यों का विस्तार उड़ीसा और बंगाल तक हो गया, तो समुद्र-यात्राओं द्वारा उन्होंने सुमात्रा-जावा आदि द्वीपसमूह की भाषाओं को भी अत्यधिक प्रभावित किया।

संक्षेप में, भौगोलिक कारणों से जिन जातियों का सम्पर्क बाह्य देशों तथा जातियों से नहीं हो पाता, वहाँ की भाषा, बाह्य प्रभाव से अप्रभावित रहने के कारण, बहुत दिनों तक अपेक्षाकृत अपरिवर्तित बनी रहती है। इसके विपरीत, जिन जातियों का सम्पर्क बाह्य देशों तथा जातियों से अधिक होता है, वहाँ की भाषा अपेक्षाकृत शीघ्र परिवर्तित हो जाती है। अतः, भाषा-परिवर्तन पर आवागमन की सुविधाओं-असुविधाओं का प्रभाव अधिक पड़ता है तथा ये सुविधाएँ-असुविधाएं भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। उदाहरणार्थ—पहाड़ों, जंगलों, दलदलों से घिरे प्रदेश में आवागमन कठिन होता है तथा समुद्रतट वाले प्रदेश में नौकायन की सुविधा होती है, आदि-आदि। भाषा-परिवर्तन इस असुविधा-सुविधा पर पर्याप्त निर्भर रहता है।

(७) ऐतिहासिक प्रभाव

सामान्यतया तो इतिहास के अन्तर्गत धर्म, समाज, संस्कृति-सम्बन्धी सभी परिवर्तन आ जाते हैं; किन्तु, यहाँ ऐतिहासिक प्रभाव से तात्पर्य विशेष रूप से राज्यसत्ता-परिवर्तन के प्रभाव से ही है, जिसे हम राजनीतिक प्रभाव भी कह सकते हैं।

भारत में प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक अनेक विदेशी आक्रमण हुए हैं, जिनके परिणामस्वरूप आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी में अरबी, फारसी, तुर्की तथा अंग्रेजी के अनेक शब्द मिलते हैं। हिन्दी में हवा, किताब, तावीज आदि शब्द अरबी से; ईमान, इनाम, फुर्सत आदि फारसी से; चाकू, कैंची, गलीचा आदि तुर्की से; तथा ऑफिस, कॉलिज, गिलास आदि अंग्रेजी से आये हैं। ऐसे शब्दों की संख्या बहुत बड़ी है। यहाँ केवल निदर्शनमात्र के लिए कुछ शब्द प्रस्तुत किये गये हैं। शब्दों के साथ ही हिन्दी की अनेक ध्वनियाँ तथा वाक्यविन्यास की शैली भी विदेशी भाषाओं से प्रभावित है।

निष्कर्ष यह है कि जब किसी देश पर विदेशी सत्ता का अधिकार होता है, तो उस देश की भाषा भी विदेशी भाषा से प्रभावित हो जाती है। परिणामस्वरूप, उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं—ध्वनियों में भी, शब्दों में भी तथा वाक्य-विन्यास-शैली में भी।

(८) सांस्कृतिक प्रभाव

जब-जब कोई देश या जाति यह अनुभव करती है कि वह अपनी मूल संस्कृति से दूर होती जा रही है, तब-तब उस देश या जाति में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की महान् घटनायें घटित हुआ करती हैं। भारत में १९ वीं शताब्दी में महर्षि स्वामी दयानन्द द्वारा 'आर्यसमाज' की स्थापना ऐसी ही घटना थी, जिसके कारण भारतीयों का ध्यान अपनी प्राचीन संस्कृति की ओर गया तथा भाषा में प्राचीन संस्कृत शब्दों को पुनः स्वीकार किया जाने लगा। महात्मा गाँधी द्वारा संचालित 'स्वाधीनता-आन्दोलन' भी ऐसी ही दूसरी घटना थी, जिसके कारण भारतवासियों का ध्यान स्वदेशी वस्तुओं की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। परिणामस्वरूप, 'स्वतन्त्रता', 'स्वभाषा', 'सत्याग्रह', 'अहिंसा', 'अनशन' आदि शब्द हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होने लगे।

इसी प्रकार इस्लामी संस्कृति तथा योरोपीय संस्कृति का प्रभाव भी आधुनिक भारतीय भाषाओं पर पड़ा है।

'देवानां प्रिय', 'असुर' तथा हिन्दू' शब्दों का अर्थ-परिवर्तन भी भाषा पर पड़े सांस्कृतिक प्रभाव का ही सूचक है।

(९) सामाजिक प्रभाव,

सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव भी भाषा पर पड़ता है। यदि समाज में सुव्यवस्था है, शान्ति है, मर्यादा है तो भाषा भी नियन्त्रित, शुद्ध तथा अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील रहती है। इसके विपरीत यदि समाज में अव्यवस्था है, उच्छृंखलता है, अशान्ति है, युद्धकाल है; तो भाषा में भी स्वच्छन्द प्रयोगों का बाहुल्य बढ़ जाता है। मनमाने ढंग से शब्दों का प्रयोग होने लगता है तथा इस प्रकार भाषा में परिवर्तनशीलता बढ़ जाती है।

(१०) वैयक्तिक प्रभाव

महान् व्यक्तियों के व्यक्तित्व का प्रभाव भी भाषा पर पड़ता है। 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' तथा 'महात्मा गाँधी' का उल्लेख पहले हो चुका है। साहित्यिक क्षेत्र में 'तुलसी', 'कबीर' आदि का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था। 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' के वैयक्तिक प्रभाव से हिन्दी में संस्कृत शब्दों का, 'गाँधी जी' के प्रभाव से संस्कृत, अरबी, फारसी शब्दों का, (हिन्दुस्तानी) व्यवहार बढ़ गया था। इसी प्रकार 'तुलसी' के प्रभाव से हिन्दी में अवधी शब्दों का प्रयोग बढ़ा तथा 'कबीर' ने भाषा को खिचड़ी स्वरूप प्रदान किया।

(११) जाति-विशेष का प्रभाव

विभिन्न देशों की विभिन्न संस्कृतियों के समान ही भिन्न-भिन्न जातियों का रुझान विशेष-विशेष विद्याओं या कलाओं की ओर होता है। उन-उन विशेष विद्याओं या कलाओं में उनकी विशेष गति होती है। उस विद्या या कला-विशेष से सम्बन्धित विशिष्ट शब्दावली भी उन-उन भाषाओं में विकसित हो जाती है। जैसे जर्मनी में दर्शन, गणित तथा भाषाविज्ञान का अधिक विकास होने के कारण वहाँ इन विद्याओं

से सम्वन्धित शव्दावली पर्याप्त विकसित है। भारत में अध्यात्म एवं दर्शन का अधिक विकास हुआ है। अतः, तत्सम्वन्धी विचारों को प्रकट करने की भारतीय भाषाओं में पर्याप्त क्षमता है।

संक्षेप में, जव कोई अन्य जाति इस प्रकार की विद्याओं या कलाओं को ग्रहण करना चाहती है, तो उससे सम्वद्ध विशेष शव्दावली भी उस विद्या या कला को ग्रहण करने वाली जाति की भाषा में सम्मिलित हो जाती है। परिणामस्वरूप, उसकी भाषा के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है।

विशेष परिस्थितियों में भी जव दो या अधिक जातियाँ परस्पर मिलती हैं, तो विद्या या कला-विशेष में उन्नति प्राप्त जाति अन्य जातियों को प्रभावित करती हैं, जिसका प्रभाव भाषा पर भी पड़ता ही है।

(१२) साहित्यिक प्रभाव

समय-समय पर साहित्य की धारा में परिवर्तन होता रहता है। कभी वह वीरों का स्तुतिगान करती है, तो कभी ईश्वर की स्तुति में लग जाती है। कभी शृंगार-भावनाओं को प्रकट करती है तो कभी नये-नये प्रयोगों की ओर उन्मुख होती है। साहित्य में कभी आभिजात्य वर्ग की भावनाओं को प्राधान्य मिलता है, तो कभी जनसामान्य की भावनाओं को। परिणामस्वरूप, भाषा में भी तत्तद् भावों की अभिव्यक्ति के लिए विशेष समर्थ शव्दावली का विकास हो जाता है। साहित्य में जव आभिजात्य वर्ग की भावनाओं का प्राधान्य रहता है, तो भाषा भी सुसंस्कृत, परिमार्जित तथा शुद्ध रहती है, किन्तु जनसामान्य की भावनाओं का प्राधान्य होने पर भाषा भी प्राकृत, अनगढ़ तथा अपेक्षाकृत कम शुद्ध रहती है। संस्कृत के वाद प्राकृत (पालि आदि) भाषाओं का साहित्य इसका उदाहरण है। 'तुलसीदास' जी ने संस्कृत को छोड़कर इसीलिए अवधि में रचना की थी।

(१३) वैज्ञानिक प्रभाव

आधुनिक वैज्ञानिक तथा तकनीकी युग में भाषा भी वैज्ञानिक तथा तकनीकी शव्दावली से समृद्ध हो गयी है, जिसे हम भाषा पर पड़ा वैज्ञानिक प्रभाव कह सकते हैं। भाषा पर वैज्ञानिक प्रभाव को मुद्रण की दृष्टि से भी स्वीकार किया जा सकता है, जिसके कारण लिपि में अनेकरूपता के स्थान पर एकरूपता को महत्त्व दिया जाता है। ञ्, म्, ङ्, ण्, न् इन पाँचों अनुनासिकों के स्थान पर केवल अनुसार (ं) का प्रचलन इसी का उदाहरण है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी भाषा-परिवर्तन के अन्य अनेक कारण हो सकते हैं। वस्तुतः, इनकी संख्या निश्चित करना कठिन ही है। अतः, दिशानिर्देश के लिये मुख्य कारणों की चर्चा ही यहाँ की गयी है।

भाषा की सामान्य विशेषताएँ तथा प्रवृत्तियाँ

विश्व की सभी भाषाओं में जो प्रवृत्तियाँ सामान्यरूप से पायी जाती है, यहाँ उनका परिचय, संक्षेप में, प्रस्तुत किया जा रहा है। भाषा की प्रमुख प्रवृत्ति परिवर्तन-शीलता का परिचय पहले विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है। अन्य प्रवृत्तियों का परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

(१) भाषा सामाजिक सम्पत्ति है।

भाषा का मुख्य उद्देश्य ही सामाजिक व्यवहार है। अकेले व्यक्ति को तो भाषा की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। अतः, जहाँ समाज होता है, वहीं भाषा होती है। समाज में, परस्पर व्यवहार में ही भाषा विकास होता है तथा भाषा में नयी ध्वनियाँ, नये शब्द तथा वाक्यविन्यास की नयी शैली विकसित होती है।

कोई भी नवजात शिशु किसी भी भाषा को नहीं बोलता है। प्रत्येक बालक अपने आस-पास के समाज से ही भाषा सीखता है। अतः, हम कह सकते हैं कि भाषा कोई जन्म से प्राप्त वस्तु नहीं है। हाँ, भाषा को सीखने की शक्ति या भाषणशक्ति तथा भाषणावयव–मुख, जिह्वा आदि अवश्य ही मनुष्य को जन्म से प्राप्त होते हैं। समाज में सबसे पहले बालक का सम्पर्क अपनी माता से ही होता है, शैशवावस्था तक वह उसी के निकट-सम्पर्क में अधिक रहता है। अतः, उसकी सर्वप्रथम भाषा-गुरु भी माँ ही होती है। माँ की ही भाषा को बालक सर्वप्रथम सीखता है। मातृभाषा का यही तात्पर्य है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो बच्चा, जिस समाज में जन्मत-पलता है, वह उसी समाज की भाषा को सीखता-बोलता है। परीक्षणों से यह भी ज्ञात हुआ है कि जिन बच्चों को समाज से दूर रक्खा गया है, वे किसी भी भाषा को बोलने में असमर्थ रहे हैं। मिस्र में राजा 'सेमेटिकुस' तथा भारत में सम्राट 'अकबर' द्वारा मानव-सम्पर्क से दूर रक्खे गये बच्चों तथा भेड़िया आदि जंगली जीवों द्वारा उठाये गये बच्चों का उदाहरण इस विषय में प्रायः दिया जाता है।

(२) भाषा व्यक्तिगत वस्तु नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा समाज की सम्पत्ति है। अतः, भाषा का निर्माण भी समाज ही करता है। सामाजिक स्वीकृति के बिना भाषा का निर्माण तो दूर, उसमें थोड़ा सा भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। हाँ, प्रतिभाशाली साहित्यकार या प्रभावशाली समाजसेवक भाषा में गिने-चुने शब्दों का योगदान कर सकता है, किन्तु इतने मात्र से ही तो कोई व्यक्ति भाषा का निर्माता नहीं बन सकता। भाषा में जो परिवर्तन होता है वह व्यक्तिकृत नहीं अपितु समाजकृत ही होता है। हाँ, किसी भाषा का व्याकरण कोई व्यक्ति अवश्य बना सकता है।

(३) भाषा अर्जित सम्पत्ति है, परम्पराप्राप्त नहीं ।

भाषा सामाजिक तथा परम्परागत वस्तु होते हुए भी किसी व्यक्ति को, पैतृक-सम्पत्ति की भाँति, जन्म से ही स्वतः ही प्राप्त नहीं होती । मनुष्य को, भाषा को अपने प्रयास से सीखना पड़ता है । समाज, भाषा के अर्जन में व्यक्ति की सहायता अवश्य करता है और इस रूप में व्यक्ति अपने माता-पिता आदि से भाषा सीखता ही है । किन्तु, जिस प्रकार, विना प्रयास किये भी, माता-पिता की भौतिक सम्पत्ति सन्तान को प्राप्त हो जाती है, उस रूप में उसे भाषा प्राप्त नहीं हो सकती । हाँ, माता-पिता या समाज के सहयोग से, अनायास या किसी श्रम का अनुभव किये बिना ही व्यक्ति भाषा को सीख लेता है । भाषा का सामाजिक व्यवहार इसमें व्यक्ति का मार्गदर्शन करता है, किन्तु उसका अनुकरण व्यक्ति को ही स्वयं करना पड़ता है ।

संक्षेप में, क्योंकि भाषा को सीखकर उसका अर्जन करना पड़ता है, अतः उसका अर्जित सम्पत्ति होने का यही प्रमाण है । भाषा की इस विशेषता के अनुसार व्यक्ति अपनी मातृ-भाषा के समान ही दूसरी अनेक भाषाओं का भी अर्जन कर सकता है । भाषा के प्रसंग में सम्पत्ति का अभिप्राय केवल इतना ही है कि इसके द्वारा जीवनयात्रा सरल हो जाती है ।

(४) भाषा सर्वव्यापक होते हुए भी स्थानीकृत होती है ।

जहाँ-जहाँ मनुष्य है, उसका समाज है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र भाषा विद्यमान है । अकेला व्यक्ति यद्यपि बोलता नहीं है, तथापि अपनी मानसिक विचारधारा में तो वह भाषा का आश्रय लेता ही है । महान् मनीषी 'भर्तृहरि' ने इसी रूप में शब्द-ब्रह्म का प्रतिपादन किया है—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड—१.२४ ।

अर्थात् विश्व में ज्ञात ऐसा कोई विषय नहीं है, जो शब्द (भाषा) का आश्रय न लेता हो । सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से अनुस्यूत हुआ-सा ही प्रतीत होता है ।

इसके अतिरिक्त भाषा के द्वारा लोक-यात्रा भी सहज हो जाती है—

"वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।" —काव्यादर्श १।३॥

तथा भाषा के द्वारा पदार्थों के विषय में व्यवहार करने में सरलता हो जाती है—

"अणीयस्त्वाच्च शब्देन सञ्ज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके ।"

निरुक्त, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद ।

अतः, लोकयात्रा में सहायक होने के कारण भाषा सर्वव्यापिनी है ।

भाषा के सर्वव्यापक होने पर भी हम देखते हैं कि सभी मनुष्य एक ही भाषा का प्रयोग नहीं करते हैं । भारत, जर्मन, रूस, अमेरिका आदि देशों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं । हमारे देश भारत में ही अनेक भाषाएँ हैं । फिर, थोड़े-थोड़े

स्थानभेद से भी भाषा-भेद हो जाता है। इसी भाषा-भेद को भाषा का स्थानीकृत रूप कहा जाता है। इस स्थानीकरण का मुख्य आधार भौगोलिक होता है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि भेद स्थानीकृत ही हैं। कभी-कभी इससे छोटे भूभागों में भी भाषा स्थनीकृत हो जाती है ।

(५) भाषा का आरम्भ वाक्यों से हुआ है।

हम भाषा का प्रयोग अपने भावों या विचारों को प्रकट करने के लिये ही करते हैं। भाव या विचार एक सम्पूर्ण इकाई है, जिसे खण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता। हमारे विचार की ही अभिव्यक्ति वाक्य के द्वारा होती है । संक्षेप में, विचार का ही बाह्य रूप वाक्य होता है तथा वाक्य का ही आन्तरिक रूप विचार होता है।

अतः, विचार की अभिव्यक्ति वाक्य द्वारा ही हो सकती है, न कि पद द्वारा। यद्यपि कभी-कभी, संक्षेप की दृष्टि से, केवल एक पद-'जाओ', 'गाओ' आदि का भी प्रयोग हम करते हैं, किन्तु ऐसे प्रयोगों में एक पद भी पूरे वाक्य का ही कार्य करता है, क्योंकि उसके द्वारा ही हमारा पूरा विचार प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब कोई रुग्ण, दुर्बल, वृद्ध व्यक्ति रोगशैया पर पड़ा 'पानी' कहता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि 'मुझे पानी पिलाओ ।'

इसी प्रकार लम्बे वाक्यों का प्रयोग करने में असमर्थ छोटे शिशु भी प्रायः वाक्यों के स्थान पर पदों का ही प्रयोग करते हैं। किसी दूसरी भाषा में अविदग्ध या अनिपुण व्यक्ति तो प्रायः शब्दों (विभक्ति-रहित पदों) के प्रयोग से वाक्यों का काम लेते हैं। कोई अंग्रेज व्यक्ति भारत में आकर यहाँ की भाषा को न जानने के कारण केवल 'पानी' शब्द द्वारा ही अपनी पानी की इच्छा को व्यक्त कर सकता है।

संसार की आदिम जातियों की भाषाओं को देखने से भी यह बात पुष्ट होती है कि भाषा का आरम्भ वाक्यों से ही हुआ है। उदाहरणार्थ-उत्तरी अमरीका के आदि-वासियों की भाषा, 'चेरोकी' (cheroki) में १३ ऐसी वाक्य-स्वरूप क्रियायें हैं, जो विभिन्न प्रकार के 'धोने' के अर्थ को प्रकट करती हैं, 'हाथ धोना', वस्त्र धोना, 'सिर धोना' आदि-आदि। इन वाक्य-स्वरूप क्रियाओं में से केवल 'धोना' को प्रकट करने वाले अंश का ज्ञान अभी तक नहीं हो सका है।

इसी प्रकार उत्तरी अमरीका के 'रेड इण्डियन्स' की भाषाओं में भी ऐसे अनेक वाक्यों का प्रयोग होता है, जो देखने में शब्द-सदृश होते हैं और जिन्हें हम वाक्य-शब्द कह सकते हैं। उनकी प्राचीन 'हूरोन-इरोक्वा' (Huron Iroquois) भाषा ऐसी ही है।

अधिक क्या, बोलते समय प्रायः सभी व्यक्ति पदों को पृथक्-पृथक् न बोलकर एक वाक्य के रूप में ही बोलते हैं। वक्ता अपने अभिप्राय को प्रायः एक ही साथ वाक्य के रूप में प्रकट करता है। लिखते समय पदों के मध्य जो स्थान छोड़ा जाता

है, वस्तुतः, बोलते समय वैसा हम नहीं करते हैं। यही कारण है कि 'सब ही' को सभी या 'अब ही' को अभी बोला तथा सुना जाता है।

निष्कर्ष यह है कि भाषा की आरम्भिक दशा में वाक्य का ही प्रयोग होता है; वाक्य का पदों में विश्लेषण, बाद में, भाषा पर विचार करने वाले वैयाकरणों द्वारा ही किया जाता है। जिन भाषाओं में अभी व्याकरण का विकास नहीं हुआ है, उन्हें देखने से यह तथ्य नितान्त स्पष्ट हो जाता है। अतः, भाषा का चरम अवयव वाक्य ही है, पद नहीं। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में स्पष्ट कहा है—

'वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।'—१/७३।

अर्थात् वाक्य से पृथक् पदों का कोई अस्तित्व नहीं है।*

(६) व्यावहारिक दृष्टि से भाषा का चरम अवयव पद (शब्द) है।

यद्यपि तात्पर्य प्रकट करने की (पारमार्थिक) दृष्टि से भाषा का चरम अवयव वाक्य ही है, किन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि वाक्य का विश्लेषण पदों में किया जाता है। किसी भी ऐसी भाषा में जिसका व्याकरण बन चुका है, वैयाकरणों का मुख्य उद्देश्य ही यह होता है। अन्य तथ्यों से भी इस बात का समर्थन होता है—

(क) व्यवहार में वस्तुओं या पदार्थों के लिए हम संज्ञा-पदों का ही प्रयोग करते हैं, जो वाक्य-जैसे दिखलाई नहीं पड़ते; जैसे गाय, घोड़ा, कौवा आदि। यही बात गुणवाची शब्दों के विषय में भी कही जा सकती है; जैसे काला, पीला, कड़ुवा, मीठा, नमकीन आदि।

(ख) भाषा को सीखते समय एक-एक शब्द (पद) को हम सीखते तथा स्मरण करते हैं।

(ग) शब्द-कोशों में भाषा में प्रयुक्त शब्दों का ही संग्रह होता है, न कि वाक्यों का।

(घ) सामान्य दृष्टि से शब्दों को वाक्य का स्वतन्त्र चरम अवयव तथा वाक्य को शब्दों का समूह समझा जाता है—

"पदसमूहो वाक्यम् अर्थपरिसमाप्तौ"—न्यायवात्स्यायनभाष्य २/१/५५.

(ङ) कोई भी भाषा-विशेष से परिचित व्यक्ति सहज ही वाक्य को पदों या शब्दों में विभाजित कर लेता है। वाक्य-विशेष में कितने पद या शब्द हैं,—यह जानने तथा बतलाने में उसे कठिनाई नहीं होती।

(च) सन्धि-युक्त भाषाओं में भिन्न-भिन्न पदों को मिलाने के लिए ही सन्धि-नियम बनाये जाते हैं। यदि पद पृथक्-पृथक् न हों तो सन्धि-नियम व्यर्थ हो जाते हैं।

---

*इस प्रसङ्ग में 'शब्द' और 'पद' के अन्तर को मस्तिष्क में रखना उपयोगी है। 'शब्द' अर्थात् मूलशब्द (प्रकृति) का वाक्य में प्रयोग नहीं हो सकता। मूलशब्द में कारक-विभक्ति-सूचक प्रत्यय (सुप या तिङ्) लगने पर 'पद' बनता है। वाक्य में 'पद' का ही प्रयोग होता है, शब्द का नहीं। उदाहरणार्थ—'राम' शब्द है तथा 'रामः' पद है, क्योंकि इसमें राम + स् (विभक्ति) जुड़ी है।

इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से पद या शब्द ही, भाषा का चरम अवयव प्रतीत होता है। लिखित भाषा में पदों के बीच में स्थान छोड़कर लिखने से भी सामान्य रूप से यही ज्ञात होता है।*

(७) भाषा की सामान्य प्रवृत्ति संयोग से वियोग की ओर होती है।

संयोग के लिए 'संहिति' या 'संश्लेषावस्था' तथा वियोग के लिए 'व्यवहिति' या 'विश्लेषावस्था' शब्दों का व्यवहार भी किया जाता है। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'भाषा-रहस्य' में व्यक्त किया है कि—

"भाषा प्रारम्भिक काल में जटिल, समस्त और स्थूल रहती है, धीरे-धीरे वह सरल, व्यक्त, सूक्ष्म और सुकुमार होती जाती है।"

पहले समझा जाता था कि भाषाएँ अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वियोगावस्था में रहती हैं, अर्थात् उनमें शब्दों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है तथा बाद में वे संयोगावस्था को प्राप्त हो जाती हैं।[1]

इसके पक्ष में निम्नलिखित तीन तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(क) चीनी भाषा आज भी अपनी आदिम अवस्था—व्यासावस्था में ही है, क्योंकि उसके वाक्यों में सभी शब्द स्वतन्त्र रहते हैं। उसमें कर्त्ता, कर्म आदि का सूचक कोई प्रत्यय या विभक्ति प्रयुक्त नहीं होती, अपितु इनका कार्य 'सुर' या वाक्य में शब्द के 'स्थान' से लिया जाता है।

---

*यहाँ 'शब्द' तथा 'पद' पर्यायवाची हैं।

१. इसके स्पष्टीकरण के लिए वाक्यरचना के विभिन्न प्रकारों को समझना आवश्यक है। विश्व की समस्त भाषाओं में चार प्रकार की वाक्यरचना प्राप्त होती है—(१) व्यासप्रधान, जिस वाक्य में सभी शब्द पृथक्-पृथक् अपना स्वतन्त्र स्वरूप रखते हैं; जैसे, राम, घोड़ा, हाथी आदि। (२) प्रत्ययप्रधान, जिसमें कुछ शब्दों ने घिसकर प्रत्ययों का रूप ले लिया है और वाक्य में स्वतन्त्र न रहकर दूसरे शब्दों के साथ जुड़कर प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'रामवत्' या 'कृष्णवत्' आदि। यहाँ 'वत्' प्रत्यय है। (३) विभक्तिप्रधान, जिसमें प्रत्यय इतना घिस जाते हैं कि वे मूलशब्द से मिलकर एकरूप ही हो जाते हैं। इनके मिलने से मूलशब्द में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है, जैसे 'रामाय' या 'कृष्णाय' आदि। (४) समासप्रधान, जिसमें प्रकृति (मूल शब्द) तथा प्रत्यय परस्पर इस प्रकार संश्लिष्ट हो जाते हैं कि उन्हें पहचाना ही नहीं जा सकता, जबकि प्रत्ययप्रधानता या विभक्तिप्रधानता की अवस्था में उनका पृथक् स्वरूप भी झलकता रहता है; जैसे, संस्कृत का 'आर्जव' शब्द। यहाँ 'ऋजु' मूल शब्द तथा 'अण्' प्रत्यय को पृथक्-पृथक् पहचानना असम्भव है।

पहले विद्वानों का विचार था कि भाषाओं का स्वाभाविक विकास इसी रूप में हुआ है, अर्थात् वियोगावस्था या व्यासावस्था से संयोगावस्था या समासावस्था की दिशा में।

(ख) आज के प्रत्यय पहले शब्द ही थे। घिसते-घिसते शब्द ही आज प्रत्यय बन गये हैं। जैसे, अंग्रेजी शब्द 'गोडली' (Godly) में आज जो 'ली' (-ly) प्रत्यय है, वह पहले 'लिक' (Lik) शब्द के रूप में ही था। इसी प्रकार 'फ्रैण्डशिप' का 'शिप' पहले 'शेप' (Shape) था। संस्कृत का 'मध्ये' शब्द ही घिसकर हिन्दी की 'में' विभक्ति हो गया है।

(ग) पाश्चात्य तर्कशास्त्र के 'चिन्तनाणुवाद' के द्वारा भी भाषा के आरम्भिक रूप को व्यासप्रधान सिद्ध किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जैसे प्रत्येक अणु की सत्ता स्वतन्त्र है तथा अणुओं के मिलने से ही कोई पदार्थ बनता है, उसी प्रकार हमारे प्रत्येक भावखण्ड या विचारखण्ड की सत्ता भी स्वतन्त्र है, उन्हीं खण्डों के मिलने से कोई सम्पूर्ण विचार बनता है। 'शब्द' विचारखण्ड का प्रतीक है तथा 'वाक्य' सम्पूर्ण विचार का। पहले मनुष्य के मन में विचार-खण्ड आये, फिर सम्पूर्ण विचार अतः, भाषा की आरम्भिक अवस्था में पहले शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग हुआ, फिर शब्दों से बने वाक्यों का। इस प्रकार भाषा का आरम्भ शब्दों से हुआ है, वाक्यों से नहीं।

वस्तुतः, उपर्युक्त तर्क निस्सार हैं, विद्वानों ने उनका खण्डन इस प्रकार किया है—

(i) चीनी भाषा का आज, ३००० वर्ष पश्चात् भी व्यासावस्था में रहना ही स्वतः इस बात का प्रमाण है कि भाषाएँ वियोगावस्था से संयोगावस्था की ओर प्रवृत्त नहीं होती, अन्यथा चीनी भाषा भी आज संयोगावस्था को प्राप्त हो जाती है, जबकि ऐसा हुआ नहीं है।

(ii) यद्यपि कुछ प्रत्ययों को देखने से ऐसा लगता है कि वे पहले स्वतन्त्र शब्द रहे थे, किन्तु सभी प्रत्ययों के विषय में यह कथन सत्य सिद्ध नहीं होता है। अतः यह तर्क भी 'अपवाद' मात्र ही है।

(iii) 'चिन्तनाणुवाद' भी असिद्ध हो चुका है। स्वयं पाश्चात्य विचारक अब इसे स्वीकार नहीं करते हैं। यह प्रमाणित हो चुका है कि वक्ता एक सम्पूर्ण भाव या विचार को प्रकट करना चाहता है तथा श्रोता भी सम्पूर्ण विचार को ही ग्रहण करता है, भले ही उसके लिए केवल एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता हो। उदाहरणार्थ बच्चे द्वारा या अशक्त रोगी द्वारा प्रयुक्त 'दूध' या 'पानी' शब्द।

(iv) इसके अतिरिक्त आज भी कुछ ऐसी भाषाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें वाक्य-शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे उत्तरी अमरीका की 'हूरोन-इरोक्वा' भाषा तथा उत्तरी अमरीका के रेड इण्डियन्स की 'चेरोकी' भाषा। इन भाषाओं में प्रयुक्त वाक्यों में से अभी तक भी शब्दों को पृथक्-पृथक् करना सम्भव नहीं हो सका है।

(v) बोलचाल की भाषा में हम सदैव ऐसा अनुभव करते हैं कि बोलते समय शब्दों को पृथक्-पृथक् करके नहीं बोला जाता। इसी कारण 'सब:ही' जैसे शब्द 'सभी' बोले जाने लगे हैं। भाषा का उच्चरित या बोलचाल वाला रूप ही प्राचीन होता है। अतः, प्रमाणित होता है कि भाषा का आरम्भिक रूप समस्त ही होता है।

(vi) पहले भाषा वनती है। व्याकरण बाद में बनता है। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का विश्लेषण व्याकरण द्वारा ही होता हैं। अतः, स्पष्ट है कि बोलचाल की संश्लिष्ट भाषा ही, वाद में साहित्यिक विशिष्ट भाषा का रूप ग्रहण करती है। इसका पूर्ण श्रेय वैयाकरणों को ही मिलता है।

(vii) अनेक भाषाओं के इतिहास को देखने से भी यही ज्ञात होता है कि आरम्भिक भाषाएँ समासावस्था में ही रही हैं। यूरोप का लिथुआनियाँ प्रदेश चारों ओर से पर्वतों, दलदलों से घिरा होने के कारण वाह्य सम्पर्क से असम्पृक्त रहा है; अतः, वहाँ की भाषा 'लिथुआनी' आज ३००० वर्षों के बाद भी अपनी प्राचीन समासावस्था में ही है।

(viii) कुछ भाषाएँ जैसे 'हिब्रू' तथा 'अवेस्ता' प्राचीनकाल में अत्यधिक संश्लिष्ट थीं, किन्तु उनका विकसित आधुनिक रूप पर्याप्त विश्लिष्ट हो गया है। हिब्रू के ही वर्ग की अरबी भाषा तो अभी तक पर्याप्त संश्लिष्ट ही है। शासकों की भाषा होने के कारण उसमें परिवर्तन कम मात्रा में हुआ है।

(ix) भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को देखने से भी प्रतीत होता है कि वे आरम्भिक अवस्था में संश्लिष्ट ही थीं तथा बाद में विश्लिष्ट हो गयी हैं। उदाहरणार्थ—वैदिक तथा संस्कृत पर्याप्त संश्लिष्ट थीं, पालि तथा प्राकृत कुछ मात्रा में विश्लिष्ट हुईं, किन्तु अपभ्रंश में होकर आगे विकसित होती हुई आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ पूर्णतया विश्लिष्ट हो गयी हैं।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि भाषाओं की सामान्य प्रवृत्ति संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर होती है, वियोगावस्था से संयोगावस्था की ओर नहीं।

[अध्याय ३]

विश्व-भाषाओं का वर्गीकरण

१. उद्देश्य, उपयोगिता तथा ज्ञातव्य

२. विश्व की भाषाओं की संख्या

३. विश्व-भाषाओं के वर्गीकरण के प्रमुख आधार

४. आकृतिमूलक वर्गीकरण

५. पारिवारिक वर्गीकरण

६. विश्व के भाषा-परिवारों का संक्षिप्त परिचय

[अध्याय ३]

विश्व भाषाओं का वर्गीकरण

(Classification of Languages)

प्रस्तुत अध्याय में विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण तथा प्रमुख भाषा-वर्ग का सामान्य परिचय दिया जायगा।

१. वर्गीकरण का उद्देश्य

उद्देश्य—विश्व में अनेक जातियों तथा अनेक देशों की भाँति ही अनेक भाषाएँ हैं। अन्य विषयों की भाँति ही, मनुष्य के मस्तिष्क में विश्व की भाषाओं के सम्बन्ध में भी अनेकविध जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ—सम्पूर्ण विश्व की भाषा एक ही है या अनेक हैं? अनेक भाषाएँ हैं, तो उनकी संख्या कितनी है? उनमें परस्पर क्या समानता या विषमता है? उस समानता या विषमता के आधार पर विश्व की भाषाओं को कितने समूहों या वर्गों में रखा जा सकता है? आदि-आदि प्रश्नों का समाधान विश्व की भाषाओं के वर्गीकरण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

उपयोगिता—आज का युग, वैज्ञानिक युग है। आज प्रत्येक विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का महत्त्व है। अतः, भाषा का क्षेत्र भी उससे वंचित नहीं है। भाषाओं के वर्गीकरण के द्वारा हमें उनके वैज्ञानिक अध्ययन में सुविधा हो जाती है। साथ ही, भाषाओं को विभिन्न वर्गों में रखना भी स्वयं में एक वैज्ञानिक उपलब्धि है। अतः, भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषाओं के वर्गीकरण को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

ज्ञातव्य—भाषाओं के वर्गीकरण के प्रसङ्ग में भाषाविज्ञान के प्रत्येक पाठक के लिये ज्ञातव्य विषय निम्नलिखित हैं—

(१) विश्व में कितनी भाषाएँ हैं?

(२) विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण किन-किन आधारों पर किया जाता है?

(३) किस वर्गीकरण से विश्व की भाषाओं के कुल कितने वर्ग बनते हैं?

(४) पाठक की अपनी भाषा का सम्बन्ध विश्व की भाषाओं के कौन-से वर्ग से है?

(५) पाठक की भाषा से सम्बन्धित भाषावर्ग या भाषापरिवार का विकास प्रारम्भ से आज तक किस रूप में हुआ है?

भाषाओं के वर्गीकरण में रुचि रखने वाले भाषाविज्ञान के सामान्य पाठक का उद्देश्य इतने अध्ययन से पूर्ण हो जाता है। विशेष जिज्ञासा या अध्ययन के लिए वह इससे आगे भी प्रवृत्त हो सकता है।

२. विश्व की भाषाओं की संख्या

विश्व की सभी भाषाओं की गणना हो चुकी है, यह कहना सन्दिग्ध है। ऐसी

दशा में विश्व की भाषाओं की कुल संख्या बतला पाना बहुत कठिन ही नहीं असम्भव भी है। फिर भी, विद्वानों ने इस दिशा में प्रयास किया है। कुछ लोगों के अनुसार विश्व की भाषाओं की कुल संख्या २७९६ है।[1] तथापि, इस सम्बन्ध में हमारा अवलम्बन अनुमान ही है। अनुमानतः विश्व में भाषाओं की कुल संख्या लगभग ३००० स्वीकार की जाती है। इतनी भाषाओं में से प्रत्येक का ज्ञान प्राप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिये न तो सम्भव ही है और न व्यावहारिक ही। अतः, यहाँ वर्गीकरण द्वारा विश्व की भाषाओं का स्थूल परिचय ही पर्याप्त समझना चाहिए।

३. विश्व-भाषाओं के वर्गीकरण के प्रमुख आधार

भाषाओं के वर्गीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में, भाषाओं का वर्गीकरण देश; जाति या धर्म के आधार पर किया जाता था; किन्तु, वह नितान्त अनुपयोगी सिद्ध हुआ। इस प्रकार के वर्गीकरण में विभिन्न भाषाओं के स्वरूप का ज्ञान ठीक-ठीक नहीं हो पाता था। कारण, कभी तो असमान भाषाएँ भी एक वर्ग में परिगणित हो जाती थीं, तथा कभी समान भाषाएँ भी एक ही वर्ग में नहीं आ पाती थीं। अतः, देश, जाति या धर्म के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण उपयुक्त नहीं माना गया।

आजकल विश्व की भाषाओं के केवल दो वर्गीकरण ही प्रचलित हैं—

१. आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण, जिसमें आकृति अर्थात् रूपतत्त्व की समानता को आधार बनाया जाता है।

२. पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण, जिसमें अर्थतत्त्व तथा रूपतत्त्व दोनों को आधार बनाया जाता है।

४. आकृतिमूलक वर्गीकरण

(Morphological or Syntactical Classification)—

नामकरण—आकृति अर्थात् शब्दों या पदों की रचना के आधार पर जो वर्गीकरण किया जाता है, वह आकृतिमूलक वर्गीकरण कहा जाता है। एक ही मूल शब्द (अर्थतत्त्व) से विभिन्न प्रत्यय लगाकर जो अनेक पद बनाये जाते हैं, उन पदों में लगने वाले प्रत्ययों का ही दूसरा नाम रूप (रूपतत्त्व) है। अतः, इस रूप (रूपतत्त्व) के कारण, इसी आकृतिमूलक वर्गीकरण का दूसरा नाम रूपात्मक वर्गीकरण भी है। पदरचना तथा वाक्यरचना भी आकृति के ही अन्तर्गत है, अतः इसी वर्गीकरण को पदात्मक या वाक्यमूलक भी कह दिया जाता है। संक्षेप में, आकृति, रूप, रचना, पद या वाक्य, ये सभी यहाँ पर्याय हैं। अतः, इनमें से किसी भी शब्द का प्रयोग इस वर्गीकरण के नाम के लिए कर लिया जाता है। अंग्रेजी में इसे Morphological या Syntactical Classification कहा जाता है। इस प्रकार आकृतिमूलक वर्गीकरण में विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त पदों की आकृति अर्थात् रूप-रचना[2] पर ध्यान दिया जाता है।

---

१. देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० ९७.

२. आकृति या रूप-रचना का स्पष्टीकरण—वाक्य में प्रयुक्त पदों में से प्रत्येक पद के दो विभाग होते हैं—मूलशब्द और प्रत्यय (या विभक्तिचिह्न)।

५. विश्वभाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत भाषाओं में 'आकृति' की समानता देखी जाती है। प्रायः सभी भाषावैज्ञानिकों ने अपने ग्रन्थों में आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण किया है। डॉ० पी० डी० गूणे[1], डॉ० तारापुरवाला[2], डॉ० मंगलदेव शास्त्री[3], डॉ० बाबूराम सक्सेना[4], डॉ० भोलानाथ

मूल शब्द—जिसे संस्कृत-व्याकरण में 'प्रातिपदिक' कहा जाता है। इसे प्रत्येक पद में प्रयुक्त होने वाली कच्ची सामग्री कह सकते हैं। संस्कृत में 'राम' प्रातिपदिक से सात विभक्तियों में २१ पद बनते हैं— रामः' से लेकर 'रामेषु' तक।

'प्रत्यय' (या विभक्ति-चिह्न)—जिन्हें संस्कृत-व्याकरण में 'सुप्' और 'तिङ्' आदि कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'राम' प्रातिपदिक में 'सु' प्रत्यय या विभक्ति-चिह्न लगने पर ही 'रामः' पद बनता है। इसी प्रकार 'पठ्' धातु (धातु का अर्थ भी यहाँ मूल पदार्थ ही है, जैसे आभूषणों में मूल पदार्थ या धातु 'सोना', 'चाँदी' आदि) से 'तिप्' प्रत्यय लगने पर ही 'पठति' पद बनता है।

'राम' तथा 'पठ्' आदि में बिना कोई प्रत्यय या विभक्ति-चिह्न लगाये, इनको 'पद' नहीं बनाया जा सकता तथा न ही इनका प्रयोग वाक्य में किया जा सकता है— 'नाविभक्तिकं पदं प्रयुञ्जीत' अर्थात् बिना विभक्ति वाले पद का प्रयोग वाक्य में नहीं करना चाहिए। संस्कृत-वैयाकरणों का उपर्युक्त नियम इस विषय में हमारा मार्ग दर्शक है।

'भाषाविज्ञान' में मूल शब्द या प्रातिपदिक को 'अर्थतत्त्व' तथा विभक्ति-चिह्न या प्रत्यय को 'रूपतत्त्व' कहा जाता है। रूपतत्त्व के द्वारा ही एक पद का सम्बन्ध वाक्य के दूसरे पदों से होता है; अतः, रूपतत्त्व का ही दूसरा नाम 'सम्बन्धतत्त्व' भी है। उदाहरणार्थ—

'रामः पठति'

इस संस्कृत-वाक्य में 'राम' तथा 'पठ्' अर्थतत्त्व हैं और विसर्ग (:) तथा 'ति' सम्बन्धतत्त्व है।

'राम ने मोहन को मारा'

इस हिन्दी वाक्य में 'राम', 'मोहन', तथा 'मारना' (क्रिया) अर्थतत्त्व हैं और 'ने', 'को' तथा 'मारा' में 'ा' सम्बन्धतत्त्व वा रूपतत्त्व हैं। उपर्युक्त रूपतत्त्व क्रमशः 'कर्त्ता' 'कर्म' तथा 'क्रिया के काल आदि' के सूचक हैं तथा बतलाते हैं कि पदों का परस्पर क्या सम्बन्ध है।

१. An Introduction to Comparative Philology. pp. 99–102.
२. Elements of the Science of Language. pp. 22–23,
३. तुलनात्मक भाषाशास्त्र, पृ० ६८।
४. सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १२१–१२५।

तिवारी,[1] डॉ० मनमोहन गौतम[2] आदि विद्वानों के ग्रन्थों में थोड़े-बहुत अन्तर के साथ भाषाओं का जो आकृतिमूलक वर्गीकरण मिलता है, उसको सुव्यवस्थित रूपरेखा के साथ, हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर भाषाओं को, सर्वप्रथम, दो भागों में विभक्त किया जाता है :—

(१) अयोगात्मक (Isolating)—वह भाषा-वर्ग, जिसकी भाषाओं में अर्थतत्त्व (प्रकृति) के साथ रूपतत्त्व (प्रत्यय) का योग नहीं होता है।

(२) योगात्मक (Agglutinating)—वह भाषा-वर्ग, जिसकी भाषाओं में अर्थतत्त्व (प्रकृति) के साथ रूपतत्त्व (प्रत्यय) का योग होता है।

अर्थतत्त्व (प्रकृति) के साथ रूपतत्त्व (प्रत्यय) के योग की शैली के आधार पर योगात्मक भाषाओं को पुनः तीन विभागों में विभक्त किया जाता है :—

(क) अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान (Agglutinating)

(ख) श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान (Inflecting)

(ग) प्रश्लिष्ट या समासप्रधान (Incorporating)

इस प्रकार अयोगात्मक का १ तथा योगात्मक के ३ भेदों को जोड़कर, आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर विश्व की भाषाओं को कुल ४ वर्गों में विभाजित किया जाता है :—

(१) अयोगात्मक भाषाएँ (Isolating Languages)

(२) अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान भाषाएँ (Agglutinating Languages)

(३) श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषाएँ (Inflecting Languages)

(४) प्रश्लिष्ट या समासप्रधान भाषाएँ (Incorporating Languages)

१. अयोगात्मक भाषाएँ (Isolating Languages)

हिन्दी में इस वर्ग को 'निरवयव' या 'व्यासप्रधान' भी कहा जाता है। इसी प्रकार अंग्रेजी में इसे "Inorganic" भी कहते हैं। इस वर्ग की भाषाओं में प्रयुक्त शब्द, मात्र अर्थतत्त्व अर्थात् प्रकृति ही होते हैं। प्रत्यय लगाकर उनके विभिन्न रूप नहीं बनते। अतः, इस वर्ग की भाषाओं को धातुप्रधान या एकाक्षर भी कहते हैं। इन भाषाओं में रूपतत्त्व का काम 'स्थान', 'निपात शब्द' या 'सुर' से लिया जाता है।

अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं के वाक्यों में सभी शब्द स्वतन्त्र होते हैं। संस्कृत या अन्य भाषाओं के अव्यय शब्दों की भाँति उनके रूप नहीं चलते, अतः संस्कृत आदि भाषाओं के समान कारकरचना तथा कालरचना भी उनमें नहीं होती और न ही शब्दों के 'संज्ञा', 'सर्वनाम', 'क्रिया' तथा क्रियाविशेषण' आदि भेद ही होते हैं। अतः, इस वर्ग की भाषाओं के व्याकरण-ग्रन्थों में प्रकृति-प्रत्यय-विचार-जैसा कोई अध्याय नहीं होता है।

---

१. भाषाविज्ञान, पृ० ५४।

२. सरल भाषाविज्ञान, पृ० ७८।

'अयोगात्मक वर्ग' की भाषाओं के वाक्यों में किस शब्द का क्या अर्थ है ? यह निर्णय (१) वाक्य में उस शब्द के स्थान, (२) उस शब्द के साथ प्रयुक्त 'निपात शब्द' या (३) उस शब्द में प्रयुक्त सुर (लहजा या उदात्तादि स्वर) के द्वारा होता है। अतः, इस वर्ग की भाषाओं में स्थान, निपात तथा सुर का बहुत महत्त्व है।

अयोगात्मक वर्ग की प्रमुख भाषा चीनी है। इसके अतिरिक्त सूडानी, तिब्बती, बर्मी तथा स्यामी भाषाएँ भी इसी वर्ग की हैं। इन भाषाओं से कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं :—

स्थान के आधार पर अर्थ-निर्णय

चीनी भाषा के निम्नलिखित वाक्यों में शब्दों का स्थान बदल देने पर उनका अर्थ भी बदल जाता है। प्रथम वाक्य में तीन शब्द हैं, जिनका स्वतन्त्र अर्थ इस प्रकार है :—

शब्द		अर्थ
न्गो	=	मैं
नी	=	तू
ता	=	मारना

इन तीन शब्दों को, वाक्य में यदि—

न्गो ता नी।

इस क्रम से रक्खा जाय, तो अर्थ होगा :—

मैं मारता हूँ तुझे (मैं तुझे मारता हूँ)।

किन्तु, यदि स्थान बदल कर इस क्रम से रक्खा जाय—

नी ता न्गो।

तो अर्थ भी इस प्रकार बदल जायगा :—

तू मारता है मुझे (तू मुझे मारता है)।

इसी प्रकारः—(२) ता लेन = बड़ा आदमी (है)।

किन्तु, लेन ता = आदमी बड़ा (है)।

(३) ता कुओक = बड़ा राज्य,

किन्तु, कुओक ता = राज्य बड़ा (है)।

निपात शब्द के आधार पर अर्थ-निर्णय

चीनी आदि भाषाओं में 'निपात'* शब्द की सहायता से भावों को स्पष्टता प्रदान की जाती हैः—उदाहरणार्थ—"मु (माता) छिह (का) त्सु (पुत्र)"।

---

*यहाँ यह जानना आवश्यक है कि इन भाषाओं में दो प्रकार के शब्द होते हैं—(१) Full words (पूर्ण शब्द) तथा (२) Empty words (रिक्त शब्द)। इन रिक्त शब्दों को ही 'निपात' कहा जाता है। ये अपने स्वतन्त्र अर्थों को कहने के साथ ही साथ गौण या सहायक अर्थों को भी कहते हैं, और इनका यह गौण अर्थ सम्बन्ध-तत्त्व-जैसा ही होता है।

इस वाक्य में 'छिह' एक निपात के रूप में प्रयुक्त है, जो यह स्पष्ट करता है कि पुत्र माता का ही है, अन्य किसी का नहीं। साथ ही, उपर्युक्त वाक्य में 'छिह' (का) केवल सम्बन्धकारक का ही कार्य कर रहा है, यद्यपि इसके अन्य स्वतन्त्र अर्थ 'जाना', 'वह' आदि भी हैं।

'निपात' द्वारा अर्थ-परिवर्तन का उदाहरण निम्नलिखित वाक्य में देखा जा सकता है—

"वांग (राजा) पाओ (रक्षा करना) मिन (जनता)"।

अर्थात् 'राजा जनता की रक्षा करता है।' किन्तु, इस वाक्य में 'वांग' के बाद 'छिह' निपात का प्रयोग करने पर अर्थ होगा—

वांग छिह पाओ मिन = राजा द्वारा रक्षित जनता।

संक्षेप में, निपात से इन भाषाओं में निम्नलिखित दो काम लिये जाते हैं— (१) शब्दों के अर्थों में परिवर्तन करना तथा (२) शब्दों के अर्थों की सूक्ष्मता को प्रकट करना।

सुर (लहजा या Tone) के आधार पर अर्थ-निर्णय

संस्कृत के पाठक वैदिक भाषा के उदात्त-अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों से परिचित हैं। उन्हें ही यहाँ 'सुर' कहा गया है। तात्पर्य है, किसी शब्द का उच्चारण करते समय उसमें प्रयुक्त किसी स्वर को उदात्त-अनुदात्त की भाँति ही आवाज में उतार-चढ़ाव लाकर बोलना। अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में 'सुर' के प्रयोग से अर्थों में बड़ा भारी अन्तर हो जाता है। चीनी भाषा का एक शब्द उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। 'क्वेइ' शब्द में 'इ' (स्वर) का उच्चारण यदि उदात्त हो, तो इसका अर्थ होगा—'दुष्ट', किन्तु 'इ' का उच्चारण यदि अनुदात्त हो, तो अर्थ होगा 'सम्मान्य'। इस प्रकार एक ही विशेषण, भिन्न सुरों (उदात्त और अनुदात्त) के भेद से नितान्त विरोधी अर्थों को प्रकट करता है।

चीनी भाषा में मुख्य रूप से चार प्रकार के सुरों का व्यवहार होता है—

(१) सामान्य—सम्पूर्ण शब्द का सामान्य लहजा।

(२) नीचे से ऊँचाई की ओर—शब्द का पूर्वांश नीचे सुर में तथा उत्तरांश ऊँचे सुर में।

(३) ऊँचाई से नीचे की ओर—संख्या २ के विपरीत अर्थात् पूर्वांश ऊँचे तथा उत्तरांश नीचे सुर में।

(४) उच्च—सम्पूर्ण शब्द का उच्चारण उच्च सुर में।

उदाहरण के लिए "ब ब ब ब" इन चार अक्षरशब्दों का उच्चारण चार विभिन्न सुरों में करने से अर्थ होगा "तीन महिलाओं ने, राजा के, कृपापात्र के, कान उमेठे"। इसी प्रकार 'येन' इस एक शब्द का अर्थ भी सुर-भेद से चार प्रकार का हो

जाता है—हँस, धुँआ, नमक और आँख। इससे प्रकट होता है कि इन भाषाओं में सुर आदि के प्रयोग द्वारा शब्दों की कमी को दूर करने का उपाय किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में स्थान, निपात तथा सुर का वड़ा महत्त्व है। इन भाषाओं का व्याकरण इन्हीं का विवेचन करता है। यद्यपि सामान्य रूप से इस वर्ग की सभी भाषाओं में इनका महत्त्व है, तथापि कुछ भाषाओं में इनमें से किसी एक का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक रहता है। उदाहरणार्थ अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में से—

(१) चीनी भाषा में स्थान तथा सुर का,
(२) सूडानी भाषा में स्थान का, तथा
(३) स्यामी भाषा में सुर का: तथा
(४) वर्मी-तिब्वती में निपात का,

विशेष महत्त्व है।

(२) अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान भाषाएँ (Agglutinative Languages)

यह योगात्मक वर्ग की भाषाओं का एक उपवर्ग या विभाग है। 'श्लिष्ट' का अर्थ है अत्यधिक चिपका हुआ। इसमें निषेधात्मक 'अ' जोड़ने से अर्थ हुआ, जो अत्यधिक चिपका हुआ नहीं है। फिर भी चिपका हुआ तो है ही। अतः, अश्लिष्ट वर्ग की भाषाएँ वे हैं, जिनमें प्रत्यय (सम्वन्धतत्त्व या रूपतत्त्व) प्रकृति (अर्थतत्त्व) से चिपका हुआ तो रहता है, किन्तु इतना अधिक चिपका हुआ नहीं कि उसे पृथक् रूप में न जाना जा सके। वस्तुतः, 'प्रत्यय' कहा ही उस रूपतत्त्व को जाता है, जो इस प्रकार पृथक् पहचाना जाने वाला होता है। अन्यथा, वह विभक्ति या समास नाम से ही जाना जाता है, जैसाकि आगे के भेदों में हम देखेंगे।

इस वर्ग के नाम के आधार पर ही हम इस वर्ग की भाषाओं की विशेषताओं को समझ सकते हैं। जिस प्रकार संस्कृत, हिन्दी आदि में 'घनत्व', 'विनम्रता' आदि शब्दों में स्पष्ट है, कि 'घन' प्रकृति से 'त्व' तथा विनम्र' प्रकृति से 'ता' प्रत्यय जुड़ा है, उसी प्रकार प्रकृति + प्रत्यय की स्पष्टता इस वर्ग की भाषाओं में प्रायः देखी जाती है। 'वन्तु', 'यूराल', 'अल्ताई', 'द्रविड़' भाषा परिवारों की अधिकांश भाषाएँ तथा मुण्डा भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। इस वर्ग की भाषाओं की रचना को समझने के लिए अल्ताई परिवार की तुर्की भाषा, जो 'पर-प्रत्यय-संयोगी' भाषा है, से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—अत् (घोड़ा) + लर (वहुवचन का प्रत्यय) = अतलर (अनेक घोड़े)।

प्रत्यय, प्रकृति के पूर्व जुड़ता है, प्रकृति के मध्य में जुड़ता है वा प्रकृति के अन्त में जुड़ता है, इस आधार पर प्रत्ययप्रधान भाषाओं को पुनः ५ उपविभागों में रक्खा गया है—

(२/क) पुरः प्रत्यय-संयोगी (Prefix-agglutinative)

नाम से ही स्पष्ट है कि इन भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के पूर्व में जुड़ता है। इन प्रत्ययों की तुलना संस्कृत भाषा के 'उपसर्गों' से की जा सकती है। दक्षिणी

अफ्रीका के 'वन्तू' भाषा-परिवार की भाषाएँ इनका उदाहरण हैं, जिनमें से 'काफिरी' संज्ञक भाषा के उदाहरण से हम इस भाषा-वर्ग की रचना को भली-भाँति समझ सकते हैं।

'काफिरी' भाषा के कुछ सर्वनाम इस प्रकार हैं—

जे = वह
नि = वे
ति = हम

इन सर्वनामों में कर्मवाचक प्रत्यय 'कु' जोड़ने पर उनका रूप होगा—

कुजे = उसको
कुनि = उनको
कुति = हमको

इसी प्रकार 'बन्तू' परिवार की ही एक अन्य भाषा 'ज़ुलू' से भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है। 'ज़ुलू' भाषा में 'न्तु' शब्द का अर्थ है 'मनुष्य'। इस भाषा में वचनसूचक प्रत्यय इस प्रकार हैं—

उमु = एकवचन का सूचक प्रत्यय।
अव = बहुवचन का सूचक प्रत्यय।

अब यदि एक मनुष्य को सूचित करना होगा, तो, 'न्तु' के पूर्व 'उमु' प्रत्यय जुड़कर रूप बनेगा—

उमु = (एक)
\+ न्तु = (आदमी) } उमुन्तु = एक आदमी।

इसी प्रकार अनेक मनुष्यों के लिए—

अव = (अनेक)
\+ न्तु = (आदमी) } अवन्तु = अनेक आदमी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस वर्ग की भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के पूर्व जुड़ता है तथा उसे पृथक् रूप में पहचाना जा सकता है।

(२/ख) परप्रत्यय-संयोगी (Suffix Agglutinative)

इन भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति में 'पर' अर्थात् बाद में जुड़ता है। इस वर्ग की भाषाओं में 'यूराल', 'अल्ताई' तथा द्रविड़'-भाषा-परिवार आते हैं, जिनमें अनेक भाषाएँ हैं। इस वर्ग की भाषाओं में पहले प्रकृति, फिर वचनसूचक प्रत्यय तथा उसके बाद कारकसूचक प्रत्यय लगता है। उदाहरण—'अल्ताई' परिवार की 'तुर्की' भाषा से—

अत् (प्रकृति) = घोड़ा।
\+ लर (बहुवचनप्रत्यय) = घोड़े।
\+ ई (कर्मकारकप्रत्यय) = को। } = अतलरी = घोड़ों को।

(२/ग) मध्यप्रत्यय-संयोगी (Infix agglutinative)

भारत के 'मुण्डा' भाषा-परिवार की 'संथाली' भाषा, इसी वर्ग की है। संथाली भाषा में प्रत्यय, प्रकृति के मध्य में जुड़ता है। उदाहरण—

मंझि = एक मुखिया।

अब यदि 'अनेक मुखिया' कहना हो, तो बहुवचन का सूचक प्रत्यय 'प' उपर्युक्त 'मंझि' शब्द के मध्य में जुड़कर रूप बनेगा—

मपंझि = अनेक मुखिया।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण है—

दल् = मारना, जो केवल एक के द्वारा मारने के अर्थ का सूचक है। किन्तु यदि 'परस्पर मारना' सूचित करना हो, तो उसके लिए भी प्रत्यय 'प' ही है, जिसे 'दल्' प्रकृति के मध्य जोड़ना पड़ता है—

दल् = मारना।
दपल = परस्पर मारना।

इसके अतिरिक्त 'मलाया भाषा-परिवार' की 'टगलॉग' भाषा भी मध्य प्रत्यय-संयोगी ही है। मध्य प्रत्यय-संयोगी भाषाओं में मूलशब्द (प्रकृति) दो अक्षरों का होता है।

(२/घ) पूर्वान्त प्रत्यय-संयोगी (Prefix-Suffix-agglutinative)

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस वर्ग की भाषाओं में प्रत्यय, प्रकृति के पहले तथा प्रकृति के बाद में, दोनों स्थानों पर लगता है। न्यूगिनी द्वीप की 'मफ़ोर' भाषा इसी परिवार की है। उदाहरण—

म्नफ़् = सुनना

ज + म्नफ़् + उ = जम्नफ़ु = मैं सुनता हूँ तुझे (अर्थात् मैं तेरी बात सुनता हूँ)।

इस प्रकार यहाँ 'म्नफ़्' प्रकृति के पूर्व में 'ज' तथा अन्त में 'उ' प्रत्यय लगा है।

(२/ङ) सर्वप्रत्यय-संयोगी

कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें आदि, मध्य तथा अन्त, तीनों स्थानों पर प्रत्यय जुड़ते हैं। स्वाभाविक रूप से ही उन्हें सर्वप्रत्यय-संयोगी कहा गया है। 'मलय शाखा' की भाषाएँ इसका उदाहरण हैं।

(२/च) ईषत्प्रत्यय-संयोगी (Partially agglutinative)

प्रत्ययप्रधान भाषाओं के उपर्युक्त वर्गों के अतिरिक्त कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें प्रत्ययप्रधानता के साथ ही साथ विभक्ति तथा समास आदि की विशेषताएँ भी मिलती हैं, उन्हें ईषत्प्रत्यय-संयोगी कहा गया है। इस शीर्षक से यह भी स्पष्ट होता है कि अभी प्रत्ययप्रधान भाषाओं का अध्ययन पूर्ण रूप से नहीं हो पाया है। न्यूजीलैण्ड तथा हवाई द्वीपों में बोली जाने वाली भाषाएँ ईषत्प्रत्यय-संयोगी हैं।

(३) श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषाएँ (Inflecting Languages)

श्लिष्ट से यहाँ तात्पर्य है—प्रकृति से प्रत्यय का घनिष्ठता के साथ संयुक्त होना। अश्लिष्ट या प्रत्ययप्रधान भाषाओं में प्रत्यय प्रकृति से जुड़कर भी अपना स्वरूप पृथक् बनाये रखता है। साथ ही, प्रत्यय जुड़ने से प्रकृति में कोई विकार भी नहीं होता है। प्रकृति और प्रत्यय की यह स्पष्टता ही वहाँ अश्लिष्टता है, जिसे प्रत्ययप्रधानता कहा गया है।

इसके विपरीत, जब प्रकृति और प्रत्यय घनिष्ठता से संयुक्त होते हैं, तो इसे श्लिष्टता कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्यय जुड़ने से प्रकृति में भी विकार हो जाता है तथा प्रकृति और प्रत्यय को पृथक्-पृथक् पहचानना कठिन हो जाता है। इस रूप में प्रत्यय, प्रत्यय न कहलाकर 'विभक्ति' कहा जाता है। इसीलिए इस वर्ग की भाषाओं को भी विभक्तिप्रधान भाषाएँ कहा जाता है।

प्रत्ययप्रधान भाषाओं की अपेक्षा विभक्तिप्रधान भाषाओं की रूप-रचना क्लिष्ट होती है। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा अरबी इसी प्रकार की भाषाएँ हैं।

श्लिष्ट या विभक्तिप्रधान भाषाओं को भी दो उपवर्गों में बाँटा गया है—

(३/क) अन्तर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाएँ—इनमें विभक्ति, प्रकृति के अन्दर ही जुड़ती है। 'सामी परिवार' की प्रमुख भाषा अरबी तथा 'हामी परिवार' की मिस्री भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। इन भाषाओं की प्रकृति (मूलशब्द) में प्रायः तीन व्यञ्जन ध्वनियाँ होती हैं तथा प्रत्यय प्रायः स्वर होते हैं। उदाहरण, अरबी भाषा से—

(i) प्रकृति (धातु या मूलशब्द) है—क् त् ल् अर्थात् मारना। इसमें विभिन्न स्वरों अर्थात् प्रत्ययों को जोड़कर :—

क़तल = उसने मारा, क़ातिल = मारने वाला, क़ितल = आघात, क़िल्ल = शत्रु क़ुतिल = वह मारा गया तथा यक़्तुलु = वह मारता है, आदि-आदि अनेक रूप बनाये जाते हैं।

(ii) इसी प्रकार 'क् त् ब्' धातु में स्वरों अर्थात् प्रत्ययों को जोड़कर 'किताब' = पुस्तक, कातिब = लिखने वाला, कुतुब = पुस्तकें, मकतब = स्कूल, कुतबा = लेख, मकतूब = लिखित तथा मक़्तूबात = (लिखित का बहुवचन) आदि अनेक रूप बनते हैं।

अन्तर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाओं में भी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

(३/कI) संयोगात्मक—उदाहरण 'अरबी' भाषा।

(३/कII) वियोगात्मक—उदाहरण 'हिब्रू' भाषा।

(३/ख) बहिर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाएँ—इनमें विभक्ति (प्रत्यय) प्रकृति के बाहर जुड़ती है। यह प्रकृति के पूर्व में भी जुड़ सकती है तथा बाद में भी। भारोपीय परिवार की भाषाएँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि इसी वर्ग की हैं।

उदाहरण, संस्कृत भाषा से :—

(i) भवति = यहाँ 'भू (भव्)' प्रकृति (धातु) से, 'अ' विकरण तथा 'ति' प्रत्यय (विभक्ति) बाद में प्रकृति के बाहर ही लगा है।

(ii) सम्भवति = यहाँ 'भू (भव्) प्रकृति (धातु) से 'सम्' प्रत्यय (जो उपसर्ग कहा जाता है) पूर्व (बाहर ही) लगा है तथा 'अ' विकरण तथा 'ति' प्रत्यय विभक्ति बाद में (बाहर) लगी है।

इसी प्रकार 'रामः' में विसर्ग (: = सु) 'रामम्' में 'अम्' आदि भी प्रकृति के बाहर ही जुड़े हैं।

बहिर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाओं की भी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(३ख I) संयोगात्मक—जैसे 'संस्कृत'।

(३ख II) वियोगात्मक—जैसे आधुनिक भाषा 'हिन्दी'।

४. प्रश्लिष्ट या समासप्रधान भाषाएँ (Incorporating languages)

प्रश्लिष्ट से तात्पर्य है—प्रकर्षता के साथ (प्र) चिपका हुआ (श्लिष्ट)। जिन भाषाओं में प्रकृति के साथ प्रत्यय का योग इस रूप में पाया जाता है, उन्हें समास-प्रधान भाषाएँ कहा जाता है। इन भाषाओं के शब्दरूपों में प्रकृति या प्रत्यय की पृथक्-पृथक् रूप में कल्पना करना तक कठिन होता है। उन्हें पृथक्-पृथक् रूप से बिलकुल भी नहीं जाना जा सकता। इसके साथ ही, अनेक प्रकृतियाँ (अर्थतत्त्व) भी एक साथ प्रश्लिष्ट रहते हैं। उत्तरी अमरीका की 'चेरोकी' भाषा, ग्रीनलैण्ड की 'एस्किमो' भाषा तथा पिरेनीज पर्वतमाला की 'बास्क' (Basque) भाषा इसी वर्ग की हैं।

इन प्रश्लिष्ट या समासप्रधान भाषाओं के भी दो उपविभाग हैं:—(क) पूर्ण प्रश्लिष्ट, या पूर्णतया समासप्रधान भाषाएँ तथा (ख) आंशिक प्रश्लिष्ट या आंशिक समासप्रधान भाषाएँ।

(४/क) पूर्ण प्रश्लिष्ट या पूर्णतया समासप्रधान भाषाएँ:—इन भाषाओं में प्रकृति तथा प्रत्यय आदि के रूप में, 'संज्ञा', 'सर्वनाम', विशेषण' आदि 'कर्ता', 'कर्म' तथा 'क्रिया' आदि सबको एक समान समस्त पद के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। सम्पूर्ण वाक्य एक पद-जैसा प्रतीत होता है, जिसे वाक्यपद भी कह सकते हैं। 'चेरोकी' भाषा का यह प्रसिद्ध उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है:—

नाधोलिनिन = हमारे लिए एक नौका लाओ।

इस उदाहरण में यद्यपि तीन शब्दों की कल्पना की गयी है:—

नतेन = लाना (क्रिया)

अमोखोल = नौका (संज्ञा कर्म)

निन = हम (सर्वनाम, सम्प्रदान)

तथापि उपर्युक्त 'नाधोलिनिन' में ये तीन पद वस्तुतः, कहाँ, किस रूप में समस्त हैं तथा उनमें किस अंश का क्या अर्थ है ? यह जानना सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार ग्रीनलैण्ड की 'एकस्मिको' भाषा में भी:—

अउलिसअर्तोरसुअर्पोरक=वह मछली मारने के लिए जाने की शीघ्रता करता है।

इसमें भी शब्दों की कल्पना इस प्रकार की गयी है:—

अउलिसर=मछली मारना (क्रिया)।

पेअर्तोर=किसी कार्य में लगना (सामान्य क्रिया)।

पिन्नेसुअर्पोक=वह शीघ्रता करता है (सर्वनाम तथा क्रिया)।

किन्तु, यही तीन शब्द उपर्युक्त उदाहरण में हैं, यह कहना कठिन ही है।

(४ख) **आंशिक प्रश्लिष्ट या आंशिक समासप्रधान भाषाएँ**:—ये भाषाएँ वे हैं, जिनमें पूर्ण प्रश्लिष्ट की भांति कर्ता, क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि सबका समास न होकर मुख्य रूप से सर्वनाम तथा क्रिया का ही समास होता है। फलतः, इन भाषाओं में उतने वड़े-वड़े वाक्यपद प्राप्त नहीं होते हैं। पिरेनीज पर्वतमाला में बोली जाने वाली 'वास्क' भाषा ऐसी ही है। उसी भाषा से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं:—

हर्कात्=मैं तुझे (सर्वनाम) ले जाता हूँ (क्रिया)।

नकार्सु=तू मुझे (सर्वनाम) ले जाता है (क्रिया)।

दकार्किओत्=मैं इसे उसके (सर्वनाम) पास ले जाता हूँ (क्रिया)।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त भाषाओं में प्रायः सभी पद पूरे-पूरे वाक्यों के रूप में ही व्यवहृत होते हैं।

इस प्रकार आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत विश्व की भाषाओं को उपर्युक्त चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया है।

आकृतिमूलक (रूपात्मक) वर्गीकरण की समीक्षा

भाषावैज्ञानिकों में डॉ० तारापुरवाला[1] तथा डॉ० श्यामसुन्दरदास[2] ही ऐसे हैं जो 'आकृतिमूलक वर्गीकरण' को वैज्ञानिक तथा उपयोगी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार विश्व की भाषाओं में जो पारस्परिक मौलिक भेद है, उसे समझने के लिए उनकी वाक्यरचना को समझना आवश्यक है। आकृतिमूलक वर्गीकरण में हम ऐसा ही करते हैं। अतः, इस वर्गीकरण की अत्यधिक उपयोगिता है। इतना ही नहीं उनके अनुसार यह वर्गीकरण सर्वाधिक विश्वसनीय भी है।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त शेष भाषावैज्ञानिकों ने इस वर्गीकरण की निम्नलिखित न्यूनताओं की ओर संकेत किया है:—

(१) संसार की सभी भाषाओं को इस वर्गीकरण के अनुसार केवल चार ही वर्गों में रक्खा गया है, जो युक्तियुक्त नहीं है। इस वर्गीकरण में अनेक ऐसी भाषाओं को भी एक साथ रख दिया गया है, जो बहुत दूर-दूर की हैं तथा जिनमें परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए (क) अयोगात्मक वर्ग में चीनी तथा सूडानी (ख) प्रत्यय प्रधान वर्ग में तुर्की, काफिरी, मुण्डा तथा द्रविड़। ये भाषाएँ बहुत दूर-

(१) Elements of the Science of Language.

(२) भाषा रहस्य।

दूर पर स्थित हैं। अतः, इस वर्गीकरण में वैज्ञानिकता की कमी है। यह बहुत ही स्थूल है।

(२) आकृतिमूलक वर्गीकरण द्वारा वर्गीकृत कोई भाषा अपने वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करती, अपितु उसमें अन्य वर्गों के लक्षण भी दिखलायी पड़ते हैं। एक ही भाषा, जैसे संस्कृत में अश्लिष्ट (सुजनता), श्लिष्ट (भवति) तथा प्रश्लिष्ट (जिगमीषति) तीनों ही वर्गों की विशेषताएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार इस वर्गीकरण में विभिन्न वर्गों की निश्चित सीमा-रेखा नहीं है। इसमें संकर दोष है।

(३) संसार की समस्त भाषाओं का जब तक पूर्ण अध्ययन न हो जाय, तब तक उनकी आकृति को नहीं जाना जा सकता। जैसाकि सभी जानते हैं, अभी तक तो संसार की सभी भाषाओं का पता भी नहीं चल सका है, फिर उनके अध्ययन की बात तो बहुत ही दूर है। कुछ ज्ञात भाषाओं का अध्ययन भी अभी तक ठीक-ठीक नहीं हो सका है। अतः, ऐसी दशा में ज्ञात तथ्यों को अखण्डनीय नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार अनेक विद्वान् आकृतिमूलक वर्गीकरण की अपेक्षा 'परिवारिक वर्गीकरण' को अधिक वैज्ञानिक एवं महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[१] किन्तु, भाषाओं की रूप-रचना को समझने के लिए आकृतिमूलक वर्गीकरण की उपयोगिता भी स्वीकरणीय है।

पारिवारिक वर्गीकरण (Geneological classificatian)

जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है—अर्थतत्त्व तथा रूपतत्त्व (सम्बन्धतत्त्व) की समानता को आधार बनाकर भाषाओं का जो वर्गीकरण किया जाता है, वह पारिवारिक वर्गीकरण कहलाता है। इस वर्गीकरण के द्वारा उन सभी भाषाओं को एक भाषा-परिवार में रक्खा जाता है, जो किसी एक ही मूल भाषा से विकसित हुई हैं; उदाहरणार्थ, मूल भारोपीय भाषा से विकसित भारत और यूरोप में बोली जाने वाली सभी भाषाएँ भारोपीय भाषा-परिवार में रक्खी जाती हैं। कुछ विद्वानों ने इसे ऐतिहासिक वर्गीकरण (Historical classification) का नाम दिया है, जो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भाषाओं के वर्गीकरण के प्रसंग में 'परिवार' शब्द का प्रयोग रूपक के रूप में किया जाता है। अर्थात् जिस प्रकार मानव-परिवार में माता >पुत्री<नातिन उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार एक भाषा से कालान्तर में अन्य भाषाएँ विकसित होती हैं। किन्तु, मानव-परिवार तथा भाषा-परिवार में यह अन्तर है कि मानव-परिवार में माता से पुत्री (या पुत्रियाँ) नवीन व्यक्ति के रूप में जन्म लेती हैं तथा माता-पुत्री (या पुत्रियाँ) एक ही काल में साथ-साथ जीवित रह सकती हैं, परन्तु भाषा-परिवार में एक मूल भाषा से दूसरी भाषा (या भाषाओं) का नवीन भाषा के रूप में जन्म नहीं होता, अपितु मूलभाषा ही नवीन भाषा (या भाषाओं) के रूप में विकसित या परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार भाषा-परिवार में मूलभाषा तथा उससे विकसित भाषा (या भाषाएँ) एक ही समय में साथ-साथ नहीं रह सकतीं; उदाहरणार्थ—जब वैदिक भाषा से संस्कृत का विकास हुआ, तो

(१) डॉ॰ देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका, पृष्ठ १०५,

वैदिक भाषा, व्यवहार से बाहर हो गयी थी। इसी प्रकार संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से आधुनिक आर्यभाषाओं के विकसित होने पर भी पूर्व-पूर्व भाषाएँ व्यवहार की या बोल-चाल की भाषाएँ नहीं रही थी, तभी नवीन भाषाओं का व्यवहार सम्भव हो सका।[1]

पारिवारिक वर्गीकरण का आधार

पारिवारिक वर्गीकरण के आधार के सम्बन्ध में डॉ० बाबूराम सक्सेना का निम्नलिखित कथन महत्त्वपूर्ण है—

"पारिवारिक सम्बन्ध के लिए प्रायः स्थानिक समीपता से विचार उठता है; शब्दों की समानता से विचार को पुष्टि मिलती है, व्याकरण-साम्य से विचार वादरूप हो जाता है और यदि ध्वनि-साम्य भी निश्चित हो जाए तो सम्बन्ध पूरी तरह निश्चय-कोटि को पहुँच जाता है। यदि व्याकरण-साम्य न मिलता हो, तो विचार, विचार-कोटि से ऊपर नहीं उठ पाता।"[2]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार निम्नलिखित चार तत्त्व हैं—

(१) स्थानिक समीपता,
(२) शब्दों की समानता,
(३) व्याकरण-साम्य; तथा
(४) ध्वनि-साम्य।

डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा[3] ने पारिवारिक वर्गीकरण के आधार के रूप में छह तत्त्वों का उल्लेख किया है—

"(१) ध्वनि (२) पद-रचना (३) वाक्य-रचना (४) अर्थ (५) शब्दभाण्डार और (६) स्थानिक निकटता।"

ध्यान से देखने पर डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा के छहों तत्त्व डॉ० बाबूराम सक्सेना के चार तत्त्वों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। वस्तुतः, डॉ० शर्मा कथित 'शब्द-भाण्डार' और 'अर्थ' नामक दोनों तत्त्व डॉ० सक्सेना के 'शब्द-साम्य' नामक तत्त्व में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। कारण, 'शब्द-साम्य' के लिये 'अर्थ-साम्य' भी आवश्यक है। इसी प्रकार पद-रचना और वाक्य-रचना ये दोनों तत्त्व भी व्याकरण-साम्य में ही अन्तर्भूत हो

---

१. यहाँ 'भाषा' से तात्पर्य बोल-चाल की भाषा से ही है। क्योंकि, बोल-चाल की वैदिक से ही बोलचाल की संस्कृत तथा बोलचाल की संस्कृत से ही बोलचाल की प्राकृत आदि विकसित हो सकती हैं। साहित्यिक वैदिक, संस्कृत, प्राकृत आदि की समकालीन जो जन-बोलियाँ थीं, वे भी सामान्यतया वैदिक, संस्कृत, प्राकृत आदि ही कही जाती हैं। वस्तुतः, किसी भी एक साहित्यिक भाषा से किसी दूसरी साहित्यिक भाषा का जन्म नहीं होता है।

२. दे० सामान्य भाषाविज्ञान।

३. दे० भाषाविज्ञान की भूमिका।

जाते हैं। अतः, डॉ० सक्सेना के उपर्युक्त चार तत्त्वों पर विचार करना ही यहाँ उचित प्रतीत होता है।

(१) **स्थानिक समीपता**—इसे भौगोलिक निकटता भी कह सकते हैं। प्रायः देखा जाता है कि जो भाषाएँ आस-पास के भू-भागों में बोली जाती हैं, वे एक ही परिवार की होती हैं; उदाहरण के लिए–बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी और हिन्दी। किन्तु इतने पर भी, स्थानिक समीपता पारिवारिक वर्गीकरण का कोई पुष्ट या ठोस आधार नहीं है। इसमें भ्रम होना सम्भव है; उदाहरण के लिए—'मराठी और तेलुगु' या 'मराठी और कन्नड़' या 'तेलुगु और उड़िया' यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरें के नितान्त समीप हैं अर्थात् इनमें स्थानिक समीपता है, तथापि ये एक ही परिवार की भाषाएँ नहीं हैं।

इसके विपरीत, हिन्दी और अंग्रेजी में यद्यपि स्थानिक समीपता नहीं है, फिर भी ये दोनों एक ही परिवार की भाषाएँ हैं।

निष्कर्ष यह है कि भाषाओं की स्थानिक समीपता केवल उनकी पारिवारिक एकता की सम्भावना ही प्रकट करती है, किन्तु केवल इसी आधार पर किन्हीं भाषाओं को एक ही परिवार की मानना नितान्त भ्रम-पूर्ण ही है।

(२) **शब्दों की समानता**—शब्दों की समानता के लिए हमें केवल उन्हीं शब्दों को चुनना चाहिए, जिनका व्यवहार प्रत्येक समाज के सभी व्यक्तियों द्वारा किया जाता है; उदाहरण – माता-पिता, भाई-बहिन आदि पारिवारिक सम्बन्धों के द्योतक शब्द; आग, पानी, अन्न, चूल्हा आदि सर्वोपयोगी वस्तुओं के वाचक शब्द; मैं, तू, वह आदि सर्वनाम शब्द; एक, दो, तीन आदि संख्यावाची शब्द; तथा खाना-पीना, उठना-बैठना आदि सर्वसामान्य क्रियावाची शब्द।

उपर्युक्त शब्दों की समानता के आधार पर अनेक भाषाओं को एक ही परिवार की सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिये—भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं में 'पिता' (परिवार सम्बन्ध-वाचक) तथा 'सात' (संख्या वाचक) शब्द इस प्रकार हैं—

	संस्कृत	फारसी	ग्रीक	लैटिन	जर्मन	अंग्रेजी	हिन्दी
(i)	पितृ	पिदर	Pater	Pater	Vater	Father	पिता
(ii)	सप्त	हफ्त	hepta	Septem	Sieben	Seven	सात

इन दोनों शब्दों की समानता से सिद्ध होता है कि उपर्युक्त सभी भाषाएँ एक ही परिवार (भारोपीय) की भाषाएँ हैं। क्योंकि, उपर्युक्त शब्दों में जो थोड़ा-बहुत ध्वनि-सम्बन्धी भेद है, वह ध्वनि-नियमों के अनुसार ही है, जिससे उनकी समानता का खण्डन नहीं होता है।

शब्दों की समानता के लिये जो शब्द चुने जायें, उनमें ध्वनि-साम्य के साथ-साथ अर्थ-साम्य का होना भी आवश्यक है। जैसे हिन्दी 'पिता' और अंग्रेजी father। ऐसे शब्द, जो ध्वनि-साम्य तो रखते हैं, किन्तु अर्थ-साम्य नहीं रखते, उन्हें समान नहीं

समझना चाहिए; जैसे, 'हिन्दी' मेल अर्थात् मिलना-जुलना तथा अंग्रेजी mail अर्थात् डाक। यहाँ ध्वनि साम्य तो है, किन्तु अर्थ-साम्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त ध्वनि-साम्य दिखलाई न पड़ने पर भी संस्कृत 'श्वन्' तथा अंग्रेजी hound शब्दों में अर्थ-साम्य है, तथा इनमें जो ध्वनि भेद है, वह ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुसार ही है। अतः ऐसे शब्द 'सगोत्री' अर्थात् एक ही मूल भाषा में विकसित होने के कारण सब प्रकार से समान ही हैं।

शव्द-साम्य के लिये निम्नलिखित प्रकार के शब्दों को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये :—

(i) आकस्मिक समानता वाले शब्द—उदाहरण के लिये जर्मन भाषा के 'मान' (mann) और कोरियाई भाषा के 'मान' शब्द में ध्वनि तथा अर्थ की दृष्टि से साम्य है, क्योंकि दोनों का ही अर्थ 'मनुष्य' है, तथापि यह समानता आकस्मिक ही है, वास्तविक नहीं। इसी प्रकार अंग्रेजी near और भोजपुरी 'निअर' (समीप) में भी आकस्मिक समानता है।

(ii) ध्वन्यनुकरणमूलक शब्द—जैसे 'म्याँऊ' शब्द बिल्ली की बोली के अनुकरण पर बना है, तथा अनेक भाषाओं में प्रचलित है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकलना भ्रमपूर्ण होगा कि ये सभी भाषायें एक ही प्रकार की हैं।

(iii) उधार लिये गये शब्द—कभी-कभी किसी एक भाषा का कोई एक शब्द, अपने सम्पर्क में आने वाली सभी भाषाओं में प्रचलित हो जाता है; जैसे, चीनी भाषा का 'चा' शब्द रूसी, तुर्की, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में समान रूप में या थोड़े परिवर्तन रूप में व्यवहृत होता है। यह उन भाषाओं का अपना शब्द नहीं, अपितु 'चीनी' भाषा से उधार लिया हुआ है। अतः, इस शब्द के आधार पर भी उपर्युक्त भाषाओं को एक परिवार की सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अतः "संयोग, अनुकरण, आदान आदि कारणों से समान दीखने वाले शब्दों को बचाकर सगोत्री शब्दों के आधार पर किन्हीं भाषाओं के पारिवारिक सम्बन्ध की सम्भावनाओं पर विचार करना चाहिए।"[1]

(३) व्याकरण-साम्य—व्याकरण-साम्य से तात्पर्य है, पदरचना तथा वाक्य-रचना की समान शैली। अतः, शब्दों की समानता से अधिक महत्त्व व्याकरण-साम्य का है। कारण, शब्दों का आदान-प्रदान होने पर भी, सम्पर्क में आने वाली किन्हीं भी भाषाओं में व्याकरण-साम्य नहीं हो पाता है। उसकी पद-रचना तथा वाक्य-रचना की शैली अपनी ही रहती है। उदाहरण के लिये—हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों की भरमार होने पर भी उसकी वाक्य रचना लगभग अप्रभावित ही है।

अतः, जहाँ शब्दों की समानता से किन्हीं भाषाओं के एक परिवार का होने की मात्र सम्भावना प्रकट होती है, वहाँ व्याकरण-साम्य से उस सम्भावना की पुष्टि हो जाती है।

१. डॉ० रामेश्वरदयालु, मुग्धबोध भाषा-विज्ञान, पृ० १३६

(४) ध्वनि-साम्य—यद्यपि किसी मूल भाषा की ध्वनियाँ, उससे विकसित सभी भाषाओं में उसी रूप में नहीं मिलतीं तथा एक ही भाषा की ध्वनियाँ भी कालान्तर में बदल जाती हैं, तथापि प्रत्येक भाषा का ध्वनि-समूह अपने मूल स्वरूप की रक्षा बड़ी दृढ़ता के साथ करता है। अन्य भाषाओं के शब्दों को स्वीकार करते हुए भी सामान्यतया कोई भाषा उन भाषाओं की ध्वनियों को जैसें का तैसा अपने में स्वीकार नहीं करती है। उदाहरण के लिये हिन्दी में अरबी, फारसी, अंग्रेजी के अनेक शब्द आये हैं, किन्तु उनका स्वरूप हिन्दी ध्वनियों के अनुसार बदल गया है। फारसी का काग़ज हिन्दी में कागज हो गया है। इसी प्रकार अंग्रेजी का लैण्टर्न भी हिन्दी में लालटैन हो गया है। अतः, ध्वनि-साम्य रखने वाली भाषायें भी एक ही परिवार की मानी जानी चाहियें।

इस प्रकार स्थानिक समीपता, शब्द-साम्य, व्याकरण-साम्य तथा ध्वनि-साम्य ये चारों ही पारिवारिक वर्गीकरण का आधार हैं। इनमें व्याकरण (पदरचना तथा वाक्यरचना)–साम्य का महत्त्व सर्वाधिक है तथा स्थानिक समीपता का महत्त्व सबसे कम है। शब्द-साम्य तथा ध्वनि-साम्य से भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण में अत्यधिक सहायता मिलती है।

समीक्षा—यद्यपि आकृतिमूलक वर्गीकरण की अपेक्षा पारिवारिक वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक एवं पूर्ण है, किन्तु इसमें भी अनेक कमियाँ हैं। जैसे :—

(१) हमारे पास पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री नहीं है। अनेक भाषायें लुप्त हो चुकी हैं तथा अनेक भाषाओं का प्राचीन स्वरूप हमें ज्ञात नहीं है।

(२) जिन प्राचीन भाषाओं की तुलना हम करते हैं, वे समकालिक नहीं है, उनमें हजारों वर्षों का अन्तर है।

(३) अभी तक संसार की सभी ज्ञात भाषाओं का अध्ययन समान रूप से नहीं हो सका है। कुछ भाषाओं का अध्ययन बहुत विस्तार से हुआ है तो कुछ का बहुत ही सीमित है।

इस दशा में पारिवारिक वर्गीकरण भी असन्दिग्धरूप से नहीं हो पाता है और भाषा-परिवारों की संख्या में सन्देह बना रहता है। सम्भव है, धीरे-धीरे विश्व की भाषाओं के विषय में हमारा ज्ञान बढ़ने पर इसमें असन्दिग्धता बढ़ जाय और हम भाषा-परिवारों की संख्या ठीक-ठीक निश्चित कर सकें।

पारिवारिक वर्गीकरण की उपयोगिता—फिर भी पारिवारिक वर्गीकरण की अपनी निम्नलिखित उपयोगितायें हैं—

(१) भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन

इसके द्वारा सम्बद्ध भाषाओं का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से हो जाता है तथा उनकी समान तथा असमान विशेषताओं से हमारा परिचय हो जाता है।

(२) मूल भाषा का ज्ञान

सम्बद्ध भाषाओं की विशेषताओं को सम्मिलित करने पर हमें उन सम्बद्ध भाषाओं की उस जननी या मूलभाषा का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान हो जाता है, जो लुप्त हो चुकी है। 'भारोपीय परिवार' की भाषाओं की विशेषताओं के आधार पर विद्वानों ने 'मूल भारोपीय भाषा' के स्वरूप की सांगोपांग कल्पना की है, जिससे उसके क्रमिक विकास का ज्ञान भली-भाँति हो जाता है।

(३) विभिन्न जातियों की एकता

पारिवारिक वर्गीकरण द्वारा संसार में दूर-दूर बिखरी जातियों की भी एकता सिद्ध हुई है, क्योंकि उन दूर-दूर बिखरी जातियों की भाषा में समानता है। यूरोप के अनेक देशों में बसे जिप्सियों की भाषा तथा भारत के पंजावियों, राजस्थानियों तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के निवासियों की भाषा परस्पर मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि यूरोप के जिप्सी भारत से ही जाकर वहाँ बसे हैं। इसी प्रकार भारत के द्रविड़भाषी हिन्दू तथा मध्य बलूचिस्तान के ब्राहुई भाषा-भाषी मुसलमान भी परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण द्वारा अनेक जातियों के लुप्त इतिहास का ज्ञान हुआ है।

इस प्रकार यह आशा की जा सकती है कि पारिवारिक वर्गीकरण के द्वारा एक दिन भाषा की एकता के साथ ही साथ सम्पूर्ण मानवजाति की एकता भी सिद्ध की जा सकेगी।

६. विश्व के भाषा-परिवारों का संक्षिप्त परिचय

यद्यपि अभी तक विश्व की हजारों भाषाओं का अध्ययन ठीक-ठीक नहीं हो पाया है तथापि जिन भाषाओं का अध्ययन हो चुका है, उन्हें पारस्परिक समानता के आधार पर विद्वानों ने विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया है। कुछ विद्वानों ने सम्पूर्ण भाषाओं को, भौगोलिक आधार पर, पहले चार खण्डों में विभाजित किया है, जैसे—(१) अमरीका खण्ड, (२) अफ्रीका खण्ड, (३) यूरेशिया खण्ड तथा (४) प्रशान्त महासागर खण्ड। इसके पश्चात् इन विद्वानों ने उपर्युक्त खण्डों में अनेक भाषा-परिवारों की गणना की है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने विश्व की सभी ज्ञात भाषाओं को सीधे ही विभिन्न परिवारों में बाँटा है। परिवारों की संख्या यद्यपि अभी तक अनिश्चित है, क्योंकि 'फ्रेडरिक मूलर' आदि विद्वान् जहाँ १०० भाषा-परिवारों की कल्पना करते हैं, वहाँ अन्य विद्वानों की कल्पना २५० परिवारों तक जा पहुँचती है। कुछ विद्वान् केवल १० भाषा-परिवार ही मानते हैं। 'डॉ धीरेन्द्र वर्मा' ने १२ भाषा-परिवार गिनाये हैं, जबकि 'डॉ० देवेन्द्रनाथ वर्मा'[१] ने "अपेक्षाकृत निर्विवाद और प्रमुख" भाषा-परिवारों की संख्या १८ मानी हैं। उनके अनुसार-भाषा-परिवारों की संख्या, नाम तथा खण्ड इस प्रकार है—

१. भाषा-विज्ञान की भूमिका, पृ० ११४।

यूरेशिया खण्ड

१. भारत यूरोपीय परिवार ।　　२. द्राविड़ परिवार ।
३. बुरुशस्की परिवार ।　　४. यूराल-अल्ताई परिवार ।
५. काकेशी परिवार ।　　६. चीनी परिवार ।
७. जापानी-कोरियाई परिवार ।　　८. अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार ।
९. बास्क परिवार ।
१०. सामी-हामी परिवार । (सामी-हामी परिवार की गणना कुछ विद्वानों ने यूरेशिया खण्ड में तथा कुछ ने अफ्रीका खण्ड में की है ।)

अफ्रीका खण्ड

११. सूडानी परिवार ।　　१२. बन्तू परिवार ।
१३. होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार ।

प्रशान्त महासागरीय खण्ड

१४. मलय-बहुद्वीपीय परिवार ।　　१५. पापुई परिवार ।
१६. आस्ट्रेलियाई परिवार ।　　१७. दक्षिण-पूर्व-एशियाई-परिवार ।

अमरीका खण्ड

१८. अमरीकी परिवार ।

उपर्युक्त भाषा-परिवारों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः इस प्रकार है—

(१) भारोपीय परिवार—इस परिवार की भाषायें भारत (उत्तरी), अफगानिस्तान, ईरान और सारे यूरोप में बोली जाती हैं। 'संस्कृत', 'ग्रीक', 'लैटिन' आदि प्राचीन तथा 'अंग्रेजी', 'फ्रेञ्च', 'जर्मन', हिन्दी', 'मराठी', 'गुजराती', 'पंजाबी' तथा 'बंगला' आदि प्रमुख आधुनिक भाषाएँ इसी परिवार की हैं। (इस परिवार का विस्तृत विवेचन आगे अध्याय ४ में किया जायेगा)।

(२) द्राविड़ परिवार—इस परिवार की भाषाएँ 'तमिल', 'तेलगु', 'कन्नड' तथा 'मलयालम' आदि मुख्य रूप से दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। मध्य बलूचिस्तान की 'ब्राहुई' भाषा भी इसी परिवार की है।

(३) बुरुशस्की परिवार—भारत के उत्तरी-पश्चिमी सिरे पर बोली जाने वाली इस परिवार की भाषाएँ प्राचीन भारत में अपना विशेष महत्व रखती थीं, किन्तु अब वे महत्वहीन हो गयी हैं।

(४) यूराल-अल्ताई परिवार—कुछ विद्वान् इसे एक ही परिवार मानते हैं और कुछ दो। वास्तव में इसके दो उपविभाग हैं—(क) यूराल में 'फिनी', 'लापी', 'एस्तोनी', 'मग्यार' तथा 'सामयेद' भाषायें हैं, तथा (ख) अल्ताई में 'तुर्की', 'उज़्बेक', 'मंगोली' तथा 'मंचुई' आदि भाषायें आती हैं।

(५) काकेशी परिवार—कृष्ण सागर तथा कैस्पियन सागर के मध्य स्थित काकेशस पर्वत के समीप के भू-भाग में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। 'सरकसी', 'चेचेन', 'लेगी', 'ज्यार्जी', 'मिंग्रेली' तथा 'रबानी' आदि इस परिवार की

भाषाएँ हैं। 'ज्यार्जी' या 'ज्यार्जियन', जो स्टालिन की मातृभाषा थी; इस परिवार की प्रमुख भाषा है।

(६) चीनी परिवार—इसे एकाक्षर परिवार भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विभक्ति, प्रत्यय आदि के द्वारा पद-रचना नहीं होती है। इस परिवार की भाषाएँ स्थान, सुर तथा निपात प्रधान है। चीन, तिब्बत, स्याम तथा वर्मा में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। ये सभी भाषाएँ अयोगत्मक हैं।

(७) जापानी-कोरियाई परिवार—इस परिवार की भाषाएँ जापान तथा कोरिया में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं का ठीक-ठीक अध्ययन न होने के कारण कुछ विद्वान् यदि इसे यूराल-अल्ताई परिवार की शाखा मानते हैं, तो कुछ दूसरे विद्वान् मलय-पालिनेशियाई परिवार की। किन्तु, तब तक इसे इन दोनों से पृथक् मानना ही उचित है, जब तक कि गहन और विस्तृत अध्ययन के द्वारा कुछ निश्चय नहीं हो जाता है।

(८) अत्युत्तरी (हाईपरबोरी) परिवार—इस परिवार का यह नाम भौगोलिक आधार पर रक्खा गया है। एशिया के उत्तरी-पूर्वी सिरे पर इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। 'युकगिर', चुकची', 'अइनू', आदि अनेक भाषाएँ इसके अन्तर्गत हैं, जिनका ठीक-ठीक अध्ययन अभी नहीं हो सका है।

(९) बास्क परिवार—पश्चिमी पिरेनीज के समीप, फ्रांस और स्पेन के सीमा-प्रदेश में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाएँ प्रधानतः अश्लिष्ट-योगात्मक हैं। 'बास्क' इस परिवार की प्रमुख भाषा है, जिसका अभी तक ठीक-ठीक वर्गीकरण नहीं हो सका है।

(१०) सामी-हामी परिवार—कुछ लोग इसे दो परिवार मानते हैं, एक सामी परिवार तथा दूसरा हामी परिवार। इन्हें सैमेटिक, हैमेटिक भी कहा जाता है। सामी शाखा की प्राचीन भाषा 'अक्कादी' है। 'आरमेनियन', हिब्रू' तथा अरबी भाषा भी इसी शाखा की हैं। अरब, ईराक, फिलिस्तीन, सीरिया, मिस्र आदि देशों में ये भाषाएँ बोली जाती हैं।

'हामी' शाखा के अन्तर्गत प्राचीन 'मिस्री' भाषा तथा 'बर्बर' भाषाएँ आती हैं। मिस्री भाषा में चित्रलिपि में बहुत प्राचीन लेख उपलब्ध हैं। इन भाषाओं का क्षेत्र उत्तरी अफ्रीका है।

(११) सूडानी परिवार—इस परिवार की भाषाएँ भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिमी सिरे से लेकर पूर्वी सिरे तक बोली जाती हैं। इसके उत्तर में सामी-हामी परिवार है तथा दक्षिण में 'बन्तू' परिवार है। इस परिवार में लगभग चार सौ भाषाएँ प्रमुख रूप से अयोगात्मक है।

(१२) बन्तू परिवार—सुदूर दक्षिण पश्चिमी भाग को छोड़कर लगभग सारे दक्षिण अफ्रीका में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इसके उत्तर में 'सूडानी' तथा दक्षिण में 'होतेन्तोत-बुशमैनी' परिवार है। इसकी प्रमुख भाषाएँ 'स्वाहिली', 'काफिरी', 'जूलू' तथा 'कांगो' आदि है। इसकी भाषाएँ अश्लिष्ट-योगात्मक हैं।

(१३) होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार—इसका क्षेत्र दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका है

तथा 'होतेन्तोत', 'नामा', 'हमारा', 'सन्दवा', 'ऐकेवे' और 'औकेवे' आदि इसकी प्रमुख भाषाएँ हैं। इस परिवार की भाषाओं में 'क्लिक' ध्वनियाँ पाई जाती हैं, जिनका उच्चारण श्वास को अन्दर खींचते हुए किया जाता है।

(१४) मलय-बहुद्वीपीय परिवार—इसे 'मलय-पोलिनेशियाई' या 'मलय-आस्ट्रेनेशियाई' भी कहते हैं। मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, सिलिविज, वाली, फिलीपीन, न्यूजीलैण्ड तथा हवाई आदि प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार में बहुत सारे भाषा-समूह हैं, जिनमें साहित्यिक भाषाएँ बहुत कम हैं। इस परिवार में मलाया की 'मलय', जावा की 'कवि', तथा फिलिपीन की 'तगल', फारमोसा की 'फारमोसी' आदि प्रमुख भाषाएँ हैं।

(१५) पापुई परिवार—इस परिवार की भाषाएँ न्यूगिनी, न्यू ब्रिटेन के कुछ भाग तथा सोलोमन द्वीप-समूह आदि में बोली जाती हैं। इसमें १३२ के लगभग भाषाएँ हैं। न्यूगिनी की प्रसिद्ध भाषा 'मफ़ोर' इसी परिवार की है। ये भाषाएँ अश्लिष्ट-योगात्मक हैं।

(१६) आस्ट्रेलियाई परिवार—इस परिवार में १०० के लगभग भाषाएँ हैं; जो आस्ट्रेलिया के उत्तरी तथा दक्षिणी भाग में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाएँ भी अश्लिष्ट-योगात्मक हैं; जो धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं।

(१७) दक्षिण-पूर्व एशियाई परिवार—इसे 'आस्ट्रो-एशियाटिक' परिवार भी कहा जाता है। इस परिवार की भाषाएँ अन्नाम, स्याम, कम्बोडिया, भारत तथा निकोबार द्वीप में बोली जाती हैं। यह परिवार तीन प्रमुख वर्गों में बँटा है—(१) पश्चिम में मुण्डा या कोल; (२) पूर्व में अन्नाम-मुआङ् तथा (३) मध्य में मोनख्मेर।

मुण्डा या कोल भाषाएँ भारत में अनेक स्थानों पर बोली जाती हैं। इनमें मुण्डा तथा संथाली प्रमुख भाषाएँ हैं।

(१८) अमरीकी परिवार—ये भाषाएँ अमरीका में बोली जाती हैं, जिनकी संख्या १००० के लगभग है। इस परिवार की भाषाओं का अध्ययन अभी तक भली-भाँति नहीं हुआ है, अतः इनका ठीक-ठीक वर्गीकरण भी अभी नहीं हो पाया है। अमरीकी नाम स्वयं भौगोलिक है। इसी प्रकार इस परिवार के तीन विभाग भी भौगोलिक ही हैं—

(१) कनाडा तथा संयुक्त राज्य—इसमें 'अथवस्की' या 'अथवस्कन', 'अलगोनकी', 'होका', सिउई' तथा 'यूरोक्वा' आदि भाषाएँ हैं।

(२) मैक्सिको तथा मध्य अमरीकी—इसमें 'अंज्तेक', 'मय' तथा 'नहुअत्ल' भाषाएँ हैं।

(३) दक्षिण अमरीकी—इसमें 'अवरक', 'चिवोचा', 'तुपी-गुअर्नी', 'करीब' तथा 'कुइचुआ' आदि भाषाएँ हैं।

ग्रीनलैण्ड की 'एस्किमो' भाषा भी इसी परिवार की है। इस परिवार की भाषाएँ प्रायः प्रश्लिष्ट-योगात्मक हैं।

[अध्याय ४]

भारोपीय भाषा-परिवार

१. भारोपीय परिवार का नामकरण,

२. भारोपीय परिवार का महत्त्व;

३. भारोपीय परिवार की विशेषताएँ;

४. भारोपीय परिवार : सतम् केन्तुम् वर्ग

[अध्याय ४]

भारोपीय भाषा-परिवार

पृष्ठभूमि : मूलभारोपीय भाषा

भारोपीय परिवार की भाषाओं का विकास जिस भाषा से हुआ है, उसे विद्वानों ने मूलभारोपीय भाषा नाम दिया है। इसका काल २४०० ई० पू० से १६०० ई० पू० माना जाता है। किन्तु, यह भाषा कहाँ वोली जाती थी, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। यही मूलभारोपीय भाषा सभी भारोपीय भाषाओं की जननी है। मूलभारोपीय भाषा का स्वरूप क्या था, इसको जानने के लिए कोई ठोस सामग्री उपलब्ध नहीं है। जिस प्रकार पुत्रियों में प्राप्त विशेषताओं के आधार पर उनकी माँ के विषय में कुछ अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार भारोपीय परिवार की भाषाओं में प्राप्त विशेपताओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही भाषाविज्ञानियों ने मूलभारोपीय भाषा के स्वरूप की कुछ कल्पना की है। संक्षेप में, इस भाषा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

मूलभारोपीय भाषा की ध्वनियाँ

मूलभारोपीय भाषा में निम्नलिखित ध्वनियाँ थीं :—

स्वर—स्वरों के दो भेद थे—मूलस्वर तथा संयुक्त स्वर। मूल स्वरों की संख्या ७ तथा संयुक्त स्वरों की संख्या ३६ थी। यथा,

मूल स्वर : (i) अतिह्रस्व—ə (इसे ह्रस्वार्ध भी कहा जाता है। वस्तुतः यह उदासीन स्वर है तथा इसका उच्चारण अस्पष्ट है। यूरोपीय भाषाओं में इसे उलटा e अर्थात् ə की तरह लिखा जाता है।

(ii) ह्रस्व—अ, ऍ, ऑ।

(iii) दीर्घ—आ, ए, ओ।

संयुक्त स्वर : अइ, अऋ, अलृ, अउ, अन्, अम्, आइ, आऋ, आलृ, आन्, आम्, इसीं प्रकार ऍइ, आइ आदि — {संयुक्त स्वर ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों के साथ—इ, ऋ, लृ, उ, न् तथा म् को संयुक्त करने से बनते थे।

अन्तःस्थ : य् (इ), व् (उ) र् (ऋ), ल् (लृ) न् (न्) म् (म्), — {ये अर्द्धस्वर या अर्द्ध व्यंजन, अन्तस्थ स्वर या अन्तस्थ व्यंजन, स्वनन्त (Sonant) या आक्षरिक (Syllable) भी कहे जाते हैं।

व्यंजन (स्पर्श) : (i) कवर्ग—क्य्, ख्य्, ग्य्, घ्य् (कण्ठतालव्य)
क्, ख्, ग्, घ् (शुद्ध कण्ठ्य)
क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व् (कण्ठोष्ठ्य)
{ कवर्ग के तीन प्रकार थे। कुछ विद्वान् इन तीनों के अनुरूप 'ङ्' को भी मानते हैं। कुछ अन्य इन तीनों के साथ 'न्' के, अनुरूप संयोग को स्वीकार करते हैं।

(ii) तवर्ग—त्, थ्, द्, ध् ।
(iii) पवर्ग—प्, फ्, ब्, भ् ।

व्यंजन (ऊष्म) : स् या ज् । (ऊष्म 'स्' ध्वनि ही विशेष परिस्थितियों में 'ज्' उच्चरित होती थी ।

ध्वनिसमूह–सम्बन्धी अन्य विशेषताएँ:—

(१) अँ, इँ, ऊँ आदि–जैसे स्वरों के अनुनासिक रूप नहीं थे ।
(२) एक मूलस्वर के साथ दूसरा मूलस्वर नहीं आता था ।
(३) सन्धि-नियम विद्यमान थे ।
(४) संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग होता था ।
(५) चवर्ग तथा टवर्ग स्पर्श ध्वनियाँ नहीं थीं ।

मूलभारोपीय भाषा की कुछ अन्य विशेषताएँ

(१) रूप–बाहुल्य के कारण मूलभारोपीय भाषा का व्याकरण बहुत जटिल था ।

(२) प्रत्यय थे, किन्तु उपसर्ग (Prefix) तथा मध्यसर्ग (Infix) नहीं थे ।

(३) विशेषण एवं सर्वनाम भी संज्ञा वर्ग में ही सम्मिलित थे ।

(४) संज्ञा, क्रिया तथा अव्यय पृथक्-पृथक् थे और अव्यय भी विकारी थे ।

(५) स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक ये तीनों लिङ्ग थे तथा इनका विचार केवल संज्ञा शब्दों में ही होता था, अर्थात् विशेषण आदि में लिङ्गविचार नहीं था ।

(६) तीन पुरुष तथा तीन वचन थे ।

(७) आत्मनेपद तथा परस्मैपद–दो वाच्य थे ।

(८) संज्ञा शब्दों के रूप सम्बोधन-सहित आठ विभक्तियों में होते थे ।

(९) काल-विचार बहुत विकसित नहीं था, तथापि क्रिया के चार काल थे ।

(१०) भाषा में सुर का प्रयोग होता था तथा भाषा संगीतात्मक थी ।

(११) अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व घनिष्ठ रूप से मिले रहते थे, तथा उन्हें पृथक्-पृथक् कर पाना कठिन था ।

(१२) शब्दों में, व्यंजनों के उसी रूप में रहते हुए भी, केवल स्वरों के परिवर्तन (Ablaut) से अर्थ-परिवर्तन हो जाता था।

१. भारोपीय भाषा-परिवार

विश्व के भाषा-परिवारों में भारोपीय भाषा-परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय भाषाओं (विशेषतः संस्कृत) के पाठकों के लिए तो इसका महत्त्व निर्विवाद ही है, क्योंकि भारतीय भाषाएँ इसी परिवार की हैं। इस परिवार की अन्य भाषाएँ भी महत्त्वपूर्ण ही हैं। डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार—

"भारत-यूरोपीय (भारोपीय) भाषा-परिवार से आशय उन समस्त भाषाओं से है, जो उस प्राचीन भारत-यूरोपीय मूलभाषा से निकली हैं। 'भारत-यूरोपीय' शब्द के प्रयोग से यही अभिप्राय है कि इस भाषा-परिवार के, भारत से लेकर यूरोप तक के, भौगोलिक विस्तार की ओर ध्यान दिलाया जा सके।"[1]

नामकरण—इस परिवार के नाम के सम्बन्ध में बहुत विवाद रहा है तथा समय-समय पर अनेक नाम सामने आये हैं, जैसे:—

१. इण्डो-जर्मनिक।
२. इण्डो-कैल्टिक।
३. संस्कृत।
४. जैफ़ाइट या जफ़ेटिक।
५. काकेशियन।
५. आर्य।
७. इण्डो-योरोपियन (भारोपीय)।
८. विरोस्।
९. इण्डो-हित्ताइत (भारत-हित्ती)।
१०. भारोपीय-एनाटोलियन।

यहाँ इन पर क्रमशः, संक्षेप में, विचार किया जा रहा है—

१. इण्डो-जर्मनिक—यह नाम जर्मन-भाषाविज्ञानियों, विशेषतः 'मैक्समूलर' का दिया हुआ है। जर्मन देश में आज भी यह प्रचलित है। यह नाम इसलिए सुझाया गया था, क्योंकि इस परिवार की पूर्वी सीमा पर भारत की भाषाएँ तथा पश्चिमी सीमा पर जर्मनिक भाषाएँ बोली जाती हैं। अतः, भौगोलिक दृष्टि तथा जर्मन देश को महत्त्व देने की दृष्टि से यही नाम जर्मनी विद्वानों ने उपयुक्त समझा। किन्तु यूरोप के दूसरे देशों के विद्वानों को यह नाम मान्य नहीं हुआ। उसके दो कारण थे, एक तो इसी परिवार की कैल्टिक शाखा की भाषाएँ, उपर्युक्त भौगोलिक सीमा के पश्चिम में रह जाती थीं; दूसरे प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी के प्रति शेष यूरोप में द्वेष की भावना अधिक थी। अतः, इस परिवार के नाम में जर्मनी के नाम को महत्त्व देना अन्य योरोपीय विद्वानों को सह्य नहीं हो सका।

२. इण्डो-कैल्टिक—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह नाम भौगोलिक सीमा-विस्तार की दृष्टि से यद्यपि इण्डो-जर्मनिक नाम की अपेक्षा कुछ विद्वानों के लिए

१. तुलनात्मक भाषाशास्त्र।

सार्थक था, तथापि केवल भौगोलिक सार्थकता ही पर्याप्त नहीं समझी गयी और यह नाम भी प्रचलित नहीं हो सका।

३. **संस्कृत**—इस परिवार की भाषाओं में संस्कृत भाषा महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि इसी के अध्ययन द्वारा तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव पड़ी थी। साथ ही, तब कुछ विद्वानों का यह भी विचार था कि इस परिवार की मूलभाषा भी संस्कृत ही है। किन्तु, यह नाम भी एकांगी अनुभव किया गया; क्योंकि, एक तो संस्कृत के समकक्ष ही अन्य 'ग्रीक', 'लैटिन' आदि भाषाएँ भी इसी परिवार की है। दूसरे, संस्कृत इस परिवार की मूलभाषा नहीं थी। अतः, यह नाम भी मान्यता प्राप्त नहीं कर सका।

४. **जैफाइट या जफ़ेटिक**—बाइबिल में हज़रत 'नूह' के एक पुत्र 'ज़फ़ेट के नाम पर मनुष्य जाति के एक वर्ग को जफ़ेटिक नाम दिया गया है। इसी जातीय आधार पर कुछ विद्वानों ने इस भाषा-परिवार को भी सैमिटिक्-हैमिटिक की भाँति ही जफ़ेटिक कहना चाहा, किन्तु चूँकि कुछ जफेटिक लोग भारोपीय परिवार से भिन्न परिवारों की भी भाषाएँ बोलते हैं; अतः, अवैज्ञानिक होने के कारण यह नाम भी उपयुक्त नहीं समझा गया।

५. **काकेशियन**—'काकेशस' प्रदेश के आधार पर इस परिवार को 'काकेशियन' भी कहा गया। किन्तु, एक अन्य समूह की भाषाओं को 'काकेशस' कहे जाने तथा भारोपीय समूह की विशेषताओं से उसकी विशेषताओं के भिन्न होने के कारण यह भी भ्रमात्मक सिद्ध हुआ।

६. **आर्य**—पहले समझा जाता था, कि भारोपीय परिवार की भाषाओं को बोलने वाले सभी लोग आर्य हैं; अतः, इस परिवार को 'आर्य' नाम देना उचित माना गया। किन्तु, एक तो इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाले सभी आर्य नहीं हैं, दूसरे 'आर्य' नाम की, 'भारोपीय परिवार' की एक शाखा भी है, जो भारत तथा ईरान की भाषाओं के लिए बहुत प्रसिद्ध है। अतः, पूरे परिवार को 'आर्य' कहना ठीक नहीं समझा गया। यद्यपि 'मैक्समूलर' तथा 'जैस्पर्सन' ने इसे फिर भी 'आर्य' नाम से ही अभिहित किया है। किन्तु, मुख्य रूप से भारतीय परिवार की 'भारत-ईरानी' शाखा को ही विद्वानों ने 'आर्य शाखा' कहा है।

७. **इण्डो-योरोपियन या भारोपीय**—यद्यपि यही नाम आजकल अधिक प्रचलित है, तथापि डॉ० भोलानाथ तिवारी[1] इस नाम को भी ठीक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यह नाम जिस भौगोलिक आधार पर रक्खा गया है, वह भी इससे ठीक-ठीक प्रकट नहीं होता है। स्पष्ट ही, इस परिवार की भाषाएँ केवल भारत-योरोप में न बोली जाकर अमरीका, आस्ट्रेलिया, तथा अफ्रीका के भी अनेक भागों में बोली जाती है; जैसे अंग्रेजी, फ्रेंच आदि। अतः, डॉ० तिवारी के अनुसार यह नाम भी मान्य नहीं होना चाहिए।

८. **विरोस्**—यह नाम डॉ० भोलानाथ तिवारी द्वारा प्रस्तावित है। उनका

---

१. दे० भाषाविज्ञान-कोश, पृ० ४२८।

तर्क है कि भाषा-विज्ञानविदों ने तुलनात्मक अध्ययन (संस्कृत वीर, लैटिन Uir, Vir; प्राचीन आइरी Fer, जर्मनिक Wer आदि) के आधार पर मूल भारोपीय या भारत-हित्ती भाषा के एक शब्द Wiros का पुनर्निर्माण किया है और उन मूल लोगों को भी इस 'विरोस्' शब्द से पुकारा है। यदि हम उन मूल लोगों को 'विरोस्' कह रहे हैं तो उसी आधार पर हम उस मूल भाषा के परिवार के लिए 'विरोस् परिवार' (Wiros family) का प्रयोग कर सकते हैं।[1]

९. **इण्डो-हिट्टाइट (भारत-हित्ती)**--वैज्ञानिक दृष्टि से यह नाम सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि अब यह ज्ञात हो चुका है कि 'हित्ती' भाषा भारोपीय भाषा की एक पुत्री नहीं अपितु भारोपीय की सहोदरा है। अतः, अब 'हित्ती' को भारोपीय भाषा परिवार की एक शाखा नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में 'भारत-हित्ती' नाम ही इस परिवार के लिए सर्वोपयुक्त है, और यह पर्याप्त प्रचलित भी हो गया है।

१०. **भारोपीय-एनाटोलियन**—डॉ० भोलानाथ तिवारी ने ही भारोपीय परिवार के लिए यह नाम भी प्रस्तुत किया है। जहाँ बोलने वालों के आधार पर उन्होंने इसे 'विरोस् परिवार' कहना उपयुक्त समझा है, वहाँ इस परिवार की मूल दो शाखाओं—भारोपीय तथा एनाटोलियन के आधार पर वे इसे 'भारोपीय-एनाटोलियन' या 'भारत-एनाटोलिअन' कहना अधिक वैज्ञानिक मानते हैं।[2]

संक्षेप में, ऊपर भारोपीय परिवार के दस नामों का परिचय दिया गया है। इनमें से कुछ नामों का आधार भौगोलिक है, जैसे 'इण्डो-जर्मनिक', 'इण्डो-कैल्टिक'; 'इण्डो-योरोपीय', 'इण्डो-हिट्टाइट', 'काकेशियन' आदि। कुछ नामों का आधार प्रमुख भाषा है, जैसे—संस्कृत। कुछ नामों का आधार जातीय है, जैसे—जैफ़ाइट, आर्य आदि।

वस्तुतः, इनमें से कोई भी नाम पूर्णतया उपयुक्त नहीं हैं। हाँ, यदि बोलने वालों की जाति के आधार पर इस परिवार का नामकरण करना है, तो निस्सन्देह 'विरोस् परिवार' ही उपयुक्त नाम है। यदि भारोपीय नाम की भाँति ही दो मूल शाखाओं के आधार पर इसका नामकरण करना हो, तो फिर 'इण्डो-योरोपियन' या 'इण्डो-हिट्टाइट' की अपेक्षा 'भारोपीय-एनाटोलिअन' या 'भारत-एनाटोलिअन' नाम को ही हमें स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इस परिवार की भारोपीय ('सतम्' तथा 'केन्तुम्' वर्गों की भाषाएँ) तथा एनाटोलिअन (जिसमें लिडियन, लीसियन हीरोग्लाफिक; पलेइक, लूवियन तथा हित्ती या हिट्टाइट भाषाएँ) दो ही मूल शाखाएँ हैं। अतः, यह नाम पूर्णतया वैज्ञानिक है। फिर भी अभी तक 'इण्डो-योरोपिअन' नाम की तुलना में कोई भी अन्य नाम प्रचलित नहीं हो सका है। सम्भव है, कुछ समय बाद ऐसा हो सके कि भाषा-विज्ञानविद् इस परिवार को 'विरोस्' या 'भारत-एनाटोलियन' नाम से पुकारना अधिक उपयुक्त समझें। किन्तु, जब तक ऐसा हो, तब तक इस परिवार को 'इण्डो-योरोपिअन-परिवार' या 'भारोपीय परिवार' कहना ही अधिक उपयुक्त है।

---

१. भाषाविज्ञान-कोश—पृ०, ४२८—२९.
२. वही, पृ० ४२६—२७.

२. भारोपीय परिवार का महत्त्व

विश्व के भाषा-परिवारों में भारोपीय परिवार का सर्वाधिक महत्त्व है। यह विषय, निश्चय ही, सन्देह एवं विवाद से परे है। इस महत्त्व के अनेक कारणों में से सर्वप्रथम, तीन प्रमुख कारण यहाँ उल्लेख्य हैं[1] :—

१. विश्व में इस परिवार के भाषा-भाषियों की संख्या सर्वाधिक है।

२. विश्व में इस परिवार का भौगोलिक विस्तार भी सर्वाधिक है।

३. विश्व में सभ्यता, संस्कृति, साहित्य तथा सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विकास की दृष्टि से भी इस परिवार की प्रगति सर्वाधिक हुई है।

उपर्युक्त तीन प्रमुख कारणों के अतिरिक्त भी इस परिवार के महत्त्व के अनेक कारणों का उल्लेख विद्वानों[2] ने किया है:—

४. 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' की नींव का आधार भारोपीय परिवार ही है।

५. भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिये यह परिवार प्रवेश-द्वार है।

६. विश्व में किसी भी परिवार की भाषाओं का अध्ययन इतना नहीं हुआ है, जितना कि इस परिवार की भाषाओं का हुआ है।

७. भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये इस परिवार में सभी सुविधाएं हैं। जैसे:—

(क) व्यापकता, (ख) स्पष्टता तथा (ग) निश्चयात्मकता।

८. प्रारम्भ से ही इस परिवार की भाषाओं का, भाषा की दृष्टि से, विवेचन होता रहा है, जिससे उनका विकासक्रम स्पष्ट होता है।

९. संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि इस परिवार की भाषाओं का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, जो प्राचीनकाल से आज तक इन भाषाओं के विकास का ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है और जिसके कारण इस परिवार के अध्ययन में निश्चयात्मकता रहती है।

१०. अपने राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से भी यह परिवार महत्त्वपूर्ण है। कारण, प्राचीनकाल में भारत ने तथा आधुनिक काल में योरोप ने विश्व के अन्य अनेक भू-भागों पर आधिपत्य प्राप्त करके अपनी भाषाओं का प्रचार तथा विकास किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य अनेक कारणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि विश्व के भाषा-परिवारों में 'भारोपीय परिवार' का महत्त्व निःसन्देह सर्वाधिक है।

३. भारोपीय परिवार की विशेषताएं

'भारोपीय परिवार' एक विशाल भाषा-परिवार है। इसका इतिहास बहुत

---

१. डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान-कोश, पृ० ४२७.

२. डॉ० मंगलदेव शास्त्री, तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, पृ० २४५ तथा डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० ११५–११६.

प्राचीनकाल से आरम्भ होकर आधुनिक काल तक फैला हुआ है। इस परिवार की भाषाओं के सुदीर्घ विकासक्रम को देखने से इस परिवार की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ प्रकट होती है :—

१. इस परिवार की भाषाएँ मूलरूप से श्लिष्ट-योगात्मक थीं।

२. इस परिवार की भाषाओं में प्रकृति + प्रत्यय अथवा अर्थतत्त्व + सम्बन्ध-तत्त्व का योग बहिर्मुखी है।

३. इस परिवार में प्रयुक्त प्रत्ययों के विषय में अनुमान किया जाता है कि कभी वे स्वतन्त्र सार्थक शब्द थे, किन्तु धीरे-धीरे ध्वनिपरिवर्तन के कारण घिसकर वर्तमान प्रत्ययों के रूप में अवशिष्ट रह गये हैं।

४. इस परिवार की भाषाएँ पहले संयोगात्मक थीं, जो, कुछ अपवादों को छोड़कर, अब वियोगात्मक हो गयी हैं। कुछ भाषाओं में 'स्थान-प्रधानता' भी आ गयी है, जो प्राचीन संस्कृत आदि भाषाओं में नहीं थी।

५. इस परिवार की धातुएँ एकाक्षर हैं और उनमें 'कृत्', तथा उनसे निष्पन्न शब्दों में तद्धित प्रत्यय जोड़कर शब्द, तथा उनमें 'सुप्' प्रत्यय जोड़कर पद बनाये जाते हैं। क्रियापदों में कृत् तथा तिङ् प्रत्यय जुड़ते हैं।

६. इस परिवार की भाषाओं में पूर्वसर्गों (Prefix), जिन्हें संस्कृत में 'उपसर्ग' कहा जाता है, के द्वारा शब्दों के अर्थों में परिवर्तन किया जाता है; जैसे, 'हृ' धातु से निष्पन्न 'हार' शब्द में 'वि' 'सम्' 'आ' 'परि' आदि उपसर्गों को जोड़कर 'विहार' 'आहार' 'संहार' तथा 'परिहार' आदि विभिन्नार्थक शब्द बनाये जाते हैं।

७. संस्कृत के कवि 'बाण' की भाषा की भाँति इस परिवार की भाषाओं में समास-रचना की विशेष प्रवृत्ति है। समास करते समय विभिन्न पदों में से विभक्तियों का लोप होकर, अनेक पदों के स्थान पर एक समस्त पद बन जाता है, जिसका अर्थ विस्तृत होता है।

८. इस परिवार की भाषाओं में स्वर-परिवर्तन द्वारा सम्बन्धतत्त्व-सम्बन्धी परिवर्तन घटित हो जाता है; जैसे अंग्रेजी में Sing, Sang, Sung में i, a तथा u स्वरों के परिवर्तन द्वारा ही क्रिया का काल-सूचक सम्बन्ध-तत्त्व परिवर्तित हो जाता है।

९. अन्य किसी भी परिवार की अपेक्षा इस परिवार में विभक्ति-प्रत्ययों की बहुलता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि एक ही परिवार की भाषाओं का पृथक्-पृथक् विकास होने के कारण उनमें बहुत से प्रत्ययों का प्रयोग आवश्यकतावश बढ़ गया है।

१०. इस परिवार की एक अन्य विशेषता 'अक्षरावस्थान' भी है। इस विशेषता के कारण शब्द में व्यञ्जनों के अपरिवर्तित रहने पर भी, स्वरों के परिवर्तित हो जाने से प्रायः शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे—'वसुदेव' और 'वासुदेव' (वसुदेव का पुत्र)।

संक्षेप में, यद्यपि भारोपीय परिवार की उपर्युक्त दस विशेषताओं का ही उल्लेख यहाँ किया गया है, तथापि इस परिवार की केवल यही विशेषताएँ हैं, यह मानना भी भ्रम ही होगा। खोज करने पर इस परिवार की अन्य अनेक विशेषताएँ प्रकट होने की सम्भावना से भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

४. भारोपीय परिवार के केंन्तुम् और सतम् वर्ग

कुछ लोगों का अनुमान है कि भारोपीय परिवार की जननी मूल भारोपीय भाषा में ही परस्पर भिन्नता रखने वाली दो बोलियाँ थीं, जिन्होंने आगे चलकर भी अपनी भिन्नता बनाये रक्खी तथा भारोपीय 'केन्तुम्' और 'सतम्' वर्ग का आधार बनी। इसमें सत्य चाहे जितना हो, तथापि विद्वानों ने भारोपीय परिवार के दो उपविभाग या वर्ग बनाये हैं, जिनका आधार नितान्त वैज्ञानिक है। इस वर्गीकरण का श्रेय 'अस्कोली' (Ascoli) नामक विद्वान् को है। उन्होंने ही सर्वप्रथम १८७० ई० में विद्वानों के सम्मुख यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, कि—

मूलभारोपीय कण्ठ्य या कण्ठ्य-तालव्य स्पर्श कवर्ग ध्वनियाँ, भारोपीय परिवार की कुछ भाषाओं (ग्रीक, लैटिन, इटैलियन, फ्रेंच आदि) में तो कण्ठ्य कवर्ग के रूप में ही रहीं, अर्थात् ज्यों की त्यों ही रहीं; किन्तु, कुछ अन्य भाषाओं (अवेस्ता, संस्कृत, फारसी, रूसी आदि) में वे ऊष्म या संघर्षी (श्, स्, ज्) आदि ध्वनियों में परिवर्तित हो गयीं। सारांश यह है कि मूलभारोपीय भाषा की 'क्' ध्वनि 'भारोपीय परिवार' की कुछ भाषाओं में तो 'क्' ही रही, किन्तु कुछ में वह 'स्' या 'श्' या 'ज्' में बदल गयी है।

'अस्कोली' महोदय के उपर्युक्त सिद्धान्त की परीक्षा करके 'वॉन ब्रैडके' नामक विद्वान् ने भारोपीय परिवार की भाषाओं को 'केन्तुम्' तथा 'सतम्'–इन दो वर्गों में विभाजित कर दिया। यहाँ 'सतम्' शब्द अवेस्ता भाषा का है, जो अवेस्ता तथा उसके वर्ग की सभी भाषाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार 'केन्तुम्' शब्द लैटिन का है, जो लैटिन तथा उसके वर्ग की सभी भाषाओं का प्रतिनिधित्व करता है। 'सतम्' तथा 'केन्तुम्' दोनों ही शब्द 'सौ' के वाचक हैं।

स्पष्टता के लिये, हम कह सकते हैं कि 'वॉन ब्रैडके' ने सर्वप्रथम अनुमान के आधार पर यह निश्चय किया कि मूलभारोपीय भाषा में संख्यावाचक 'सौ' के लिये 'क्म्तोम्' (Kmtom) शब्द था। तत्पश्चात्, उन्होंने मूलभारोपीय भाषा से विकसित भारोपीय परिवार की सभी भाषाओं में यह खोज की, कि उनमें 'क्म्तोम्' का विकास किन-किन रूपों में हुआ है, अर्थात् भारोपीय परिवार की भाषाओं में 'सौ' को क्या-क्या कहा जाता है। परिणामस्वरूप, उन्हें ज्ञात हुआ कि भारोपीय परिवार की कुछ

---

१. 'सतम्' अवेस्ता का शब्द है। जो लोग संस्कृत को महत्त्व देते हैं, वे 'सतम्' के स्थान पर 'शतम्' शब्द का व्यवहार करते हैं। प्रायः, विद्वानों ने 'सतम्' का ही व्यवहार किया है।

भाषाओं में तो 'क्य्म्तोम' का विकास 'केन्तुम्' जैसा हुआ है तथा कुछ में 'सतम्' जैसा। उदाहरणार्थ:—

मूल भारोपीय
क्य्म्तोम्'

भारोपीय केन्तुम् वर्ग
लैटिन—केन्तुम्
ग्रीक—हेक्टोन
इटैलियन—केन्तो
फ्रैंच—केन्त
ब्रीटन—कैन्ट
गेलिक—क्युड
तोखारी—कन्त

भारोपीय सतम् वर्ग
अवेस्ता—सतम्
फारसी—सद
संस्कृत—शतम्
हिन्दी—सौ
रूसी—स्तो
बलगेरियन—सुतो
लिथुआनिअन—स्जिम्तम्

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'केन्तुम्' वर्ग की मूल भाषाओं में मूल-भारोपीय की 'क्' ध्वनि ज्यों की त्यों रही है, जबकि 'सतम्' वर्ग की भाषाओं में वह 'स्' या 'श्' या 'स्ज्' में परिवर्तित हो गयी है।

उपर्युक्त लक्षण के अतिरिक्त निम्नलिखित दो अन्य भेदक लक्षण भी केन्तुम् तथा सतम् वर्ग की भाषाओं में मिलते हैं।

(२) केन्तुम् तथा सतम् वर्ग का दूसरा भेदक लक्षण है कि मूल भारोपीय भाषा के शब्दों में जहाँ अन्त में 'न्' या 'म्' ध्वनि है, 'केन्तुम् वर्ग' में उसके पूर्व एक स्वर आ जुड़ता है तथा 'न्' या 'म्' ध्वनि सुरक्षित बनी रहती है। किन्तु, 'शतम् वर्ग' में 'न्' या 'म्' का लोप होकर, केवल इनके पूर्व आकर जुड़ा हुआ स्वर ही शेष रहता है। उदाहरणार्थ:—

मूल भारोपीय—देक्म् (dekm) = दस

भारोपीय केन्तुम् वर्ग
लैटिन—देकेम् (decem)
= (देक् + एम्) = दस

भारोपीय सतम् वर्ग
संस्कृत—दश
= (दश् + अ) = दस

मूल भारोपीय—सेप्त्न् (Septn)

भारोपीय केन्तुम् वर्ग
लैटिन—सेप्तेम् (Septem)
= (सेप्त + एम्) = सात

भारोपीय सतम् वर्ग
संस्कृत—सप्त
= (सप्त् + अ) = सात

(३) केन्तुम् तथा सतम् वर्ग का तीसरा भेदक लक्षण है कि मूल भारोपीय भाषा की कण्ठोष्ठ्य कवर्ग ध्वनियाँ (क्व्, ख्व्, ग्व्, ध्व्) केन्तुम् वर्ग में तो ज्यों की त्यों सुरक्षित रहीं, किन्तु सतम् वर्ग, में केवल कण्ठ्य (क्, ख्, ग्, घ्) रह गयीं अर्थात् उनमें से ओष्ठ्य ध्वनि का लोप हो गया। उदाहरणार्थ—

मूल भारोपीयरूप अज्ञात

भारोपीय केन्तुम् वर्ग	भारोपीय सतम् वर्ग
लैटिन—क्विस् (quis) = (कौन)	संस्कृत—क: = (कौन)
हित्ती—क्विस् = (कौन)	लिथुआनी—कस् = (कौन)

इस प्रकार स्पष्ट है, कि उपर्युक्त तीन भेदक लक्षणों के आधार पर भारोपीय परिवार की भाषाओं को 'केन्तुम्' और 'सतम्' इन दो वर्गों में विभाजित किया गया है तथा इस विभाजन का आधार नितान्त वैज्ञानिक है।

भारोपीय परिवार का इन 'केन्तुम्' तथा 'सतम्' वर्गों में विभाजन इस प्रकार है—

भारोपीय परिवार

केन्तुम् वर्ग	सतम् वर्ग
१. इटैलिक या इतालवी,	७. आर्य, (भारत-ईरानी)
२. ग्रीक,	८. बाल्ती-स्लावी,
३. जर्मनिक, (ट्यूटानिक)	९. अल्बानी
४. कैल्टिक	१०. आर्मीनी।
५. हित्ती, तथा	
६. तुखारी।	

५. भारोपीय परिवार की भाषाओं का परिचय

'केन्तुम्' तथा 'सतम्' वर्ग के क्रम से भारोपीय परिवार की भाषाओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

(१) इटैलिक (इतालवी) लैटिन इसकी एक प्राचीन भाषा है, जो प्रसिद्ध रोम नगर तथा उसके आस-पास बोली जाती थी। इसमें सबसे प्राचीन लिखित सामग्री ई० पू० छठी शताब्दी की है।[1] प्राचीनकाल से ही इसके दो रूप थे—एक साहित्यिक, दूसरा बोलचाल का। रोमन साम्राज्य के साथ ही साथ इसके बोलचाल वाले रूप का भी बहुत प्रसार हुआ। आधुनिक फ्रेंच, इतालवी, स्पेन, पुर्तगाली तथा रूमानी आदि का विकास, बोलचाल की प्राचीन लैटिन से ही हुआ है। आज भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा लैटिन ही है। यूरोप की भाषाओं पर लैटिन भाषा का

१. डॉ० तारापुरवाला Elements of the Science of Language.

प्रभाव अत्यधिक है। लैटिन से विकसित सभी आधुनिक भाषाएँ पर्याप्त साहित्य-सम्पन्न तथा समर्थ हैं और उनमें नवीं-दसवीं शताब्दी ईस्वी तक का साहित्य उपलब्ध है।

(२) ग्रीक—प्राचीन ग्रीक भाषा को विश्व की भाषाओं में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। यह मूल भारोपीय भाषा के अत्यधिक समीप है। यूरोप की कला तथा संस्कृति इसी की देन है। महान कवि 'होमर' के दो प्रसिद्ध महाकाव्य 'इलियड' (Illiad) तथा 'ओडिसी' (Odyssey) जो १००० ई० पू० के कहे जाते हैं, वे इसी भाषा में हैं।

प्राचीनकाल से ही ग्रीक की अनेक बोलियाँ थीं, जिनमें एटिक (Attic) तथा डोरिया (Doric) प्रमुख थीं। ई० पू० चौथी शताब्दी में एटिक अधिक प्रचलित हो गयी और वह जनसाधारण की भाषा बनी रही। बाद में, इसी एटिक बोली से आधुनिक ग्रीक का विकास हुआ है।

प्राचीन ग्रीक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात (Pitch accent) था, परन्तु आधुनिक ग्रीक में उसका स्थान बलात्मक स्वराघात (Stress accent) ने ले लिया है।

(३) जर्मनिक—जर्मनिक शाखा की तीन उपशाखाएँ हैं—(i) पूर्वी, (ii) उत्तरी तथा (iii) पश्चिमी।

(i) पूर्वी उपशाखा की प्रमुख भाषा प्राचीन गॉथी (Gothic) थी, जो अब मृत हो चुकी है। पादरी उल्फिलास (Bishop wulfilas, काल ३११ ई० से ३८१ ई० तक) द्वारा अनूदित बाइबिल की गणना पूर्वी जर्मनिक शाखा के प्राचीनतम साहित्य में की जाती है। गॉथी, संस्कृत से मिलती है।

(ii) उत्तरी उपशाखा में आइसलैंड की (१) आइसलैंडी, डेन्मार्क की (२) डेनी, नार्वे की (३) नारवेई तथा स्वीडन की (४) स्वीडी आदि भाषाएँ आती हैं।

(iii) पश्चिमी उपशाखा के अन्तर्गत इङ्गलैंड की (१) अंग्रेजी, जर्मनी की (२) उच्च जर्मन तथा (३) निम्न जर्मन, हालैण्ड की (४) डच और बेल्जियम की (५) फ्लेमी भाषाएँ हैं।

जर्मनिक भाषाओं का विश्व की भाषाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के कारण अंग्रेजी का प्रसार बहुत बड़े भूभाग में हुआ है। विज्ञान, साहित्य और दर्शन, इसमें सभी पर्याप्त मात्रा में है। स्वयं जर्मन भाषा भी दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भाषा है। अंग्रेजी में ७०० ई० तक का प्राचीन साहित्य उपलब्ध होता है।

जर्मनिक भाषाएँ प्रारम्भ में योगात्मक थीं, किन्तु धीरे-धीरे अब अयोगात्मक हो गयी हैं।

(४) कैल्टिक— लगभग दो हजार वर्ष पहले कैल्टिक भाषा सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप तथा मध्य यूरोप में प्रचलित थी। बाद में, रोमनों के प्रभुत्व के बढ़ने पर कैल्टिक जाति तथा कैल्टिक भाषा का ह्रास हो गया। अब केवल थोड़े से पश्चिमी योरोप

में यह प्रचलित है। स्कॉटलैण्ड की स्कॉच, आयरलैण्ड की आयरिश, वेल्स प्रदेश की वेल्श तथा उत्तर-पश्चिमी फ्राँस स्थित ब्रिटैनी प्रदेश की ब्रेटन, कैल्टिक शाखा की ही भाषाएँ हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से कैल्टिक भाषाओं का अध्ययन भारोपीय परिवार की भाषाओं में सबसे कठिन है।

(५) हित्ती—सन् १९०६–७ ई० में तुर्की के बोगाजकोई नामक स्थान पर हित्ती भाषा के कीलाक्षर-अभिलेखों से ही इस भाषा का पता चला है। इन्हें भारोपीय परिवार के प्राचीनतम अभिलेख माना जाता है, जिसका काल सन् १९०० ई० पू० से १६५० ई० पू० तक है। भारोपीय परिवार से हित्ती का सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा कि संस्कृत अथवा ग्रीक का इतालवी (लैटिन) से है।

विद्वानों का विचार है कि हित्ती तथा तोखारी ये ही दोनों भाषाएँ हैं, जो सबसे पहले भारोपीय परिवार से पृथक् हुईं थीं। यही कारण है कि 'स्टर्टवाण्ट' तथा कुछ अन्य विद्वान् भारोपीय परिवार को 'भारत-हित्ती' कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं।

(६) तुखारी—हित्ती शाखा की भाँति ही तुखारी (या तोखारी) शाखा का पता भी बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही लगा है। इसका क्षेत्र मध्य-एशिया में दूसरी शताब्दी ई० पू० से ७वीं शताब्दीं ई० पू० तक था। इसमें बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनकी लिपि प्राचीन भारतीय लिपि है।

(७) आर्य (भारत-इरानी)*—क्योंकि इस शाखा के भाषाभाषी स्वयं को आर्य कहते हैं, अतः आर्य जाति के नाम पर उनकी भाषा को भी आर्य कहा जाता है। इसकी दो प्रमुख उपशाखायें हैं—(i) भारतीय, (ii) ईरानी।

(i) भारतीय उपशाखा में प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक की सभी भारतीय आर्यभाषाएँ आती हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें तीन कालों में विभक्त किया जाता है:—

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा—(काल २००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक) इसमें वैदिक तथा संस्कृत आती हैं। ऋग्वेदादि संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों की भाषा यही है। रामायण, महाभारत तथा बाद के संस्कृत कवियों की रचनाएँ भी इसी में हैं।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ (५०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक) इसमें अनेक जनभाषाएँ, जिन्हें प्राकृत कहा गया है, आती हैं, उदाहरण के लिए—

(१) प्रथम प्राकृत या प्राचीन प्राकृत—इसका काल ५०० ई० पू० से ईस्वी सन् के आरम्भ होने तक माना जाता है। इसे ही 'पालि' कहा गया है। इसमें बौद्ध धर्म के ग्रन्थ तथा सम्राट् अशोक के अभिलेख मिलते हैं।

(२) द्वितीय प्राकृत या मध्य प्राकृत—इसका काल ईस्वी सन् के प्रारम्भ से

---

*इस उपशाखा का विस्तृत परिचय अध्याय ५ में देखिए।

५०० ई० तक माना जाता है। जैन प्राकृत तथा साहित्यिक प्राकृतें (मागधी, अर्द्ध-मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा पैशाची) इसी के अन्तर्गत हैं।

(३) तृतीय प्राकृत या अपभ्रंश—इसका काल ५०० ई० सन् से १००० ई० सन् तक है। इसका परिचय हेमचन्द्र'(१२वीं शताब्दी) के व्याकरण के ग्रन्थ सेमिलता है। यह अपभ्रंश ही आधुनिक आर्यभषाओं की जननी है।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (१००० ई० सन् से वर्तमान काल तक) अपने पूर्वकाल की अपभ्रंशों से ही इनका विकास हुआ है। भौगोलिक दृष्टि से आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया जाता है:—

(१) उत्तरी वर्ग—जिसमें कश्मीरी, लहँदा, सिन्धी तथा पञ्जावी हैं।

(२) पश्चिमी वर्ग—जिसमें केवल दो भाषाएँ—राजस्थानी तथागुजराती हैं।

(३) मध्य वर्ग—जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी तथा पहाड़ी हैं।

(४) पूर्वी वर्ग—जिसमें विहारी, असमी, वङ्गला तथा उड़िया हैं।

(५) दक्षिणी वर्ग—जिसमें मराठी तथा सिंहली हैं।

उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त 'हवूड़ी' तथा 'ज़िप्सी' बोलियाँ भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में ही आती हैं।

(ii) ईरानी उपशाखा में ईरान में बोली जाने वाली सभी ईरानी आर्यभाषाएँ आती हैं। यद्यपि ईरानी आर्यभाषा के विकास की बीच की कुछ कड़ियाँ उपलब्ध नहीं होती हैं तथापि भारतीय आर्यभाषा के विकास की भाँति ही इसे भी तीन कालों में विभाजित किया जाता है; अर्थात्—(क) प्राचीन ईरानी, (ख) मध्यकालीन ईरानी तथा (ग) आधुनिक ईरानी।

इस उपशाखा का प्राचीनतम ग्रन्थ 'अवेस्ता' है। इसी के आधार पर प्राचीन ईरानी भाषा को भी 'अवेस्ता' कहा जाता है। यह भाषा ईरान के पूर्वी भाग में बोली जाती थी।

ईरान के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली ईरानी भाषा 'फारसी' कही गयी है। इस फारसी भाषा का विकास ही आगे चलकर 'मध्यकालीन फारसी' या 'पहलवी' तथा आधुनिक फारसी के रूप में हुआ है। फिरदौसी का 'शाहनामा' आधुनिक फारसी की प्रसिद्ध रचना है।

(८) बाल्ती-स्लावी—जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है, इस वर्ग के दो उपवर्ग हैं—(क) बाल्ती या बाल्तिक और (ख) स्लावी या स्लाविक। साथ ही, कुछ भाषाविज्ञानी इन्हें एक ही वर्ग में रखना भी उचित मानते हैं। यहाँ दोनों का परिचय, पृथक्-पृथक्, संक्षेप में अपेक्षित है।

(क) बाल्ती या बाल्तिक—इस उपवर्ग की भाषाएँ बाल्तिक सागर के तट पर बोली जाती हैं। इसमें दो भाषाएँ हैं—लिथुआनि देश की लिथुआनि तथा लातविया देश की लेत्ती। ये दोनों ही भाषाएँ अभी तक भी अधिक परिवर्तित नहीं हुई हैं। अतः इनमें भारोपीय भाषा की अधिकांश विशेषताएँ अभी तक विद्यमान हैं। इस

परिवर्तन की कमी का कारण है, इन देशों की भौगोलिक स्थिति, जिसके कारण इन देशों के रहने वालों का बाह्य जगत् से सम्पर्क बहुत ही कम हुआ है। लिथुआनिया देश चारों ओर से जंगलों, दलदलों और समुद्र से घिरा हुआ है। छः महीने अत्यधिक शीत पड़ता है। अतः समुद्रमार्ग से भी आवागमन बन्द रहता है। व्यावसायिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण भी यहाँ बाह्य सम्पर्क का अभाव रहा है। परिणामस्वरूप, गत हजार वर्षों से यहाँ की भाषा लगभग अपरिवर्तित ही है।

लिथुआनी भाषा अभी तक पूर्णतया श्लिष्ट है। स्वरूप में यह वैदिक भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। संस्कृत की भाँति ही इसमें भी द्विवचन विद्यमान है। संगीतात्मक स्वराघात के कारण भी यह वैदिक एवं ग्रीक भाषाओं से समानता रखती है। लिथुआनी और लेत्ती दोनों में ही १६वीं शताब्दी से बाद का साहित्य उपलब्ध होता है, जो अधिक समृद्ध नहीं है। साहित्य की अपेक्षा इन भाषाओं का महत्त्व भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी है। अपरिवर्तित रहकर अपने मूलरूप को सुरक्षित रखने के लिये, प्रायः लिथुआनी भाषा का उदाहरण दिया जाता है।

(क) स्लावी या स्लाविक—इस उपवर्ग की तीन शाखाएँ हैं :—(क) पूर्वी, (ख) दक्षिणी और (ग) पश्चिमी।

(क) पूर्वी स्लावी में (i) महारूसी (या केवल रूसी), (ii) श्वेत रूसी तथा (iii) लघुरूसी ये तीन भाषाएँ हैं। श्वेतरूसी रूस के पश्चिमी भाग में तथा लघुरूसी उक्राइन प्रदेश में बोली जाती है। इनका साहित्यिक महत्त्व नगण्य है। महारूसी या केवल रूसी ही सोवियत संघ की राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा है। शिक्षा, साहित्य, विज्ञान एवं शासन का माध्यम यही भाषा है। इस भाषा का साहित्यिक विकास यद्यपि १८ वीं शताब्दी से ही माना जाता है, किन्तु आज इसमें अनेक विश्वविख्यात साहित्यकारों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। तुर्गनेव, तालस्ताय और गोर्की आदि अनेक रूसी साहित्यकारों की मौलिक रचनाओं के साथ ही, इसमें कालिदास, तुलसी आदि प्राचीन एवं प्रेमचन्द, अज्ञेय आदि नवीन, भारतीय साहित्यकारों की रचनाओं का अनुवाद भी उपलब्ध है। रूस की प्राविधिक प्रगति के कारण इसमें पर्याप्त प्राविधिक साहित्य भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार रूसी भाषा बहुत ही समृद्ध एवं समर्थ है।

(ख) दक्षिण स्लावी—में (i) स्लोवेनी, (ii) सर्बो-क्रोती और (iii) बुल्गारी भाषाएं हैं। स्लोवेनी युगोस्लाविया के दक्षिण में स्थित आद्रियातिक सागर के तट की बोली है; और इसका साहित्यिक मूल्य नगण्य है। सर्बो-क्रोति युगोस्लाविया की भाषा है। स्लावी भाषाओं में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा इसकी कई बोलियाँ भी हैं। १२ वीं शताब्दी से इसमें साहित्य-रचना होती रही है।

बुल्गारी—स्लावी उपवर्ग की सर्वप्राचीन भाषा है। इसी को चर्च-स्लावी भी कहा जाता है। इसका जो प्राचीन साहित्य ८ वीं शताब्दी का उपलब्ध होता है, वह बाइबिल का अनुवाद है। ९वीं-१०वीं शताब्दी में भी इसमें धार्मिक साहित्य की रचना

होती रही। प्राचीन बुलगारी संस्कृत और ग्रीक से बहुत मिलती है तथा यह संयोगात्मक है। किन्तु आधुनिक बुल्गारी प्रायः वियोगात्मक है। आधुनिक बुलगारी में ग्रीक, रूमानी, तुर्की एवं अल्बानी भाषाओं के शब्दों की संख्या बहुत अधिक है।

(ग) पश्चिमी स्लावी—में (i) चेक, (ii) पोली और (iii) स्लोवाक्—ये तीन भाषाएँ हैं। पोली भाषा पोलैण्ड में बोली जाती है। इसमें १२ वीं शताब्दी से साहित्य-रचना हो रही है। प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक पोली का विकास तीव्रगति से हो रहा है। आधुनिक पोली साहित्य-सम्पन्न भी है।

चेक भाषा चेकोस्लाविया में बोली जाती है। इसमें १३ वीं शताब्दी तक का साहित्य मिलता है। चेक का आधुनिक साहित्य, प्राचीन साहित्य की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। चेक भाषा की कई बोलियाँ भी हैं।

स्लोवाक् का अपना पृथक् स्वरूप कोई महत्त्व नहीं रखता है। यह, वस्तुतः, चेक भाषा की ही एक विभाषा है।

संक्षेप में, स्लावी भाषाओं में निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :—

(१) श्लिष्ट योगात्मकता—स्लावी भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक या विभक्ति-प्रधान है। संस्कृत की भाँति ही इनमें भी शब्द-रूप एवं धातु-रूप बनते हैं।

(२) बलाघात—शब्द में बल-परिवर्तित होने पर, शब्द का अर्थ भी बदल जाता है। उदाहरण के लिए रूसी शब्द Zamok में यदि बालाघात a पर होगा, तो अर्थ होगा 'दुर्ग' या 'किला' और यदि बलाघात o पर होगा, तो अर्थ होगा 'ताला'।

(९) अल्बानी—यह अल्बानिया देश की भाषा है। ग्रीस में भी कुछ लोग इसे बोलते हैं। यह 'इलीरी' नाम की एक प्राचीन एवं व्यापक भाषा की एकमात्र अवशिष्ट उपभाषा है। अपनी ध्वनियों एवं पदरचना में अत्यधिक परिवर्तन के कारण यह अन्य भारोपीय-भाषाओं से नितान्त भिन्न प्रतीत होती है। अतः, बहुत दिनों तक अनेक विद्वान् इसे भारोपीय परिवार में रखने तक के लिए सहमत नहीं थे। इसमें ग्रीक, लैटिन, तुर्की और स्लावी भाषाओं के शब्दों की भरमार है, जिससे इसका अपना स्वरूप तक स्पष्ट नहीं है। प्राचीन साहित्य, का इसमें अभाव है, केवल कुछ प्राचीन अभिलेख ही मिलते हैं। १६ वीं शताब्दी का बाइबिल का एक अनुवाद भी इसमें मिला है। इसके बाद १७ वीं शताब्दी से इसमें लोकगीत-प्रधान साहित्य उपलब्ध होता है।

(१०) आर्मीनी—यह आर्मीनिया देश की भाषा है। आर्मीनिया और ईरान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतः आर्मीनी भाषा पर भी ईरानी भाषा का प्रभाव बहुत अधिक है। प्राचीन आर्मीनी धार्मिक अवसरों पर आज भी प्रयुक्त होती है। इसमें कुछ ईसाई-साहित्य एवं थोड़े-से कीलाक्षर अभिलेख मिलते हैं। इसकी आधुनिक बोली 'स्तंबुल' है, जो कुस्तुनतुनिया देश और कृष्णसागर के तटपर बोली जाती है। डॉ० तारापुरवाला के अनुसार आर्मीनी आर्य और बाल्ती-स्लावी शाखाओं की संयोजक कड़ी है।

[अध्याय ५]

आर्य या भारत-ईरानी शाखा

१. नामकरण तथा महत्त्व

२. आर्य शाखा का विभाजन

३. वैदिक-संस्कृत तथा अवेस्ता की तुलना

(ख) साम्य

(ख) वैषम्य

[अध्याय ५]

आर्य या भारत-ईरानी शाखा

१. नामकरण तथा महत्त्व

सर्वप्रथम, इस शाखा के नामकरण तथा महत्त्व पर विचार करना आवश्यक है।

नामकरण—भारोपीय परिवार के उपरान्त, यहाँ भारोपीय परिवार की 'सतम्' शाखा (वर्ग) की आर्य या भारत-ईरानी शाखा का विस्तृत परिचय दिया जायगा। कुछ विद्वान् इसे हिन्द-ईरानी शाखा भी कहते हैं। इस शाखा की भाषाओं को बोलने वाले आर्य थे। भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का तो 'आर्य' शब्द से घनिष्ठ सम्बन्ध है ही, स्वयं 'ईरान' शब्द भी 'आर्याणाम्' शब्द का ही विकसित रूप है। आर्यों या भारत-ईरानियों द्वारा बोली जाने के कारण ही 'भारोपीय परिवार' की इस शाखा का नाम 'आर्य' या 'भारत-ईरानी' पड़ा है।

महत्त्व—जिस प्रकार अन्य भाषा-परिवारों की अपेक्षा भारोपीय भाषा-परिवार का सर्वाधिक महत्त्व है, उसी प्रकार भारोपीय परिवार की अन्य शाखाओं में 'आर्य' या 'भारत-ईरानी' शाखा का महत्त्व भी सर्वाधिक है। अपितु, कहा जा सकता है कि आर्य शाखा के कारण ही विश्व के भाषा-परिवारों में भारोपीय परिवार को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आर्य शाखा के महत्त्व के निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) भारोपीय परिवार का प्राचीनतम और प्रामाणिक साहित्य—'ऋग्वेद' और 'अवेस्ता' ग्रन्थ—इसी शाखा में उपलब्ध होता है। विश्व की किसी भी भाषा में 'ऋग्वेद' की तुलना में प्राचीन तथा प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध नहीं है। 'ऋग्वेद' की ऋचाओं का रचनाकाल विभिन्न विद्वानों के अनुसार ३००० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० तक माना जाता है। इसी प्रकार 'अवेस्ता' नामक पारसियों के धर्मग्रन्थ की रचना भी बहुत प्राचीनकाल में ही हो चुकी थी। 'अवेस्ता' के प्राचीन अंशों की रचना भी ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी से लेकर प्रथम सहस्राब्दी तक, कहीं बीच में, मानी जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार इसके रचयिता आचार्य 'ज़ोरोआस्टर' या 'जरथुष्ट्र' हैं और अनुमानतः उनका काल १४ वी शताब्दी ई० पू० है।

(२) आर्य शाखा की भाषाओं की संरचना तथा उनका साहित्य भी पर्याप्त महत्त्व का है।

(३) सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'भाषाविज्ञान' को अपने अध्ययन के लिए सर्वाधिक सामग्री आर्य शाखा से ही प्राप्त हुई है। पश्चिम में तो आधुनिक भाषा

विज्ञान का श्रीगणेश ही इस शाखा की भाषाओं, विशेषतः संस्कृत के अध्ययन से हुआ है।[1]

२. आर्य शाखा का विभाजन[2]

आर्य शाखा के भाषा-विकास को देखते हुए यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है, कि विभाजन से पूर्व इस शाखा के भाषाभाषी आर्य किसी एक ही स्थान पर रहते थे। वाद में, उनमें से कुछ लोग ईरान में रह गये तथा कुछ लोग भारत की ओर आ गये। यही कारण है कि आर्य शाखा की एक उपशाखा ईरानी कहलायी और दूसरी भारतीय या हिन्द। इन दोनों प्रमुख उपशाखाओं के मध्य एक गौण 'दरद' उपशाखा का अस्तित्व भी कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है।

३. वैदिक-संस्कृत तथा अवेस्ता की तुलना

(क) वैदिक-संस्कृत तथा अवेस्ता[3] का साम्य—भारतीय उपशाखा की सर्व-प्राचीन उपलब्ध भाषा वैदिक या वैदिक-संस्कृत है। इसी प्रकार ईरानी उपशाखा की सर्वप्राचीन उपलब्ध भाषा 'अवेस्ता' है। अतः, यहाँ इन दोनों भाषाओं की तुलना करते हुए, इनके साम्य-वैषम्य को देखना उपयोगी होगा। 'वैदिक-संस्कृत' और 'अवेस्ता' दोनों का ही विकास मूलभारोपीय भाषा से हुआ है, अतः दोनों में कुछ साम्य का होना स्वाभाविक है। संक्षेप में, वैदिक-संस्कृत तथा अवेस्ता में निम्नलिखित साम्य है:—

---

1. "As historical fact, the scientific study of human speech is founded upon the Comparative Philology of the Indo-European Languages, and this ackonowledges the Sanskrit as it's most valuable means and aid."—Whitney, Language and it's Study.

२. "इस शाखा का विभाजन विवादास्पद है। 'ग्रियर्सन', 'चटर्जी' आदि इसे (१) ईरानी, (२) दरद, (३) भारतीय, इन तीन उपशाखाओं में विभाजित करने के पक्ष में हैं। 'स्टेंन कोनो' तथा कुछ अन्य विद्वान् केवल दो के पक्ष में हैं—(१) ईरानी और (२) भारतीय। ये विद्वान् 'दरद' को 'ईरानी' के अन्तर्गत रखते हैं। तृतीय मत 'जूल ब्लॉख' तथा अन्य विद्वानों का है। ये उपर्युक्त दो वर्गों को ही मानते हुए 'दरद' को 'भारतीय वर्ग में रखते हैं, 'ईरानी' वर्ग में नहीं। उनके अनुसार 'दरद' प्राचीन वैदिक की ईरानी से प्रभावित एक शाखा है। किन्तु, वस्तुस्थिति यह है कि दरद, ईरानी तथा भारतीय दोनों शाखाओं की मध्यवर्ती शाखा है, और उसमें दोनों की समानताएँ मिलती हैं। साथ ही, कुछ विषमताएँ भी हैं। व्याकरण और ध्वनि, दोनों को देखते हुए इसे दोनों से पृथक् रखना ही उचित प्रतीत होता है। निष्कर्षतः, आर्य शाखा का विभाजन (१) ईरानी, (२) दरद, तथा (३) भारतीय, इन तीन वर्गों में करना ही समीचीन है।"—डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान-कोश, प्रथम संस्करण, पृ० ६१–६२।

३. 'अवेस्ता' पारसी लोगों की मूल धर्म-पुस्तक है। इसे कुछ लोग भ्रमवश 'जिन्दावेस्ता' भी कहते हैं। इसकी भाषा को भी अवेस्ता (अवेस्तन) कहा जाता है।

(१) मूल भारोपीय भाषा के तीन ह्रस्व (अ, एँ, ओँ) तथा तीन दीर्घ (आ, ऐ, ओ) मूलस्वरों के स्थान पर भारत-ईरानी (संस्कृत-अवेस्ता) दोनों में ही एक ह्रस्व (अ) तथा एक दीर्घ (आ) मूल स्वर मिलता है—

मूल भारोपीय		वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
नेभोस	>	नभस्	=	नवह्
ओस्थ	>	अस्थि	=	अस्त
याग	>	यज्	=	यज्
एपी	>	अपः	=	अप

(३) मूल भारोपीय के अतिह्रस्व या उदासीन स्वर ॿ के स्थान पर भारत-ईरानी में 'इ' मिलता है—

मूल भारोपीय		वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
प्ॿते	>	पिता	=	पिता

(३) मूलभारोपीय 'र्' (ऋ) के स्थान पर भारत-ईरानी में ल् (लृ) तथा 'ल्' (लृ) के स्थान पर 'र्' (ऋ) मिलता है। अर्थात् इन ध्वनियों में 'रलयोरभेदः' (र् और ल् में अभेद) की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

(४) मूलभारोपीय शब्दों में इ, उ, क् तथा र् आदि के बाद में आने वाला 'स्' व्यञ्जन संस्कृत में 'ष्' तथा ईरानी में 'श्' हो गया है—

मूल भारोपीय		वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
स्थिस्थामि	>	तिष्ठामि	=	हिश्तइति
जिउस्तर	>	जोष्टा	=	जओशा

(५) इसी प्रकार मूल भारोपीय कण्ठ्य या कण्ठोष्ठ्य क् (क्व्) ख् (ख्व्) ग (ग्व्) घ् (घ्व्) ध्वनियाँ भारत-ईरानी में शुद्ध कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ्, हो गयी हैं। अपने बाद में इ, ए स्वर ध्वनि आने पर ये ही क्, ख्, ग्, घ्, क्रमशः च्, छ् ज्, और झ् हो जाती है।

(६) मूल भारोपीय की प्रथम श्रेणी कीं कण्ठतालव्य क् (क्य्) ख् (ख्य्) ग् (ग्य्) घ् (घ्य्) ध्वनियाँ भारत-ईरानी में क्रमशः श्, श्ह्, ज्, और ज्ह्, हो गयी हैं। बाद में संस्कृत में श्, ज्; ह् तथा अवेस्ता में स्, ज् और ज्ह्, हो गयी हैं।

(७) भारत-ईरानी दोनों में ही स्वरान्त संज्ञाओं का षष्ठी बहुवचन 'नाम्' प्रत्यय लगाकर बनता है; जैसे, आर्याणाम्।

(८) दोनों में ही आज्ञार्थक प्रत्यय 'तु' (एकवचन), 'न्तु' (बहुवचन) पाये जाते हैं।

(९) अनेक शब्द भारत-ईरानी, दोनों में ही ध्वनियों तथा अर्थों की दृष्टि से, लगभग समान ही हैं—

वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
ओजस्	=	ओजो
अनु	=	अनु
अन्य	=	अन्य
ददामि	=	ददामि
पुत्र	=	पुथ्र

(१०) वैदिक तथा अवेस्ता में इतनी अधिक समानता है कि एक भाषा को थोड़े से ही परिवर्तन से दूसरी भाषा में बदला जा सकता है*—

वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं	=	यो यथा पुथ्रं तउरुनम् हओमम्
वन्देत मर्त्यः ।	=	वन्दएँता मश्यो ।

(ख) वैदिक-संस्कृत तथा अवेस्ता का वैषम्य—एक ही, मूल भारोपीय भाषा से ही पृथक्-पृथक् रूपों में विकसित होने के कारण भारतीय (वैदिक-संस्कृत) तथा (अवेस्ता) में अनेक प्रकार का वैषम्य भी है, जो इन्हें एक-दूसरी से पृथक् करता है:—

(१) वैदिकसंस्कृत 'ऋ' ध्वनि' अवेस्ता में 'अर्' 'र्' या 'अ' मिलती है।

वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
वृक्षम्	=	वरेशम्

(२) वैदिक-संस्कृत में चवर्ग व्यञ्जनों की संख्या ५ है—च्, छ, ज्, झ् और ञ्। किन्तु, अवेस्ता में चवर्ग केवल २ ही व्यञ्ज़न है—च और ज।

(३) वैदिक-संस्कृत में टवर्ग है, किन्तु अवेस्ता में नहीं है।

(४) वैदिक-संस्कृत-वर्णमाला में पाँचों वर्गों में विद्यमान महाप्राण वर्ण (द्वितीय और चतुर्थ) अवेस्ता में नहीं हैं।

(५) प्राचीन अवेस्ता में 'ल्' भी नहीं है। इसके स्थान पर वहाँ 'र्' का ही प्रयोग होता है, जैसे—'श्रीलः' के स्थान पर 'स्रीरो'।

(६) अवेस्ता में स्वरों की संख्या अधिक है। वैदिक-संस्कृत के 'अ' या 'आ' के स्थान पर अवेस्ता में ८ भिन्न-भिन्न स्वरों का प्रयोग होता है।

(७) वैदिक-संस्कृत की 'स्' ध्वनि, अवेस्ता में 'ह्' हो जाती है—

---

*इस सम्बन्ध में 'जैकंसन' ने अपने ग्रन्थ 'अवेस्ता ग्रामर' की भूमिका में लिखा है—

"प्राय: कोई भी संस्कृत-शब्द केवल कुछ ध्वनि-नियमों के आधार पर अवेस्ता के पर्यायवाची शब्द में, अथवा अवेस्ता-शब्द संस्कृत में बदला जा सकता है।"

—पी० डी० गुणे, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, पृ० ११३ से उद्धृत।

वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
सप्त	=	हप्त
असि	=	अहि
असुर	=	अहुर

(८) वैदिक-संस्कृत की घोष महाप्राण ध्वनियाँ घ्, ध्, भ्, अवेस्ता में घोष अल्पप्राण मिलती हैं—

वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
भूमि	=	बूमि
भ्राता	=	ब्राता
दीर्घम्	=	दरेगम्

(९) वैदिक-संस्कृत की अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् ध्वनियाँ अवेस्ता में संघर्षी ख्, थ्, फ्, के रूप में मिलती हैं—

वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
क्रतुः	=	खुरतुश्
सत्यम्	=	हरथ्यम्
स्वप्नम्	=	हवफ़नम्

(१०) अवेस्ता में आदिस्वरागम तथा अपिनिहिति संस्कृत की अपेक्षा अधिक है—

वैदिक-संस्कृत		अवेस्ता
भरति	=	बरइंति
भवति	=	बवइति

इन ध्वनि-सम्बन्धी भेदों के अतिरिक्त व्याकरण-सम्बन्धी अनेक भेद भी मिलते हैं।

उपर्युक्त विषमता को देखने से ज्ञात होता है कि वैदिक एवं अवेस्ता में मुख्य अन्तर उच्चारण सम्बन्धी ही है। क्योंकि ध्वनियों के उच्चारण सम्बन्धी उदाहरण ही विद्वानों की दृष्टि में अधिक आये हैं। सम्भवतः, पदरचना और अर्थ में उतना अन्तर नहीं है, जिसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता हो।

———

[अध्याय ६]

ईरानी भाषा

१. ईरानी भाषा का काल-विभाजन
   (क) अवेस्ता तथा प्राचीन फारसी
   (ख) मध्यकालीन फारसी (पहलवी)
   (ग) आधुनिक फारसी
   (घ) अन्य बोलियाँ

[अध्याय ६]

ईरानी भाषा

भारोपीय परिवार के सतम् वर्ग की हिन्द-ईरानी शाखा की एक उपशाखा ईरानी भाषा है। इसका क्षेत्र ईरान देश है। प्राचीन ईरानी भाषा (अवेस्ता) तथा प्राचीन भारतीय आर्यभाषा (वैदिक-संस्कृत) की तुलना पहले की जा चुकी है। यहाँ ईरानी भाषा के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करना ही प्रमुख उद्देश्य है।

१. ईरानी* भाषा का काल-विभाजन

यद्यपि भारतीय आर्यभाषा की भाँति, ईरानी आर्यभाषा की पूरी शृङ्खला उपलब्ध नहीं होती है, तथापि काल की दृष्टि से इसे ३ भागों में विभाजित किया जाता है—

(क) प्राचीन ईरानी, (ख) मध्यकालीन ईरानी तथा (ग) आधुनिक ईरानी।

(क) प्राचीन ईरानी

ऐसा अनुमान है कि प्राचीन ईरानी में साहित्य की मात्रा पर्याप्त थी, किन्तु दो विदेशी आक्रमणों ने इसके प्रचुर साहित्य को जलाकर राख कर डाला। इनमें से पहला विदेशी आक्रमण ई० पू० ३२३ में सिकन्दर का था, और दूसरा लगभग ७वीं शताब्दी ई० में अरबों का। इन दोनों विदेशी आक्रमणकारियों ने अपनी अदूरदर्शिता से प्राचीन ईरानी के अधिकांश साहित्य को नष्ट कर दिया।

प्राचीन ईरानी के दो रूप थे, जिनमें से (i) एक ईरान के पूर्वी भाग में बोला जाता था, (ii) दूसरा पश्चिमी भाग में।

(i) **पूर्वी ईरानी या अवेस्ता**—इसका प्रतिनिधि साहित्य केवल 'अवेस्ता' ग्रन्थ ही है। यह पारसियों का धर्मग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य जरथुष्ट्र हैं। इसकी भाषा को भी 'अवेस्ता' कहते हैं। कुछ लोग इसे 'अवेस्ती' या 'अवेस्तन' भी कहते हैं। प्राचीन बैक्ट्रिया राज्य की राजभाषा होने के कारण यह 'प्राचीन बैक्ट्रियन' भी कही जाती है। कुछ लोग भ्रमवश इसे 'जिन्दावेस्ता' भी कहते हैं। वस्तुतः 'जिन्द' का अर्थ है 'टीका' और 'जिन्दावेस्ता' का अर्थ है—'अवेस्ता की टीका', जो पहलवी भाषा में है। वस्तुतः, 'अवेस्ता' शब्द का अर्थ है—'शास्त्र'। इसमें वैदिक ग्रन्थ ऋग्वेद की भाँति ही 'गाथाएँ' या प्रार्थनाएँ हैं। इसके प्राचीन अंश विभिन्न मतों के अनुसार ई० पू० ३००० से ई० पू० ७०० तक के माने जाते हैं। इसी कारण 'ऋग्वेद' तथा 'अवेस्ता' की तुलना अपना विशेष महत्त्व रखती है।

'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ की भाषा 'पूर्वी ईरानी' या 'अवेस्ता' का विकास आगे किस रूप में हुआ, इसका कोई ज्ञान आज हमें नहीं है।

---

*इस अध्याय में ईरानी और फारसी शब्द पर्यायवाची हैं।

(ii) पश्चिमी ईरानी या प्राचीन फारसी—यह ईरान के केवल पश्चिमी भाग की भाषा थी। काल की दृष्टि से प्राचीन फारसी 'अवेस्ता' भाषा के कुछ ही बाद की प्रतीत होती है। भारतीय प्राचीन आर्यभाषा संस्कृत से इसकी पर्याप्त समानता है। लिखित रूप में इसमें केवल ऐकेमिनियन राजाओं – डेरियस प्रथम (५२१-४८५ ई० पू०) आदि के खुदवाये कुछ अभिलेख ही मिलते हैं, जो कीलाक्षरों में हैं। अभिलेखों से संकलित लगभग ४०० शब्दों के आधार पर किए गए, इस भाषा के अध्ययन से इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ ज्ञात होती हैं:—

१. 'प्राचीन फारसी' तथा 'अवेस्ता' भाषा में अनेक समानताएँ हैं।
२. 'प्राचीन फारसी' की वर्णमाला 'अवेस्ता' की वर्णमाला से सरल है।
३. वर्णमाला की दृष्टि से प्राचीन फारसी संस्कृत के समीप है।

उदाहरणार्थ—संस्कृत के समान ही प्राचीन फारसी में अ (a) स्वर ध्वनि केवल एक रूप में ही मिलती है, अवेस्तन के समान ह्रस्व एँ (e) तथा ओँ (o) का इसमें अभाव है।

अवेस्ता	प्राचीन फारसी		संस्कृत
येँजी (Yezi) =	यदी (Yadiy)	=	यदि

४. 'अवेस्ता' भाषा के ह्रस्व e (एँ) और o (ओँ) के अभाव के साथ ही साथ 'अवेस्ता' की व्यञ्जन z (सघोष s) ध्वनि, प्राचीन फारसी में द् (d) हो जाती है —

अवेस्ता		प्राचीन फारसी		संस्कृत
Zasta	>	dasta	=	हस्त
Azam	>	adam	=	अहम्

५. 'अवेस्ता' भाषा में हलन्त पद मिलते हैं, किन्तु 'प्राचीन फारसी' में नहीं—

अवेस्ता		प्राचीन फारसी		संस्कृत
Abarat	=	abara...	=	अभरत्

अन्य प्राचीन ईरानी भाषाएँ

प्राचीन फारसी के अतिरिक्त शेष प्राचीन ईरानी बोलियों में से सागियन, जैबुली, हिराती आदि का केवल नाम ही ज्ञात होता है। इनके विषय में अन्य कुछ जानकारी नहीं है।

(ख) मध्यकालीन ईरानी (फारसी अथवा पहलवी)

यह प्राचीन फारसी से ही विकसित मानी जाती है। ससैनियन राजवंश (२२६ ई० से ६५२ ई०) की यह राजभाषा थी। इसका साहित्य भी तीसरी शताब्दी से ही मिलना प्रारम्भ होता है। कुछ खुदे हुए लेख तथा 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ के कुछ भागों की टीका इसमें प्राप्त है।

पहलवी में सेमेटिक शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। इसकी लिपि भी सेमिटिक ही है। केवल १३ संकेतों से ही २७ ध्वनियों को व्यक्त करने के कारण इसकी लिपि कठिन होने के साथ ही साथ बहुत ही अवैज्ञानिक भी है।

जिस प्रकार 'अवेस्ता' प्राचीन भारतीय आर्यभाषा 'वैदिक' से समानता रखती है तथा 'प्राचीन फ़ारसी' प्राचीन भारतीय आर्यभाषा संस्कृत' से समानता रखती है, उसी प्रकार 'मध्यकालीन' फारसी' या पहलवी' मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा 'प्राकृत' तथा 'अपभ्रंशों' से समानता रखती है।

(ग) आधुनिक फारसी

यह मध्यकालीन फारसी से ही विकसित है। इसकी सबसे प्राचीनतम साहित्यिक रचना महाकवि 'फिरदौसी' (९४०-१०२० ई०) का 'शाहनामा' नामक राष्ट्रीय महाकाव्य है। अर्वाचीन फारसी की अपेक्षा 'फिरदौसी' की भाषा में अरबी शब्द कम हैं।

'फिरदौसी' के बाद की फारसी पर, विशेषतः साहित्यिक फारसी पर, अरबी का प्रभाव बढ़ता गया है। वाक्य-रचना तक अरबी भाषा से प्रभावित है। यद्यपि 'फिरदौसी' के समय से लेकर आजतक की फारसी, रचना आदि की दृष्टि से, प्रायः एक-सी ही है, तथापि शब्द-भाण्डार में नये-नये शब्दों की संख्या पर्याप्त बढ़ गयी है। उच्चारण में भी परिवर्तन हो गया है। कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित है :—

१. आधुनिक फारसी, मध्यकालीन फारसी की अपेक्षा अधिक सरल तथा मधुर है।

२. यह हिन्दी के समान वियोगात्मक हो गयी है।

३. अनेक विदेशी, विशेषतः फ्रांसीसी शब्द इसमें आ गये हैं।

४. शब्दरूपों का भेद मध्यकालीन फारसी की अपेक्षा कम हो गया है।

५. उच्चारण की दृष्टि से निम्नलिखित अन्तर हुआ है :—

(क) प्राचीन और मध्यकालीन फारसी की क्, त्, प्, और च् ध्वनियाँ क्रमशः ग्, द्, व, और ज् हो गयी हैं—

अवेस्ता		पहलवी		आधुनिक फारसी		अर्थ
mahrka	=	mark	=	marg	=	...
hvato	=	khot	=	khd	=	खुद=स्वयं
ap	=	op	=	ab	=	आब=पानी
rauch	=	roj	=	roz	=	रोज=दिन

(ख) अवेस्तन Y के स्थान पर आधुनिक फारसी में प्रायः J मिलता है—

yama	=	Jam	=	शीशे का प्याला
yatu	=	Jadu	=	जादू (तमाशा)

(ग) अवेस्ता तथा प्राचीन फारसी में शब्दों के आरम्भ में आने वाले संयुक्त व्यञ्जन, आधुनिक फारसी में संयुक्त नहीं रहते, उनके आरम्भ या मध्य में एक नयी स्वर ध्वनि आ जाती है :—

अवेस्ता तथा प्रा० फारसी		आधुनिक फारसी
Sta (स्ता=ठहरना)	=	Istadan (इस्तादन)
Brathar (=भाई)	=	Biradar (बिरादर)

संक्षेप में, ईरानी भाषा के विकास को हम निबन्धात्मक रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं:—

प्राचीन ईरानी के दो रूप थे—(१) ईरानी के पूर्वी भाग में बोली जाने वाली पूर्वी ईरानी, जिसका रूप हमें 'अवेस्ता' धर्मपुस्तक में मिलता है और इसी कारण, जो 'अवेस्ता' भाषा कही जाती है। इसका विकास आगे मध्यकाल या आधुनिक काल में किस रूप में हुआ है, इसका कोई नमूना हमें आज प्राप्त नहीं है। अतः, इसके सम्बन्ध में आगे कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। (२) ईरान के पश्चिमी भाग (जिसे पहले फारस कहा जाता था) में बोली जाने वाली प्राचीन ईरानी को पश्चिमी ईरानी या प्राचीन फ़ारसी कहते हैं। इस प्राचीन फारसी का विकास, मध्यकाल में 'पहलवी' तथा आधुनिक काल में 'साहित्यिक फ़ारसी' के रूप में मिलता है।

प्राचीन फारसी में ऐकेमिनियन राजवंश के कुछ अभिलेख प्राप्त होते हैं। मध्यकालीन फारसी या 'पहलवी' में कुछ खुंदे हुए लेख तथा 'अवेस्ता' धर्मग्रन्थ के कुछ अंशों की टीका प्राप्त होती है। अर्वाचीन फारसी या 'साहित्यिक फारसी' में 'फिरदौसी' का 'शाहनामा' नामक महाकाव्य प्राप्त होता है।

फारसी के उपर्युक्त तीनों रूपों में ध्वनि-परिवर्तन, लिपि-परिवर्तन तथा शब्द-भाण्डार में परिवर्तन आदि भाषाविकास के लक्षण उपलब्ध होते हैं, और इस रूप में—'प्राचीन फ़ारसी' (प्राचीन भारतीय आर्यभाषा) 'संस्कृत' से, 'मध्यकालीन फारसी' (मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा), 'प्राकृत' तथा अपभ्रंश' से और 'आधुनिक फारसी' (आधुनिक भारतीय आर्यभाषा) आधुनिक 'हिन्दी' आदि से समानता रखती है।

ईरानी भाषा से विकसित आधुनिकतम भाषाओं (बोलियों) में से किसका विकास प्राचीन या मध्यकालीन फारसी के किस रूप से हुआ है, इसका कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। वैसे ईरानी भाषा के क्षेत्र में आजकल--पश्तो (पशतो) देवारी, बलूची, ओसेतिक, कुर्दी, बगिस्तां, पामीरी, तथा आधुनिक फ़ारसी आदि

अनेक बोलियाँ प्रचलित हैं; जिनके विकास की कोई सुनिश्चित रूपरेखा प्राप्त नहीं होती है। संक्षेप में, ईरानी भाषा के विकास की रूपरेखा इस प्रकार है :—

ईरानी भाषा

- (१ क) पूर्वी (अवेस्ता)
  - (१ ख) मध्यकालीन रूप–(अनुपलब्ध)
    - (१ ग) आधुनिक रूप–(अनुपलब्ध)
      - ? ? ? ?
- (२ क) पश्चिमी (प्राचीन फारसी)
  - (२ ख) मध्यकालीन फारसी (पहलवी)
    - (२ ग) आधुनिक फारसी (साहित्यिक फारसी)
      - ? ?

१. (घ) ओसेतिक | कुर्दी | बगिस्ताँ | पामीरी बोलियाँ | बलूची, | पश्तो तथा पख्तो | देवारी | आधुनिक फारसी
२.

[टिप्पणी:—ओसेतिक, कुर्दी और बगिस्ताँ आदि ये आधुनिक बोलियाँ फारसी के अपने किस पूर्वकालीन रूप से विकसित हैं, यह निश्चित नहीं हैं। इसीलिए इन्हें प्रश्नचिह्नों की शृङ्खला के पश्चात् दिखलाया गया है।]

[अध्याय ७]

भारतीय आर्यभाषा

(विभिन्न रूपों का विकासात्मक तथा तुलनात्मक परिचय)

१. महत्त्व

२. कालविभाजन

३. प्राचीन भरतीय आर्यभाषा

(i) वैदिक भाषा-परिचय

—वैदिक ध्वनियों का मूल भारोपीय ध्वनियों से अन्तर

—वैदिक भाषा की विशेषताएँ

(ii) संस्कृत भाषा-परिचय

—संस्कृत ध्वनियों का वैदिक ध्वनियों से अन्तर

—संस्कृत भाषा की विशेषताएँ

४. वैदिक तथा संस्कृत की तुलना—साम्य तथा वैषम्य

५. संस्कृत भी कभी बोलचाल की भाषा थी

६. भारत में संस्कृत का अजस्र प्रवाह

७. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा

(i) (क) प्रथम प्राकृत या पालि भाषा-परिचय

—'पालि' की प्रमुख विशेषताएँ

—संस्कृत तथा पालि की तुलना

(ख) शिलालेखी प्राकृत-परिचय तथा विशेषताएँ

(ii) द्वितीय प्राकृत के विभिन्न रूपों का परिचय तथा सामान्य विशेषताएँ

(iii) तृतीय प्राकृत या अपभ्रंश के विभिन्न रूपों का परिचय तथा सामान्य विशेषताएँ

८. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के विभिन्न रूपों का परिचय तथा सामान्य विशेषताएं

[अध्याय ७]

भारतीय आर्यभाषा*

१. महत्त्व

भारतीय आर्यभाषा का महत्त्व संसार की सभी भाषाओं से अधिक है। इस महत्त्व का श्रेय प्रमुखरूप से संस्कृत भाषा को है। इसके महत्त्व के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

१—विश्व की किसी भी अन्य प्राचीन भाषा का साहित्य इतना विस्तृत नहीं है और न ही इतना प्रामाणिक है।

२—ग्रीक तथा लैटिन, यूरोप की इन दोनों प्राचीन भाषाओं का साहित्य मिलकर भी, मात्रा में संस्कृत-साहित्य से कम ही रहता है।

३—इस वर्ग में वैदिक, बौद्ध और जैन, इन तीनों प्रमुख धर्मों का तथा अन्य कई धर्मों का साहित्य उपलब्ध होता है।

४—भारतीय आर्यभाषा की प्राचीनतम भाषा, वैदिक भाषा का साहित्यिक ग्रन्थ 'ऋग्वेद' विश्व का प्राचीनतम साहित्य है।

५—यूरोप में संस्कृत भाषा के अध्ययन के साथ ही भाषा-विज्ञान को एक विज्ञान के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है।

२. भारतीय आर्यभाषा का कालविभाजन

काल की दृष्टि से भारतीय आर्यभाषा की पूरी शृङ्खला को ३ भागों में विभाजित किया जाता है—

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ (प्रा० भा० आ०)—१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ (म० भा० आ०)—५०० ई० पू० से १००० ई० तक।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (आ० भा० आ०)—१००० ई० सन् से अब तक।

इन तीनों का परिचय क्रमशः यहाँ प्रस्तुत है।

(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ

इनका समय १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक माना जाता है। वस्तुतः यह विवादास्पद विषय है। इस वर्ग में भाषा के दो रूप उपलब्ध होते हैं—(i) वैदिक या वैदिक संस्कृत, (ii) संस्कृत या लौकिक संस्कृत। इन दोनों का भी पृथक्-पृथक् परिचय अपेक्षित है।

---

*चित्र पृ० ४६ पर देखिये।

(i) **वैदिक या वैदिक संस्कृत**—इसे 'वैदिक भाषा', 'वैदिकी', 'छान्दस्' या 'प्राचीन संस्कृत' भी कहा जाता है। वैदिक भाषा का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में सुरक्षित है। यद्यपि अन्य तीनों संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि की भाषा भी वैदिक ही है, किन्तु इन सभी में भाषा का एक ही रूप नहीं मिलता। 'ऋग्वेद' के दूसरे मण्डल से नौवें मण्डल तक की भाषा ही सर्वाधिक प्राचीन है। यह 'अवेस्ता' के अत्यधिक निकट हैं। शेष संहिताओं तथा अन्य ग्रन्थों में भाषा का क्रमिक विकसित रूप मिलता है। प्रो० आन्त्वाँ आदि विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद की उन ऋचाओं की भाषा ही प्राचीनतम है, जिनमें आर्यों का वातावरण तत्कालीन पञ्जाब के वातावरण से मिलता-जुलता वर्णित है। इसी प्रकार वैदिक भाषा के दो अन्य रूप—दूसरा और तीसरा भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं। दूसरे रूप पर मध्यदेशीय भारत का तथा तीसरे रूप पर पूर्वी भारत का प्रभाव लक्षित होता है।[1] इससे ज्ञात होता है कि वैदिक भाषा का प्रवाह अनेक शताब्दियों तक रहा होगा।

विद्वानों का विचार है कि वैदिक भाषा का जो रूप हमें आज वैदिक साहित्य, विशेषतः ऋग्वेद में मिलता है, वह तत्कालीन साहित्यिक भाषा ही थी, बोलचाल की भाषा नहीं। तत्कालीन बोलचाल की भाषा को जानने का कोई साधन आज हमें उपलब्ध नहीं है। हाँ, साहित्यिक वैदिक के आधार पर हम उसका कुछ अनुमान अवश्य ही कर सकते हैं।

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ मूलभारोपीय ध्वनियों से कई बातों में भिन्न हैं—

१. मूलभारोपीय तीन मूल ह्रस्व स्वरों—अ, ऐं, ओं के स्थान पर वैदिक में केवल एक 'अ' ही मूल ह्रस्व स्वर शेष है।

२. मूलभारोपीय तीन मूल दीर्घ स्वरों—आ, ए, ओ के स्थान पर वैदिक में केवल एक 'आ' ही मूल दीर्घ स्वर शेष है।

३. मूलभारोपीय में प्राप्त न्, म् अन्तस्थ ध्वनियों का वैदिक में लोप हो गया है।

४. मूलभारोपीय में तीन प्रकार की कवर्ग ध्वनियाँ थीं,[2] किन्तु वैदिक में एक ही प्रकार की कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्) ध्वनियाँ हैं।

५. मूलभारोपीय में चवर्ग तथा टवर्ग का नितान्त अभाव था, जब कि वैदिक ध्वनियों में ये नये दो वर्ग आ मिले हैं। मूर्धन्य टवर्ग ध्वनियों का आगमन वैदिक संस्कृत की बहुत बड़ी विशेषता है, जिसका कारण द्रविड़ भाषा का प्रभाव है।

६. मूलभारोपीय में एक ही 'स्' (ऊष्म) ध्वनि थी। वैदिक में इसके साथ ही श् तथा ष् ये दो (ऊष्म) ध्वनियाँ और आ जुड़ी हैं।

---

१. भाषाविज्ञान-कोश, डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० ३७९,

२. कण्ठतालव्य—क्य्, ख्य्, ग्य्, घ्य्; शुद्ध कण्ठ्य—क् ख् ग् घ् तथा कण्ठोष्ठ्य क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्।

इस प्रकार वैदिक ध्वनि-समूह में निम्नलिखित ध्वनियाँ हैं।

वैदिक ध्वनि-समूह

मूलस्वर	—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ	= ११
संयुक्त स्वर	—ऐ (अइ), औ (अउ)	= २
कण्ठ्य	—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, (कवर्ग)	= ५
तालव्य	—चं्, छ्, ज्, झ्, ञ् (चवर्ग)	= ५
मूर्धन्य	—ट्, ठ्, ड्, ळ्, ढ्, ळ्ह्, ण्, (टवर्ग)	= ७
दन्त	—त्, थ्, द्, ध्, न् (तवर्ग)	= ५
ओष्ठ्य	—प्, फ्, ब्, भ्, म् (पवर्ग)	= ५
दन्तोष्ठ्य	—व्	= १
अन्तस्थ	—य्, र्, ल्, व्	= ४
शुद्ध अनुनासिक	—अनुस्वार (ं)	= १
संघर्षी	—श्, ष्, स्, ह्, ᳵ (क्, ख् से पूर्व अर्द्धविसर्गसदृश) जिह्वामूलीय, ᳶ (प्, फ् से पूर्व अर्द्धविसर्ग सदृश) उपध्मानीय	= ६
		कुल = ५२

वैदिक भाषा की विशेषताएँ

प्रत्येक भाषा का अपना विशिष्ट स्वरूप होता है। प्रत्येक भाषा अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। किसी भाषा की ऐसी विशेषताएँ ही उसे अन्य भाषाओं से पृथक् करती हैं। इस दृष्टि से वैदिक भाषा की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत हैं :—

१. वैदिक भाषा में स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण के साथ ही उनका प्लुत उच्चारण भी होता है; जैसे, आसी३त्, विन्दती३ इत्यादि।

२. वैदिक भाषा में 'लृ' स्वर का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है।

३. वैदिक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात का बहुत महत्त्व है। इसमें तीन प्रकार के स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में इनका ध्यान रखना अनिवार्य होता है। स्वर-परिवर्तन से शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन हो जाता है। 'इन्द्रशत्रुः' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी वैदिक भाषा की स्वराघात प्रधानता का बहुत महत्त्व है।

४. वैदिक भाषा की व्यञ्जन ध्वनियों में ळ् और ळ्ह् दो ऐसी ध्वनियाँ हैं, जो उसे अन्य भाषाओं से पृथक् करती है; जैसे 'इळा', 'अग्निमीळे' आदि में।

५. प्राचीन वैदिक भाषा में 'ल्' के स्थान पर प्रायः 'र्' का व्यवहार मिलता है; जैसे—'सलिल' के स्थान पर 'सरिर'।

६. वैदिक भाषा में सन्धि-नियमों में पर्याप्त शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। अनेक बार सन्धि-योग्य स्थलों पर भी सन्धि नहीं होती और दो स्वर साथ-साथ प्रयुक्त हो जाते हैं; जैसे—'तितउ' (अ, उ) 'गोओपशा' (ओ, ओ)।

७. वैदिक भाषा में शब्द-रूपों में पर्याप्त अनेकरूपता मिलती है। उदाहरण के लिए प्रथमा विभक्ति, द्विवचन, में 'देवा' और 'देवी', प्रथमा विभक्ति वहुवचन, में 'जनाः' और 'जनासः', तृतीया विभक्ति वहुवचन में 'देवैः' और 'देवेभिः' दो-दो रूप मिलते हैं। यह विविधता अन्य रूपों में भी मिलती है।

८. यही विविधता धातुरूपों में भी उपलब्ध है। एक ही 'कृ' धातु के लट्-लकार, प्रथम पुरुष में—'कृणोति', 'कृणुते', 'करोति', 'कुरुते', 'करति' आदि अनेक रूप मिलते हैं।

९. धातुओं से एक ही अर्थ में अनेक प्रत्यय लगते हैं। जैसे, एक ही 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में 'तुमुन्', 'से', 'सेन्', 'असे', 'असेन्', 'कसे', 'कसेन्', 'अध्यै', 'अध्यैन्' 'कध्यै', 'कध्यैन्', 'शध्यै', 'शध्यैन्', 'तवै', 'तवैङ्', और 'तवेन्'—ये १६ प्रत्यय मिलते हैं। यही विविधता क्त्वा आदि अन्य अनेक प्रत्ययों में भी हैं।

१०. वैदिक भाषा में उपसर्गों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से होता था। उदाहरणार्थ—"अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि",—(ऋग्वेद १/१९/९), यहाँ 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग 'सृजामि' क्रियापद से पृथक् स्वतन्त्ररूप से हुआ है। इसी प्रकार "मानुषान्-अभि" (ऋ० १/४८/७) में 'अभि' स्वतन्त्ररूप से प्रयुक्त है।

११. पदरचना की दृष्टि से वैदिक भाषा श्लिष्टयोगात्मक है। सम्वन्धतत्त्व (प्रत्यय) के जुड़ने पर यहाँ अर्थतत्त्व (प्रकृति) में कुछ परिवर्तन तो हो जाता है, किन्तु अर्थतत्त्व तथा सम्वन्धतत्त्व को पृथक्-पृथक् पहचाना जा सकता है। जैसे—'गृहाणाम्', यहाँ 'गृह' प्रकृति तथा 'नाम्' प्रत्यय स्पष्ट रूप से पहचाने जाते हैं।

संक्षेप में, वैदिक भाषा में प्रयोगों की अनेकरूपता को देखने से प्रतीत होता है कि आज वैदिक भाषा का जो स्वरूप हमें उपलब्ध होता है, वह तत्कालीन अनेक बोलियों का मिला-जुला रूप है, जिनमें देश-भिन्नता तथा काल-भिन्नता, दोनों का ही होना सम्भव है। सम्भवतः, उस काल की जनसामान्य की विविध बोलियों का ही, हिन्दी की खड़ी बोली के समान, एक परिनिष्ठित साहित्यिक रूप वह वैदिक भाषा है, जो हमें आज 'ऋग्वेद' आदि में उपलब्ध होती है।

(ii) संस्कृत भाषा

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का दूसरा रूप 'संस्कृत' है। इसी को 'लौकिक संस्कृत' या 'क्लासिकल संस्कृत' भी कहा जाता है। यूरोप में जो स्थान 'लैटिन' भाषा का है, वही स्थान भारत में संस्कृत का है। भारत में 'रामायण' 'महाभारत' से भी पहले से लेकर आजतक संस्कृत में साहित्य रचना हो रही है। गुप्तकाल में संस्कृत की सर्वाधिक उन्नति हुई थी। इसका साहित्य विश्व के समृद्धतम साहित्यों में से एक है। 'वाल्मीकि', 'व्यास', 'कालिदास', आदि इसकी महान् विभूतियाँ हैं। विश्व-विख्यात महाकवि कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक संस्कृत भाषा का शृङ्गार है। विश्व की अनेक भाषाओं में संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत का महत्त्व बहुत अधिक है। संस्कृत के

अध्ययन के कारण ही यूरोप में आधुनिक 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' का प्रारम्भ हुआ है।

संस्कृत का विकास उत्तरी भारत में बोली जाने वाली वैदिककालीन भाषा से माना जाता है, यद्यपि भारत के मध्य भाग तथा पूर्वी भाग की बोलचाल की भाषाओं का प्रभाव भी उसपर रहा होगा। लगभग ८वीं शताब्दी ई० पू० इसका प्रयोग साहित्य में होने लगा था। यह वह अवस्था है, जब संस्कृत की आधारभूत भाषा का प्रयोग बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा दोनों के रूप में हो रहा था। अनुमान किया जाता है कि लगभग ई० पू० ५वीं शताब्दी या कुछ क्षेत्रों में उसके भी बाद तक संस्कृत की आधारभूत यह भाषा बोली जाती थी और तब तक उत्तर भारत में कई अन्य ऐसी बोलियाँ भी जन्म ले चुकीं थीं, जिनसे आगे चलकर अनेक प्राकृतों, अपभ्रंशों तथा आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास हुआ है।

लगभग ई० पू० ५वीं शताब्दी या ७वीं शताब्दी में 'पाणिनि' ने संस्कृत की उस आधारभूत भाषा को व्याकरण के नियमों से बद्ध करके एकरूपता प्रदान की और यह भाषा 'संस्कृत' कहलाने लगी।[1] अर्थात् अपने स्वाभाविक विकास के कारण, नियन्त्रण के अभाव में जो भाषा प्राकृत (विकृत) रूप में चल रही थी, वह तब 'संस्कृत' हो गयी। उसका संस्कार कर दिया गया, उसे शुद्ध रूप प्रदान कर दिया गया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस काल में 'संस्कृत' साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी, उस समय भारत में स्वयं साहित्यिक संस्कृत की आधारभूत बोली तथा उससे मिलती-जुलती कई अन्य बोलियाँ भी व्यवहार में थीं, किन्तु उन सबमें 'संस्कृत' ही शिष्ट, साहित्यिक या राष्ट्रभाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी।[2]

संस्कृत-ध्वनियाँ

वैदिक भाषा में ५२ ध्वनियाँ थी, संस्कृत में ध्वनियों की संख्या केवल ४८ है। अर्थात् वैदिक भाषा की ध्वनियाँ—ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय—संस्कृत में नहीं मिलती हैं।

इसके साथ ही अनेक ध्वनियों के उच्चारण में परिवर्तन भी मिलता है। उदाहरण के लिए (१) वैदिक में 'ऋ' 'ॠ' और 'ऌ' का उच्चारण स्वर ध्वनियों के रूप में था, किन्तु संस्कृत में इनकी स्वरता नष्ट हो गयी और इनका उच्चारण 'र्' और 'ल्' व्यञ्जनों जैसा होने लगा। (२) दन्तोष्ठ्य 'व्' का उच्चारण भी अन्तस्थ 'व्' जैसा ही हो गया है।[3] (३) वैदिक भाषा की शुद्ध 'अनुस्वार' (ं) ध्वनि भी

---

१. "What we call Classical Sanskrit means Panini's Sanskrit, that is the Sanskrit which according to the rules of Panini is alone correct."—M. Winternitz, Indischen Litteratur,

२. भाषाविज्ञान-कोश, डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० ३८०–३८१।

३. वैदिक भाषा में दो 'व' ध्वनियाँ थीं—एक दन्तोष्ठ्य, दूसरी अन्तस्थ।

संस्कृत में अनुनासिक हो गयी है । (४) 'ऐ' तथा 'औ' का उच्चारण संयुक्त स्वरों-जैसा न होकर मूलस्वरों-जैसा होने लगा ।

संस्कृत भाषा की विशेषताएँ

संस्कृत, लौकिक संस्कृत वा क्लासिकल संस्कृत की सबसे प्रमुख विशेषता पाणिनिकृत नियमबद्धता है । सस्कृत की यह विशेषता ही उसे वैदिक से पृथक् करती है । जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, वैदिक भाषा में शब्दरूपों तथा क्रिया-रूपों की विविधता है, सन्धि-नियमों आदि में भी पर्याप्त शिथिलता है । एक ही अथ में विभिन्न प्रत्ययों का प्रयोग है, आदि-आदि । इन सब के साथ ही वैदिक भाषा में अपवादों की संख्या भी बहुत अधिक है तथा भाषा में स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर होती है ।

इसके विपरीत, संस्कृत या लौकिक संस्कृत बहुत ही नियमवद्ध तथा नियन्त्रित है । उसकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :—

१. वैदिक भाषा में प्रयुक्त ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों का संस्कृत में लोप हो गया है ।

२. पाणिनिकृत नियमों (अष्टाध्यायी-सूत्रों) के द्वारा उसमें शब्द-रूपों तथा क्रियारूपों में एकरूपता आ गयी है ।

३. 'लेट्' लकार का प्रयोग समाप्त हो गया है ।

४. एक ही अर्थ में प्रयुक्त अनेक प्रत्ययों के स्थान पर केवल एक ही प्रत्यय का प्रयोग रूढ़ हो गया; जैसे तुमुन्, 'क्त्वा' आदि ।

५. अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग वन्द हो गया; जैसे,—

'दर्शत' (=सुन्दर), दृशीक' (=सुन्दर), 'रपस्' (=चोट, दुर्बलता, रोग), 'अमूर' (=बुद्धिमान्), 'मूर' (=मूढ़), ,ऋदूदर' (=दयालु,) 'अक्तु' (=रात्रि); 'अमीवा' (=व्याधि) आदि ।

६. अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग संस्कृत में भिन्न अर्थों में होने लगा; जैसे—

शब्द		वैदिक-अर्थ		संस्कृत-अर्थ
१. अराति	=	शत्रुता	=	शत्रु
२. अरि	=	ईश्वर, धार्मिक, शत्रु	=	केवल शत्रु
३. न	=	उपमावाचक (जैसा), निषेधवाचक (नहीं)	=	निषेधवाचक (नहीं)
४. मृळीक	=	कृपा	=	शिव का एक नाम
५. क्षिति	=	गृह, निवासस्थान, बस्ती, मनुष्य	=	पृथ्वी
६. वध	=	भयंकर शस्त्र	=	हत्या करना

आदि-आदि ।

७. सन्धि-कार्य अनिवार्य-सा हो गया ।

८. उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग वन्द हो गया ।

९. स्वरों में से 'लृ' प्रायः लुप्त-सा हो गया । स्वरों का उदात्त-अनुदात्त और स्वरित उच्चारण समाप्त हो गया ।

११. स्वरभक्ति अप्रचलित हो गयी ।

इस प्रकार वैदिक भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा अधिक नियमित एवं व्यवस्थित हो गयी तथा वैदिक भाषा की अपेक्षा संस्कृत के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हो गया । इस परिवर्तन को जानने के लिए यहाँ दोनों की तुलना प्रस्तुत करना आवश्यक है ।

४. वैदिक तथा संस्कृत की तुलना

वैदिक भाषा तथा संस्कृत भाषा की स्वरूपगत विशेषताओं को पृथक्-पृथक् जान लेने के पश्चात् यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) वैदिक तथा संस्कृत में रचनात्मक साम्य

१. दोनों भाषाएँ श्लिष्टयोगात्मक थीं ।

२. दोनों ही भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों में धातुओं का अर्थ प्रायः सुरक्षित था ।

३. दोनों में ही तीन लिङ्ग (पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग) तथा तीन वचन—(एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) थे ।

४. दोनों में ही वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित नहीं था ।

५. दोनों में ही ६ कारक—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण (सम्बन्ध तथा सम्बोधन को कारक नहीं मानना चाहिए) तथा आठ विभक्तियाँ—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी और सम्बोधन थी ।

(ख) वैदिक तथा संस्कृत में रचनात्मक वैषम्य

वैदिक	संस्कृत
(१) वैदिक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात की प्रधानता थी ।	(१) संस्कृत में बलात्मक स्वराघात की प्रधानता थी ।
(२) स्वरों में उदात्तादि गुण थे ।	(२) स्वरों में उदात्तादि गुण नहीं थे ।
(३) स्वरों का ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत (क्रमशः एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक) उच्चारण होता था ।	(३) स्वरों का केवल ह्रस्व और दीर्घ उच्चारण होता था । प्लुत उच्चारण समाप्त हो गया था ।
(४) वैदिक भाषा में 'लृ' स्वर का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था ।	(४) 'लृ' स्वर का लोप हो गया ।

(५) वैदिक भाषा में ळ् ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय व्यञ्जन ध्वनियाँ थीं।	(५) संस्कृत में इन चारों व्यंजन ध्वनियों का लोप हो गया था।
(६) स्वरभक्ति का प्रयोग होता था।	(६) स्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता था।
(७) सन्धि-नियमों का पालन अनिवार्य नहीं था। अनेक अपवाद उपलब्ध होते हैं।	(७) सन्धि-नियमों का पालन अनिवार्य था। अपवाद नहीं मिलते।
(८) शब्द-रूपों में विविधता है। एक ही शब्द के एक ही विभक्ति तथा वचन में अनेक रूप मिलते हैं।	(८) शब्दरूपों में एकरूपता है। विविधता और अपवाद कम हो गये हैं।
(९) धातुओं की दृष्टि से वैदिक भाषा अधिक सम्पन्न है। एक ही धातु का अनेक रूपों तथा अर्थों में प्रयोग मिलता है।	(९) धातुरूपों में विविधता कम हो गयी, कालों और विभक्तियों का स्वरूप बहुत नियमित हो गया।
(१०) आत्मनेपद और परस्मैपद का कोई विशेष नियम नहीं था।	(१०) आत्मनेपद और परस्मैपद का प्रयोग नियमानुसार है।
(११) वैदिक भाषा में लङ्, लुङ् और लिट् लकार का प्रयोग, किसी भी काल में हो सकता था।	(११) इनका प्रयोग केवल भूतकाल में ही होता था।
(१२) वैदिक भाषा में 'लेट्' लकार सहित ११ लकार थे।	(१२) 'लेट्' लकार नहीं रहा। अतः, लकारों की संख्या १० रह गयी।
(१३) वैदिक भाषा में एक ही अर्थ में प्रत्ययों के विविध रूप मिलते हैं। जैसे 'तुमुन्' अर्थ में, तुमुन् के अतिरिक्त १५ प्रत्यय और भी हैं। 'क्त्वा' अथ में भी ३ अन्य प्रत्यय मिलते हैं।	(१३) प्रत्ययों के विविध रूप समाप्त हो गये।
(१४) उपसर्गों का प्रयोग धातु से पृथक् स्वतन्त्र रूप में हो सकता था।	(१४) उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग समाप्त हो गया। संस्कृत में वे धातु के साथ ही प्रयुक्त होने लगे।
(१५) श्रेष्ठतावाचक प्रत्ययों का प्रयोग संज्ञाओं के साथ मिलता है; जैसे, कवितरः, कण्वतमः आदि।	(१५) संस्कृत में श्रेष्ठतावाचक प्रत्ययों का प्रयोग विशेषणों के साथ मिलता है; जैसे सुन्दरतरः, सुन्दरतमः आदि।

(१६) वैदिक भाषा में—'अक्तु', 'अमूर', 'ईम', 'उक्थ', 'ऊति', 'ऋदूदर', 'दृशीक', 'विचर्षणी', 'सीम' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।	(१६) ये शब्द प्रयोग से बाहर हो गये हैं।
(१७) वैदिक भाषा के निम्नलिखित शब्द और उनका अर्थ इस प्रकार है:—	(१७) संस्कृत में इनके अर्थों में इस प्रकार परिवर्तन हो गया है—
(i) अरि = ईश्वर, धार्मिक, शत्रु,	(i) अरि = शत्रु
(ii) अराति = शत्रुता, कृपणता,	(ii) अराति = शत्रु
(iii) क्षिति = निवासस्थान, गृह, बस्ती, मनुष्य।	(iii) क्षिति = पृथ्वी
(iv) न = जैसे, नहीं	(iv) न = नहीं।
(v) मृळीक = कृपा, अनुग्रह	(v) मृळीक = शिव का एक नाम
(vi) वध = भयानक शस्त्र	(vi) वध = हत्या

उपर्युक्त प्रकार से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक तथा संस्कृत में कुछ समानताओं के साथ ही साथ अनेक विषमताएँ भी हैं।

५. संस्कृत भी कभी बोलचाल की भाषा थी

भाषा की सामान्य प्रकृति को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ भी अपने-अपने काल में बोलचाल की भाषाएँ रहीं होंगी। हाँ, यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि जिन प्राचीन आर्यभाषाओं का प्रयोग साहित्य में भी हुआ है, और जिनका परिचय आज हमें उनके साहित्य के माध्यम से ही मिलता है, उन भाषाओं के साहित्यिक रूप की अपेक्षा, उस काल में प्रयुक्त उनका बोलीगत रूप निश्चय ही कुछ भिन्न रहा होगा। आधुनिक हिन्दी आदि साहित्यिक भाषाओं को देखने से भी यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि एक ही भाषा के साहित्यिक तथा बोलीगत रूपों में भिन्नता का होना निश्चित ही है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लगभग ५वीं शताब्दी ई० पू०, जब 'पाणिनि' ने तत्कालीन बोलचाल की भाषा को नियमबद्ध किया था, उसके बाद ही भाषा का वह बोलीगत अर्थात् प्राकृत (स्वाभाविक) रूप 'संस्कृत' कहलाया। यह बहुत ही स्वाभाविक बात है कि बोलचाल में बहुप्रयुक्त भाषा में ही बाद में साहित्य की रचना हुआ करती है। दूसरे शब्दों में, जब किसी बोलचाल की भाषा में साहित्य रचा जाने लगता है, तो प्रयोगों में बोलचाल के कारण जो विविधता रहती है, उस विविधता को समाप्त करके, नियमों द्वारा उसे एकरूपता प्रदान कर दी जाती है। अनेक प्रयोगों में से एक को साधु तथा शेष को असाधु घोषित कर दिया जाता है। इससे साहित्य को एक स्थायी माध्यम प्राप्त हो जाता है। साहित्य और वह भाषा दोनों ही अमर हो जाते

हैं। पाणिनिकाल (ई० पू० ५वीं शताब्दी) में संस्कृत के साथ भी ऐसा ही हुआ था। यह बात इस भाषा के "संस्कृत" नाम से ही प्रकट हो जाती है, क्योंकि बोलचाल में प्रयुक्त होने के कारण जब शिष्ट समाज ने यह अनुभव किया कि यह भाषा दिन प्रतिदिन विकृत (परिवर्तित) होती रहती है, तभी उन्होंने इसे नियमबद्ध स्वीकार करके 'संस्कृत' कहना उपयुक्त समझा। इसके विपरीत बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' कहलायी, जिससे आगे चलकर मध्यकालीन आर्यभाषाओं—पालि > प्राकृत > अपभ्रंश आदि का विकास हुआ।

पाश्चात्य विद्वानों में से 'हार्नली', 'ग्रियर्सन' एवं 'वेबर' आदि ने संस्कृत को बोलचाल की भाषा का संस्कृत-साहित्यिक रूप न मानकर उसे 'कृत्रिम भाषा' कहा है। भारतीय विद्वान् 'डॉ० भण्डारकर' ने अपने 'फिलॉलॉजिकल लेक्चर्स' में इस मत का जोरदार खण्डन किया है। डॉ० भण्डारकर के मत के साथ सहमति प्रकट करते हुए 'डॉ० पी० डी० गुणे' ने लिखा है—"कहना न होगा कि ऐसी मान्यता जितनी हास्यास्पद है, उतनी ही अभाषावैज्ञानिक भी। वैयाकरण भाषा का नियमन कर सकते हैं, उसे सरल बना सकते हैं और सम्भवतः उसके विकास को अवरुद्ध कर सकते हैं, किन्तु वे भाषा का निर्माण नहीं कर सकते। यूरोप में कुछ उत्साही आदर्शवादियों के 'एस्पेरेंतो' अथवा 'इडो' नामक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा निर्मित करने के प्रयास से और इन भाषाओं की जो दशा हुई, उससे किसी को भी इस प्रकार की परिकल्पना की निरर्थकता का निश्चय हो जाना चाहिए।"[1]

उपर्युक्त कथन का सारांश यही है कि 'संस्कृत' कृत्रिम भाषा न होकर एक स्वाभाविक भाषा है। फिर इसका विकास कौन-सी भाषा से हुआ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए-से 'डॉ० पी० डी० गुणे' लिखते हैं—"क्लैसिकल संस्कृत प्राचीनतम वैदिक गद्य का साहित्यिक विकास है। दूसरे शब्दों में यह साहित्यिक वैदिक, जो कि किसी प्राचीन भारत-ईरानी बोली पर आधारित है, का नियमबद्ध रूप है। यह स्वयं एक बोली नहीं है, क्योंकि इसमें तथा जनभाषा में बहुत बड़ा भेद है। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि क्लैसिकल संस्कृत का प्राचीनतम रूप कभी बोला ही नहीं जाता था। यह भी बोली जाने वाली भाषा थी, किन्तु केवल विद्यालयों और पण्डितों, शिक्षितों एवं उच्च वर्गों की।"[2]

इस प्रकार संस्कृत के विकास को देखने से यह बात भली-भाँति ज्ञात होती है कि संस्कृत अपने समय में बोलचाल की भाषा अवश्य ही रही थी।

(क) यास्क तथा पाणिनि का साक्ष्य

इसके अतिरिक्त स्वयं 'यास्क' और 'पाणिनि' के ग्रन्थों से भी संस्कृत का बोलचाल की भाषा होना प्रमाणित होता है। यास्क ने 'निरुक्त' में वैदिक संस्कृत तथा

१. तुलनात्मक भाषाविज्ञान, अनु० भोलानाथ तिवारी, पृ० १२९—३० से उद्धृत।

२. तुलनात्मक भाषाविज्ञान, अनु० भोलानाथ तिवारी।

अपने काल की संस्कृत में भेद प्रकट किया है। वैदिक भाषा के लिए उन्होंने 'अन्वध्यायम्' तथा 'दाशतयीषु' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, तो संस्कृत के लिये 'भाषा' शब्द का। संस्कृत को 'भाषा' कहने से भी यही प्रकट होता है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

यास्क ने 'निरुक्त' में संस्कृत के, विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित, विभिन्न रूपों के प्रयोगों का भी उल्लेख किया है। ऐसा तभी सम्भव है, जबकि संस्कृत बोलचाल की भाषा रही हो। उनके अनुसार—"दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु"—(निरुक्त २/२) अर्थात् प्राच्य प्रदेश में 'दाति' क्रियापद काटने के अर्थ में प्रयुक्त होता था, जबकि उससे निष्पन्न 'दात्रम्' संज्ञापद का प्रयोग प्राच्य प्रदेश में न होकर उदीच्य प्रदेश में होता था।

इसी प्रकार पाणिनि' ने वैदिक भाषा के लिए 'छन्दस्' तथा संस्कृत के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। अतः, 'अष्टाध्यायी' में 'भाषायाम्', 'छन्दसि बहुलम्' आदि नियम-सूत्रों के उल्लेख से भी संस्कृत का बोलचाल की भाषा होना प्रकट होता है। साथ ही, 'पाणिनि' ने 'अष्टाध्यायी' में कुछ ऐसे सूत्रों का उल्लेख भी किया है जिनमें निर्दिष्ट नियम केवल बोलचाल की भाषा पर ही लागू होते हैं; उदाहरणार्थ—

(१) नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य[१]—अष्टाध्यायी ८।४।४८.

(२) एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ—१।२।३३.

(३) वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः—८।२।८३.

(४) प्रत्यभिवादेऽशूद्रे[२]—८।२।८३,

(५) दूराद्धूते च—८।२।८४.

इत्यादि सूत्रों की सार्थकता तभी है, जबकि संस्कृत को बोलचाल की भाषा स्वीकार किया जाय; क्योंकि, ये नियम बोलचाल की भाषा पर ही लागू होते हैं।

(ख) कात्यायन एवं पतञ्जलि का साक्ष्य

पाणिनि द्वारा अत्यधिक नियमबद्ध कर दिये जाने के बाद भी संस्कृत भाषा में कुछ मात्रा में विकास होता रहा, यह बात 'कात्यायन' द्वारा पाणिनि के सूत्रों पर निर्मित 'वार्तिकों' से पूर्णतया सिद्ध होती है। पाणिनि द्वारा निर्मित्त सूत्रों (नियमों) से जिन शब्दों की साधुता सिद्ध नहीं हो पाती थी, कात्यायन ने ऐसे अनेक शब्दों की साधुता सिद्ध की है। स्वाभाविक है कि ऐसे सभी शब्द या तो क्षेत्रविस्तार के कारण तत्कालीन बोलचाल की भाषा से पाणिनि पकड़ नहीं पाये थे, या वे पाणिनि के बाद की भाषा में विकसित हुए थे। ये दोनों ही बातें संस्कृत का बोलचाल की भाषा होना प्रकट करती हैं। यही कारण है कि वैयाकरण कात्यायन ने यह उचित समझा कि

---

१. यह सूत्र 'पुत्र' के 'त्' को द्वित्व का निषेध करता है, यदि पुत्र के बाद 'आदिनी' पद हो तथा आक्रोश प्रकट होता हो।

२. २—५ सूत्र स्वर को प्लुत करने वाले हैं। इनके उदाहरण 'आगच्छ भो माणवक देवदत्त३', 'भो आयुष्मनेधि देवदत्त३' आदि हैं।

पाणिनि की दृष्टि से बचे हुए और बाद में विकसित नये शब्दों को भी व्याकरण-सम्मत कर दिया जाय, जिससे उन्हें भी शिष्ट समाज अपनी बोलचाल की संस्कृत भाषा में समाहित कर सके। संक्षेप में, वैयाकरण कात्यायन ने पाणिनिकाल से अपने काल तक विकसित संस्कृत भाषा का सर्वेक्षण करने के उपरान्त, पाणिनि द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' पर समयानुकूल अपना संशोधन प्रस्तुत किया है और इस प्रकार भाषा तथा व्याकरण को परस्पर समीप लाने का प्रयास किया है। उन्होंने पाणिनि के कुछ सूत्रों की अनर्थकता सिद्ध की है, कुछ सूत्रों द्वारा सिद्ध शब्दों को अल्प प्रयोग का विषय बतलाया है, तथा नए विकसित शब्दों की साधुता के लिए कुछ सूत्रों में नये पदों का समावेश भी किया है। कात्यायन-रचित "हिमारण्ययोर्महत्त्वे" तथा "यवनाल्लिप्याम्" इत्यादि वार्त्तिकों से सिद्ध होता है कि कात्यायन के समय तक "अरण्यानी" शब्द "बड़े वन" के अर्थ में तथा 'यवनानी' शब्द 'यवनों की लिपि' के अर्थ में विकसित हो चुका था, जबकि पाणिनि ने ऐसी कोई चर्चा नहीं की है। यही कारण है कि प्रो० मैक्समूलर ने वार्त्तिककार कात्यायन को पाणिनि का सम्पादक स्वीकार किया है।[1]

संक्षेप में, वैयाकरण कात्यायन द्वारा पाणिनि-सूत्रों पर रचित वार्त्तिकों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि तब संस्कृत बोलचाल में प्रयुक्त होती थी।

कात्यायन तथा पतञ्जलि, दोनों ही वैयाकरणों द्वारा अपनी भाषा के लिए 'लौकिक' तथा 'लोके' शब्दों के प्रयोग से भी संस्कृत का व्यवहार की भाषा होना सिद्ध होता है।

(ग) अन्य ग्रन्थों का साक्ष्य

व्याकरणादि से भिन्न ग्रन्थों के आधार पर भी प्राचीन भारत में संस्कृत का व्यवहार की भाषा होना सिद्ध होता है।

राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा' से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में भारत में अनेक राजाओं के राज्यों में संस्कृत का प्रयोग राजभाषा के रूप में होता था तथा अन्तःपुरों में संस्कृत बोली जाती थी।

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में भी शिष्टजनों के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान आवश्यक कहा गया है।

प्राचीनकाल में सभी विद्याओं का ज्ञान संस्कृत माध्यम से ही कराया जाता था। व्यवहारज्ञान तथा नीतिज्ञान के लिए 'पञ्चतन्त्र' आदि ग्रन्थ संस्कृत में ही रचे गए थे, जिनसे बालबुद्धि पाठक भी शीघ्र ही नीतिज्ञान प्राप्त कर लेते थे।

इतना ही नहीं, जन-सामान्य-प्रयुक्त जादू-टोनों की भाषा भी संस्कृत ही थी। इससे भी, इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि संस्कृत भले ही शिक्षित जनों की भाषा रही हो, किन्तु सामान्य जन भी उसे अवश्य समझ लेते थे।

---

१. एंन्शियेण्ट संस्कृत लिटरेचर।

(घ) संस्कृत नाटकों का साक्ष्य

संस्कृत नाटकों में विभिन्न श्रेणी के पात्रों के लिए विभिन्न भाषाओं-संस्कृत, प्राकृतादि का प्रयोग आवश्यक बतलाया गया है। राजा, पुरोहितादि की भाषा संस्कृत तथा सेवकों-स्त्रियों आदि की भाषा 'प्राकृत' कही गयी है और इसी के अनुसार नाटकों की रचना भी हुई है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि संस्कृत अवश्य ही बोलचाल की भाषा थी। हाँ, अशिक्षित जन संस्कृत का उच्चारण ठीक नहीं कर पाते थे, अतः वे जिस प्रकार का प्रयोग करते थे, उच्चारण-भेद से वह 'प्राकृत' कहलाती थी। वस्तुतः, अर्थ की दृष्टि से संस्कृत तथा प्राकृत में कोई अन्तर था ही नहीं, अतः संस्कृत को समझ तो सभी लेते थे, और बोलते भी सम्भवतः सभी थे, किन्तु अशिक्षितों के बोलने में संस्कृत भी प्राकृत ही हो जाती थी।

इस प्रकार नाटकों में संस्कृत भाषा के प्रयोग से तो संस्कृत का बोलचाल की भाषा होना, असंदिग्धरूप से ही प्रकट हो जाता है। क्योंकि, एक तो नाटक, (रूपक) अभिनय एवं संवादप्रधान साहित्यिक विधा है, दूसरें इसका प्रणयन भी 'भरतमुनि' ने विशेषरूप से जनसाधारण के मनोरजन के लिए ही किया था। बोलचाल की भाषा न होने पर संस्कृत का नाटकों में व्यवहार कठिन ही होता।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की यह कल्पना कि संस्कृत नाटकों की रचना पहले प्राकृत में ही हुई थी तथा उन्हें बाद में संस्कृत में परिवर्तित किया गया, निराधार सिद्ध हो चुकी है। पाश्चात्य विद्वान् 'ए० बी० कीथ' के अनुसार संस्कृत-नाटकों की तो मूलकथा ही संस्कृत में है, संस्कृत-मूलकथा को लेकर प्राकृत में नाटक-रचना की बात एक अव्यावहारिक तर्क ही है।

(ङ) विदेशी यात्रियों का साक्ष्य

चीनी यात्री ह्वेनसाँग (छठी शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध) के यात्रा-विवरणों से ज्ञात होता है कि उसने भारत में संस्कृत के माध्यम से हुए वाद-विवादों को सुना था।

(च) कवि विल्हण का साक्ष्य

इसी प्रकार कवि विल्हण (काल १०६०, ई०) के अनुसार कश्मीर में पुरुष और स्त्रियाँ, सभी संस्कृत-प्राकृत का व्यवहार करते थे।

इतना ही नहीं, आज भी भारत में ऐसे अनेक व्यक्ति मिलते हैं जिनके व्यवहार की भाषा संस्कृत ही है। सैंकड़ों पत्र-पत्रिकायें आज भी संस्कृत में प्रकाशित हो रही हैं। अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। यह सब तभी सम्भव है, जब हम यही मानकर चलें कि संस्कृत भारत में प्राचीनकाल में तो व्यवहार की भाषा रही ही थी, साथ ही, आज भी भारत में, आंशिक रूप से, वह व्यवहार की अर्थात् बोलचाल की भाषा है।

६. भारत में संस्कृत का अजस्र प्रवाह

भारत में, संस्कृत की स्रोतस्विनी का प्रवाह निरन्तर और अखण्ड रूप से प्रवाहित होता रहा है। लगभग ३५०० वर्षों से संस्कृत भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति का

मुख्य माध्यम रही है। सम्राट् हर्ष के समय और उसके पश्चात् ८ वीं, ९ वीं शताब्दी तक तो उसके गौरव का ही काल था। उसके उपरान्त विदेशी शक्तियों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप उसकी गति में कुछ रुकावटें अवश्य आयीं, किन्तु इसका स्रोत कभी सूखा नहीं। संस्कृत से विकसित अनेक भारतीय भाषाओं के कारण भी इसका प्रयोग मध्यकाल में विरल हो गया था। वस्तुतः, संस्कृत की स्रोतस्विनी के लिये सबसे अधिक संकट का समय हमारे इतिहासकाल का यह मध्यकाल ही था; जिसमें इसकी धारा बहुत ही क्षीण एवं मन्द पड़ गई थी।

तदुपरान्त, समय ने करवट बदली और आधुनिक काल में, आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व संस्कृत के विशाल वाङ्मय की ओर अनेक पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान गया। वे उसकी ओर आकृष्ट हुए। अनेक इंगलिश, फ्रेंच, जर्मन और रूसी विद्वानों ने संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया और मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा की। इसी के परिणाम स्वरूप संस्कृत, फारसी, यूनानी, लैटिन, कैलटिक, ट्यूटानी और स्लाव आदि भाषाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना हुई। उनके द्वारा किये गये संस्कृत-अध्ययन के फलस्वरूप ही विश्व भर में 'भाषा-विज्ञान' और 'पुरातत्त्व' नाम के दो नितान्त नवीन, साथ ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषयों के अध्ययन का श्रीगणेश हुआ। आज भी इन विषयों का विकास निरन्तर और तीव्र गति से हो रहा है।

वस्तुतः संस्कृत के अभाव में भारत ही नहीं, अपितु एशिया की संस्कृति के विकास का अध्ययन भी नहीं किया जा सकता। संस्कृत उस विशाल वनस्पति के समान है, जिसका मूल अत्यन्त गहराई तक और शाखायें अत्यधिक दूर-दूर तक फैली हुई हैं। उसे अस्वीकार करना सरल कार्य नहीं है। इसी दृष्टि से आज भारत में संस्कृत का प्रचार-प्रसार अत्यधिक उत्साह के साथ हो रहा है। आज भी संस्कृत हजारों व्यक्तियों की मातृभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। देश में लगभग ५०—६० पत्र-पत्रिकाएँ संस्कृत में प्रकाशित हो रही हैं। देश के संविधान में स्वीकृत १४ भाषाओं में उसे सम्मानित स्थान प्राप्त है। भारत में अनेक संस्कृत विश्वविद्यालय हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी विश्वविद्यालयों में भी संस्कृत का पठन-पाठन उच्च कक्षाओं तक होता है। देश में अनेक संस्कृत-विद्यापीठ, महाविद्यालय, गुरुकुल तथा पाठशालाएँ हैं। देश में अनेक अवसरों पर अखिल भारतीय एवं राज्यस्तरों पर ही नहीं, विश्वस्तर पर भी संस्कृत-सम्मेलनों का आयोजन होता रहता है। सन् १९७२ में भारत में विश्व संस्कृत सम्मेलन हुआ था। तत्पश्चात् इटली, फ्रांस और पश्चिम जर्मनी में विश्व संस्कृत सम्मेलन हो चुके हैं। कभी-कभी संस्कृत में कवि-सम्मेलन भी होते हैं। कई नवीन ग्रन्थ भी जैसे—'भारतस्य सांस्कृतिकनिधि', 'सत्याग्रह-गीता' 'जवाहरजीवनम्' 'गुरुगोन्दविसिंहचरितम्' 'बोधिसत्त्वचरितम्; 'इन्दिरागाँधिचरितम्' "राष्ट्ररत्नम्" आदि हाल ही में प्रकाशित हुए हैं।

७. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ

इनका काल ५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक माना जाता है। इस पूरे काल

की भाषा को सामान्यरूप से 'प्राकृत' कहा गया है ।[1] इस प्राकृत को पुनः तीन भागों में विभाजित किया जाता है :—

(i) प्रथम प्राकृत (काल ५०० ई० पूर्व से ईस्वी सन् के आरम्भ तक)

इस काल की भाषा में (क) पालि तथा (ख) शिलालेखी प्राकृत आती हैं ।

(ii) द्वितीय प्राकृत (काल ई० सन् के आरम्भ से ५०० तक)

इस काल की भाषा 'प्राकृत' ही कहलाती है तथा उसके कई रूप उपलब्ध होते हैं ।

(iii) तृतीय प्राकृत (काल ५०० ई० से १००० ई० तक)

इसे 'अपभ्रंश' भाषा कहा जाता है । इसके भी अनेक रूप उपलब्ध हैं ।

अब इन पर भी क्रमशः विचार किया जायेगा ।

प्रथम प्राकृत (काल ५०० ई० पूर्व से ई० सन् के आरम्भ तक)

जैसा पहले लिखा जा चुका है, प्रथम प्राकृत भी दो रूपों में मिलती है :— (क) पालि तथा (ख) शिलालेखी । अतः, इन पर भी पृथक्-पृथक विचार करना आवश्यक है ।

(i क) पालि—

'पालि' को 'प्रथम प्राकृत' तथा 'देशभाषा' भी कहा गया है । 'पालि' शब्द का क्या अर्थ है तथा इस भाषा को पालि क्यों कहा गया है, इस विषय में भी बहुत मतभेद है । भाषाविज्ञान-कोश[2] में इस सम्बन्ध में ११ मतों का उल्लेख किया गया है, जिनमें से कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख ही यहाँ किया जा रहा है ।

१. श्री विधुशेखर भट्टाचार्य 'पालि' शब्द को संस्कृत 'पंक्ति' शब्द से विकसित मानते हैं—पंक्ति > पन्ति > पत्ति > पट्ठि > पल्लि से 'पालि । पहले इसका अर्थ 'बुद्ध की पंक्ति' था जो बाद में भाषा के अर्थ में विकसित हो गया ।

२. 'पालि' शब्द का विकास 'पल्लि' शब्द से हुआ है । पल्लि का अर्थ है—गाँव, और पालि का अर्थ हुआ—गाँव की भाषा ।

३. 'भण्डारकर' तथा 'वाकरनागल' के अनुसार पालि सबसे पुरानी प्राकृत है और इस 'पालि' शब्द का विकास प्राकृत > पाकट > पाअड > पाअल > पालि' इस प्रकार हुआ है ।

४. कुछ विद्वानों ने संस्कृत की 'पाल् (रक्षा करना) धातु से इसे निष्पन्न माना है, अर्थात् बुद्धवचनों की रक्षा करने वाली भाषा ही 'पालि' है ।

---

१. इसका कारण यह है कि 'पाणिनि' ने जिस भाषा का संस्कार किया, और जो शिष्टजनों की भाषा बन गयी, उसके अतिरिक्त, उसके साथ ही साथ जिस भाषा का विकास जनबोली के रूप में होता रहा, वह 'प्राकृत' ही कही गयी, क्योंकि वह प्राकृतिक अर्थात् स्वाभाविक रूप से ही विकसित होती रही, उसका विकास अवरुद्ध नहीं हुआ और न ही उसका संस्कार किया गया ।

२. लेखक डॉ० भोलानाथ तिवारी, प्रथम संस्करण पृ० ४८८.

५. कुछ विद्वानों के अनुसार 'पा' (पालेति, रक्खतीति) धातु से लि (णिच्) प्रत्यय करने पर 'पालि' शब्द बना है, अर्थ वही है—'बुद्धवचनों की रक्षा करने वाली भाषा'।

६. इसी प्रकार श्री राजवाड़े 'प्रकट' से और ७. डॉ० मैक्सेवेलेसर 'पाटलि' शब्द से तथा कुछ अन्य विद्वान् ८. 'प्रालेय' (पड़ौसी) शब्द से 'प्रालि शब्द की व्युत्पत्ति मानते हैं।

९. भिक्षु जगदीश कश्यप के अनुसार 'पालि' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत 'पर्याय' शब्द से है। इसके प्राकृत रूप 'परियाय' या 'धम्मपरियाय' शब्द का प्रयोग, पुरातन बौद्ध साहित्य में, बुद्ध-उपदेशों के लिये हुआ है। इसी से परियाय > पलियाय > पालिया > पालि विकसित हुआ है। इस प्रकार 'पालि' का अर्थ है—'बुद्ध के उपदेश'।

भिक्षु जगदीश कश्यप का यह अन्तिम मत ही अधिकांश भारतीय विद्वानों को मान्य है। क्योंकि, 'पालि' शब्द का व्यवहार अपने पुराने प्रयोगों में बुद्ध के उपदेशों के लिये ही मिलता है। भाषा के अर्थ में यह 'पालि' शब्द का प्रयोग अत्याधुनिक है और प्रायः पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया।

संक्षेप में, 'पालि' का प्राचीन अर्थ हैं—बुद्ध के उपदेश; किन्तु, आजकल यह शब्द 'बुद्ध के उपदेशों की भाषा या 'बुद्ध साहित्य' के लिये प्रयुक्त होता है।

पालि किस प्रदेश की भाषा थी ?

इस विषय में भी बड़ा विवाद है। कुछ लोग इसे मगध की भाषा मानते हैं; कुछ कलिंग की, कुछ कौशल की, कुछ उज्जयिनी की तथा कुछ विन्ध्य प्रदेश या मध्यदेश की। इस सम्बन्ध में, संक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि वस्तुतः 'पालि' बुद्ध के समय की भाषा नहीं है। सम्भवतया बुद्ध ने तो अपने उपदेश मागधी भाषा में ही दिये थे, किन्तु कुछ सौ वर्षों के बाद उनका अनुवाद उस समय की जिस अन्तर-प्रान्तीय भाषा में हुआ, वही भाषा 'पालि' कहलायी। इसका मूल आधार तो उस काल की मध्यदेश की बोली ही है, किन्तु इस पर उस काल की अन्य बोलियों का प्रभाव भी अवश्य ही रहा होगा।

पालि-साहित्य

उपर्युक्त 'पालि' शब्द के मूल अर्थ तथा प्रचलित अर्थ से स्पष्ट होता है कि पालि का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के उपदेशों से अर्थात् बौद्ध साहित्य से है। पालिसाहित्य के दो वर्ग (क) पिटक और (ख) अनुपिटक-नाम से हैं। इनके अन्तर्गत 'जातककथाएँ' 'धम्मपद', 'मिलिन्दपञ्ह', बुद्धघोष की 'अट्ठकथा' तथा 'महावंश' आदि प्रमुख रूप से आते हैं। पालि-साहित्य की रचना लगभग ५ वीं शताब्दी ई० पूर्व से लेकर आजतक हो रही है। भारत की भाषाओं के अतिरिक्त लंका, बर्मा, तिब्बत, चीन तथा स्याम देश की भाषाओं पर भी पालि का प्रभाव कम-अधिक मात्रा में पड़ा है।

पालि भाषा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ

(१) ध्वनियाँ—वैदिक ध्वनियों में से अधिकांश ध्वनियाँ पालि में मिलती हैं।

यहाँ तक कि वैदिक भाषा की ळ् ळ्ह् ध्वनियाँ भी, जो संस्कृत में लुप्त हो गयीं थी, पालि में मिलती हैं।

(२) वैदिक ध्वनियों में से ऋ, ॠ, ऐ, औ (४ स्वर) श्, ष्, विसर्ग, अघोष ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय (६ व्यंजन) ध्वनियों का पालि में अभाव है।

(३) ह्रस्व एँ, ओ—ये दो नयी स्वर ध्वनियाँ पालि में मिलती हैं।

ध्वनि-परिवर्तन

(४) स्वरों के मध्य के 'ड्' 'ढ्' प्रायः ळ् ळ्ह् हो जाते हैं।

(५) अनेक अघोष व्यंजन सघोष हो जाते हैं; जैसे क्>ग् में, च्>ज् में तथा त्>द् में परिवर्तित हो जाता। उदाहरणं—साकल>सागल, सुच>सुजा तथा उताहो>उदाहो।

(६) श् और ष् के स्थान पर केवल स् ही मिलता है। एषः>ऐसो।

(७) संयुक्त व्यंजनों का प्रायः समीकरण हो जाता है, जैसे धर्म>धम्म, कर्म >कम्म, तस्य>तस्स आदि।

(८) इसी प्रकार स्वरभक्ति (आर्य>अरिय), विषमीकरण तथा विपर्यय की प्रवृत्ति पालि में बहुत अधिक है।

(९) पालि में बलात्मक स्वराघात का प्रयोग होता था।

शब्दरूप तथा धातुरूप

(१०) ध्वनि की भाँति ही पालि रूपों की दृष्टि से वैदिक भाषा के अधिक निकट है। यहाँ भी रूपों में विविधता मिलती है। अनेक नये रूप भी विकसित हुऐ हैं।

(११) द्विवचन का प्रयोग नहीं मिलता-न धातुरूपों में और न ही शब्दरूपों से।

(१२) लिंग ३ ही हैं—पुलिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुसंकलिंग।

(१३) धातु का आत्मनेपद प्रयोग बहुत ही कम रह गया था।

(१४) प्रातिपदिकों में व्यंजनान्त रूपों की कमी हो गयी।

(१५) शब्दसमूह की दृष्टि से 'पालि' में तद्भव शब्दों का प्रयोग ही अधिक मिलता है।

संस्कृत तथा पालि की तुलना

संस्कृत तथा पालि में पर्याप्त अन्तर है। संस्कृत प्राचीन आर्य-भाषा है, तो पालि मध्यकालीन आर्यभाषा है। यद्यपि इन दोनों की ही मूलभाषा, वैदिक भाषा है, किन्तु संस्कृत जहाँ नियमों में बँधी हुई एक नियमित भाषा है, वहाँ 'पालि' स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक रूप से विकसित भाषा है। यही कारण है कि वैदिक भाषा

की अनेक विशेषताएँ पालि में ज्यों की त्यों मिलती है; जबकि संस्कृत में उनका अभाव है। कारण, वैदिक भाषा की उस अनेकरूपता को समाप्त करने के लिए ही तो पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा भाषा का संस्कार करके उसे संस्कृत किया गया था। इस दृष्टि से 'पालि' वैदिक भाषा के प्रवाह में ही, आगे चलकर आने वाला एक प्रवाह-स्थल है, जबकि 'संस्कृत' उस प्रवाह को एक ओर मोड़कर, बाँध कर बनाया हुआ सरोवर है। सरोवर को वहीं छोड़कर भाषा का प्रवाह जब आगे बढ़ गया, तो उसी में 'पालि' >प्राकृत>अपभ्रंश तथा>आधुनिक भारतीय भाषाओं के विभिन्न प्रवाह-स्थल हमें क्रमशः दिखलायी पड़ते हैं। (दे० पृ० ४९)

संस्कृत की तुलना में पालि तथा प्राकृतों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति सरलीकरण की है। इस दृष्टि से संस्कृत तथा पालि की तुलना करने पर हमारी दृष्टि निम्नलिखित तथ्यों पर पड़े बिना नहीं रहती :—

१. पालि में विसर्गों का नितान्त अभाव है, जबकि संस्कृत में वे नियमतः महत्त्वपूर्ण हैं।

२. संस्कृत के तीन वचनों के स्थान पर पालि में एकवचन तथा बहुवचन ये दो ही वचन रह गये। अर्थात् द्विवचन के लोप से भाषा सरल हो गयी है।

३. 'पालि' में प्रायः सभी प्रातिपादिक अजन्त हैं। अतः संस्कृत के हलन्त तथा अजन्त, इन दो शब्दरूपों के स्थान पर पालि में केवल अजन्त रूप ही रह गये। इससे हलन्त रूपों को स्मरण रखने की आवश्यकता नहीं रही।

४. नपुंसकलिंग तथा पुंल्लिङ्ग दोनों के विद्यमान रहते हुए भी उनके शब्दों के रूपों का भेद प्रायः समाप्त हो गया अर्थात् रूपों में समानता आ गयी।

५. अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त शब्दों के रूप, करण तथा अपादान कारकों (तृतीया, पञ्चमी विभक्ति) में, और सम्प्रदान कारक तथा सम्बन्ध (चतुर्थी; षष्ठी विभक्तियों) में समान ही बनने लगे, जबकि संस्कृत में इनमें भिन्नता विद्यमान थी। उदाहरण-रामस्स, अग्गिस्स, वायुस्स आदि।

६. धातु रूपों में गणभेद को स्वीकार करते हुए भी कई गण लगभग समान ही बन गये। कुछ धातु-गणों में परिवर्तन हो गया है। अन्य गणों की अपेक्षा भ्वादिगण का प्रयोग ही प्रमुखरूप से होने लगा।

७. 'पालि' में 'लिट्' लकार का लोप हो गया है।

८. भूतकाल में होने वाले 'अट्' के आगम का पालि में प्रायः अभाव है।

९. संस्कृत में परस्मैपद तथा आत्मनेपद का प्रयोग नियमतः होता है; किन्तु पालि में इनकी सत्ता सिद्धान्तरूप से मानने पर भी, प्रयोग परस्मैपद का ही अधिक मात्रा में हुआ है।

१०. वैदिक की भाँति पालि में भी तवे, तवे, तुये प्रत्यय वाले तुमुनन्त रूप मिलते हैं, उदाहरणार्थ— पहातुये, गणेतुवे आदि। इसी प्रकार पालि में वैदिक के समान ही ल्यबन्त रूपों में भी विविधता है, जबकि संस्कृत में यह विविधता नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'पालि', ध्वनि तथा रूपों की दृष्टि से वैदिक भाषा के अधिक निकट है ।

(I. ख) शिलालेखी प्राकृत

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा प्रथम प्राकृत के दो रूप उपलब्ध होते हैं—(क) पालि, और (ख) शिलालेखी प्राकृत । यहाँ शिलालेखी प्राकृत का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

(१) शिलालेखी प्राकृत को ही कुछ लोग अशोकी प्राकृत, अशोकन प्राकृत या लाट प्राकृत या लेण बोली कहते हैं, किन्तु इन सब नामों में सर्वोपयुक्त नाम शिलालेखी प्राकृत ही है ।

(२) जैसाकि सर्वविदित ही है, अशोक ने, अपने राज्य में, अपने प्रशासनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों को, अभिलेखों के रूप में चट्टानों तथा स्तम्भों (लाटों) पर खुदवाया था । इनकी लिपि ब्राह्मी तथा खरोष्ठी है । अभी तक ऐसे लगभग २० अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं ।

(३) भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन अभिलेखों का महत्त्व बहुत अधिक माना जाता है, क्योंकि इनसे तत्कालीन (ई० पू० दूसरी सदी) भाषा के स्वरूप का ज्ञान होता है । इन अभिलेखों की भाषा में स्थान-भेद से बोली-भेद विद्यमान है, जिससे ज्ञात होता है कि ये अपने-अपने प्रदेश (स्थान) की बोली के आधार पर हीं तैयार कराये गये थे । अतः, इनसे उस-उस स्थान की विभिन्न बोलियों (प्राकृतों) का ज्ञान होता है जहाँ जहाँ अशोक के ये अभिलेख प्राप्त हुए हैं ।

(४) अशोक के अभिलेखों की भाषा का अध्ययन करने के उपरान्त 'फ्रैंक', 'सेनार्ट' तथा 'डॉ० गुणे' आदि विद्वान् किसी एक ही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे । विभिन्न मतों के आधार पर इनमें २ से लेकर ५ बोलियों तक का स्वरूप ज्ञात होता है । संक्षेप में, इन शिलालेखों से तत्कालीन—

(i) उत्तर-पश्चिमी
(ii) दक्षिण-पश्चिमी और
(iii) पूर्वी

इन तीन बोलियों का ज्ञान तो स्पष्टरूप से होता है । साथ ही, इनसे

(iv) मध्य देशी, तथा
(v) दक्षिणी बोलियों का भी अनुमान लगाया जा सकता है ।

शिलालेखी प्राकृत की कुछ प्रमुख विशेषताएँ

१. ध्वनियाँ प्रायः वहीं हैं, जो पालि में हैं । स्, र्, ल्, ञ् तथा ण् ध्वनियों के प्रयोग में स्थल-भेद से अन्तर मिलता है । उदाहरणार्थ—उत्तरी-पश्चिमी बोली में जहाँ, 'श्' 'स्' और 'ष्' तीनों ध्वनियाँ मिलती हैं, वहाँ दक्षिण-पश्चिमी में पालि की भाँति केवल एक 'स्' ध्वनि ही मिलती है ।

२. संस्कृत की तुलना में जिस प्रकार का ध्वनि-विकास पालि में मिलता है, उसी प्रकार का ध्वनि-विकास शिलालेखी प्राकृत में भी मिलता है।

३. पालि की भाँति ही अधिकांश प्रातिपदिक स्वरान्त ही है।

४. पालि की भाँति ही द्विवचन नहीं है।

५. पालि की अपेक्षा, अधिक रूप-सादृश्य के कारण शिलालेखी प्राकृत में रूपों की संख्या और भी कम हो गयी है।

६. आत्मनेपद का नितान्त अभाव है।

संक्षेप में, शिलालेखी प्राकृत अनेक बातों में पालि से समानता रखते हुए भी (१) एक तो अधिक विकासोन्मुख हैं तथा (२) दूसरे इसमें बोली-भेद के लक्षण भी स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं।

(ii) द्वितीय प्राकृत या 'प्राकृत'

कालविभाजन की दृष्टि से मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के दूसरे काल की भाषा 'प्राकृत' है। यद्यपि मध्यकाल की सभी भारतीय आर्य भाषाएँ सामान्यतया प्राकृत ही कही जाती हैं, तथापि मुख्यरूप से 'प्राकृत' नाम इस काल की साहित्यिक भाषाओं का ही है। इनका समय ईस्वी प्रथम शताब्दी से ईस्वी ५ वीं शताब्दी तक है।

'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति

१. 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति कुछ वैयाकरणों के अनुसार 'प्राक्+कृत' है, अर्थात् जो संस्कृत से पूर्व की बनी हुई है। पाश्चात्य विद्वान् 'पिशेल' ने भी इसी मत का उल्लेख किया है। इस अर्थ में संस्कृत की मूल भाषा ही 'प्राकृत' भाषा है।

२. हेमचन्द्र, मार्कण्डेय तथा वासुदेव आदि प्राकृत-वैयाकरणों के अनुसार—'प्रकृति' संस्कृतम्, तत्र भवं प्राकृतमुच्यते अर्थात् प्रकृति=संस्कृत से उत्पन्न भाषा ही प्राकृत है।

३. किन्तु 'प्राकृत' शब्द का सही अर्थ है—प्रकृत अर्थात् स्वाभाविक या असंस्कृत। जब एक भाषा को संस्कृत कर दिया गया और वह शिष्टजनों, पण्डितों की भाषा बन गयी तो उसके समानान्तर जो जनसामान्य की बोलचाल की स्वाभाविक भाषा थी, और जिसका प्रवाह वैदिककाल से ही चला आ रहा था, वह 'प्राकृत' कही गयी। इस प्रकार 'प्राकृत' भाषा वैदिक और संस्कृत काल की जनभाषा का ही विकसित रूप है। (दे० पृ० ४६)

प्राकृत के भेद

धर्म, साहित्य तथा भाषाविज्ञान के आधार पर 'प्राकृत' के अनेक भेद किये गये हैं।

१. धर्म के आधार पर इसके ४ भेद हैं :—

(क) पालि, (ख) अर्धमागधी, (ग) जैन महाराष्ट्री तथा, (घ) जैन शौरसेनी।

२. साहित्य के आधार पर भी इसके चार भेद हैं; किन्तु नामों में भिन्नता है :—

(क) महाराष्ट्री, (ख) शौरसेनी, (ग) मागधी तथा (घ) पैशाची ।

३. प्राकृत वैयाकरणों, 'वररुचि' और 'हेमचन्द्र' आदि के दिये गये नामों की संख्या लगभग २०–२५ है ।

२. किन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत के केवल ५ रूप ही मान्य हैं :—

(क) मागधी, (ख) अर्द्धमागधी, (ग) महाराष्ट्री, (घ) शौरसेनी तथा (ङ) पैशाची । आगे इन्हीं का परिचय क्रमशः दिया जायेगा ।

(ii क) मागधी प्राकृत

इसका विकास मगध की निकटवर्ती भाषा से हैं। इसमें रचित कोई साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं होती । संस्कृत के नाटकों में इसका प्रयोग निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा किया गया है । इसके प्राचीनतम प्रयोक्ता 'अश्वघोष' हैं । 'गौडी' इसका एक अन्य नाम है ।

मागधी प्राकृत की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

१. मागधी प्राकृत में 'स' तथा 'ष्' के स्थान पर भी 'श्' ही मिलता है । जैसे, सप्त > शत्त तथा पुरुष > पुलिश आदि ।

२. 'र्' के स्थान पर सर्वत्र 'ल्' मिलता है । जैसे, पुरुष > पुलिश, राजा > लाजा ।

३. स् तथा र् से संयुक्त 'थ्' (स्थ, र्थ) 'स्त' हो जाता है, उपस्थित > उवस्तिद् अर्थ > अस्त आदि ।

४. 'ज्' के स्थान पर कहीं-कहीं य मिलता है, जैसे, जानाति > याणादि ।

५. संयुक्त व्यंजन में यदि प्रथम ध्वनि ऊष्म हो, तो समीकरण नहीं होता, जैसे हस्त > हश्त ।

संस्कृत, प्रथमा विभक्ति, एकवचन के विसर्गों (:) को मागधी में 'ए' हो जाता है, जैसे, सः > शे, देवः > देवे आदि ।

(ii ख) अर्द्ध मागधी प्राकृत

यह मगध तथा शूरसेन प्रदेशों के मध्य क्षेत्र (प्राचीन कोशल प्रदेश) की बोली से विकसित भाषा है । क्योंकि, इसमें मागधी प्राकृत की भी कुछ प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, अतः इसे अर्द्धमागधी कहा गया है । जैन साहित्य की यही प्रमुख भाषा है साथ ही, संस्कृत-नाटकों—'मुद्राराक्षस' तथा 'प्रबोधचन्द्रोदय' में इसका प्रयोग मिलता है । आचार्य विश्वनाथ ने इसे चरों, सेठों तथा राजपुत्रों की भाषा कहा है । कुछ विद्वानों ने कहा है कि अशोक के अभिलेखों की मूलभाषा अर्द्धमागधी ही थी, जिसे स्थानीय पुट दे दिया गया था ।

अर्द्धमागधी की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखत हैं —

१. 'श्' तथा 'ष्' के स्थान पर प्रायः 'स्' हो जाता है, जैसे श्रावक > सावग ।

२. दन्त्य तवर्ग ध्वनियों के स्थान पर मूर्धन्य टवर्ग ध्वनियाँ पायी जाती हैं। कृत्वा>कट्टु तथा स्थित>ठिय आदि।

३. कहीं-कहीं 'च्' के स्थान पर 'त्' ध्वनि मिलती है; चिकित्सा>तेइच्छा।

४. स्वरों के मध्य लुप्त व्यञ्जन के स्थान पर 'य्' श्रुति मिलती है; जैसे, सागर>सायर, गगन>गयन आदि।

५. संस्कृत, प्रथमा विभक्ति, एकवचन के विसर्गों के स्थान पर गद्य में 'ए' और पद्य में प्रायः 'ओ' मिलता है। इस प्रकार इसके गद्य-पद्य रूपों में भिन्नता रहती है।

(ii ग) महाराष्ट्री प्राकृत

इसका मूल आधार महाराष्ट्र प्रदेश है। कुछ लोग महा+राष्ट्र से तात्पर्य सम्पूर्ण भारत लेते हैं और इसे तत्कालीन भारत की राष्ट्रभाषा मानते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत काव्य की भाषा थी; अतः इसमें प्रचुर साहित्य मिलता है। गद्यरूप में इसका प्रयोग श्वेताम्बर जैनियों के धार्मिक ग्रन्थों में हुआ है। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों में, गीतों की भाषा यही है।

महाराष्ट्री प्राकृत, सभी प्राकृतों में एक परिनिष्ठित भाषा मानी जाती है। सभी वैयाकरणों ने इसी को आधार मानकर प्राकृतों के व्याकरण लिखे हैं। इसकी कुछ प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं:—

१. महाराष्ट्री प्राकृत में दो स्वरों के मध्यवर्ती अल्पप्राण स्पर्शों (क्, त्, प्; ग्, द्, ब् आदि) का प्रायः लोप हो जाता है; जैसे, नुपुर>णेउर, प्राकृत>पाउअ; लोको>लोओ, गच्छति>गच्छइ आदि।

इस प्रकार यह स्वरप्रधान भाषा हो गयी है।

२. दो स्वरों की मध्यवर्ती महाप्राण ध्वनियों (ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ्) के स्थान पर केवल ह् रह जाता है; जैसे—शाखा>शाहा, नाथः>नाहो, क्रोधः> कोहो आदि।

३. ऊष्म ध्वनियों के स्थान पर भी प्रायः 'ह्' ध्वनि ही मिलती है; जैसे, पाषाण>पाहाण, दिवस>दिवह, तस्य>ताह, दश>दह आदि।

४. कर्मवाच्य के 'गम्यते' आदि रूपों के स्थान पर 'गामिज्जइ' जैसे रूप मिलते हैं। अर्थात् 'य' के स्थान पर 'इज्ज' हो जाता है।

५. पूर्वकालिक क्रिया का प्रत्यय 'ऊण' मिलता है; जैसे, संस्कृत पृष्ट्वा के स्थान पर पुच्छिऊण।

(ii घ) शौरसेनी प्राकृत

यह शूरसेन (मथुरा) प्रदेश में विकसित बोली थी। इस पर संस्कृत का प्रभाव है, क्योंकि उस समय मध्यदेश संस्कृत का केन्द्र था। संस्कृत नाटकों में गद्य इसी शौरसेनी प्राकृत में है। 'कर्पूरमञ्जरी' का गद्यभाग इसी में रचित है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर जैनों के धार्मिक ग्रन्थों में भी इसी का प्रयोग हुआ है।

शौरसेनी प्राकृत की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं:—

१. दो स्वरों का मध्यवर्ती संस्कृत 'त्' > 'द' तथा 'थ' > 'ध्' हो जाता है; उदाहरणार्थ, भवति > होदि, कथय > कधोहि आदि।

२. दो स्वरों की मध्यवर्ती द्, ध् ध्वनियाँ अपरिवर्तित ही रहती हैं; जैसे, जलद: > जलदो, तथा क्रोध: > क्रोधो आदि।

३. 'क्ष' के स्थान पर 'क्ख' मिलता है; जैसे, संस्कृत इक्षु > इक्खु हो जाता है।

४. शब्दरूपों तथा धातुरूपों की दृष्टि से यह संस्कृत से प्रभावित है। साथ ही कुछ अंशों में महाराष्ट्री से भी प्रभावित है।

५. आत्मनेपद का लोप हो गया है, अत: केवल परस्मैपद का ही प्रयोग मिलता है।

(ii ङ) पैशाची प्राकृत

पैशाची के आधार के सम्वन्ध में वड़ा मतभेद है 'महाभारत' में 'पिशाच' नाम की एक जाति का उल्लेख हुआ है, जिसकी निवासभूमि उत्तर-पश्चिम में कश्मीर के आसपास मानी गयी है। इसी आधार पर ग्रियर्सन ने पैशाची को 'दरद' भाषा से प्रभावित माना है। 'हार्नली' के अनुसार यह द्रविड़ों की प्राकृत है। एक अन्य विद्वान् 'पुरुषोत्तमदेव' ने इसे संस्कृत और शौरसेनी का विगड़ा हुआ रूप स्वीकार किया है। किन्तु 'वररुचि' के अनुसार इसका आधार संस्कृत ही है।

सामान्यतया, यह भाषा साहित्यशून्य है। 'हम्मीरमर्दन' जैसे, वहुत कम नाटकों में कुछ ही पात्रों ने इसका व्यवहार किया है। 'प्राकृतसर्वस्व' में इसके ११ भेद दिये गये हैं, जिनका आधार या तो कोई देश है या कोई जाति। इतने अधिक भेदों के आधार पर कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह केवल एक अपने ही प्रदेश की भाषा न होकर, अपने चारों ओर के प्रदेशों के निम्न जाति के लोगों द्वारा बोली जाती थी।

पैशाची प्राकृत की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

१. दो स्वरों के मध्यवर्ती वर्गों के तृतीय, चतुर्थ घोष स्पर्श पैशाची में वर्गों के प्रथम और द्वितीय अघोष हो जाते हैं; उदाहरणार्थ, गगन > गकन तथा मेघः > मेखो, राजा > राचा आदि।

२. र् के स्थान पर ल् तथा ल् के स्थान पर र् मिलता है। जैसे, रुधिरं > लुधिरं, कुमारं > कुमालं आदि।

३. 'ष्' कहीं 'श्' मिलता है और कहीं 'स्' भी; उदाहरण, विषमः > विसमो; तथा तिष्ठति > चिश्तदि आदि।

४. स्वरों के मध्यवर्ती स्पर्शों का इसमें लोप नहीं होता, जैसा कि अन्य प्राकृतों में प्राय: होता है।

द्वितीय प्राकृत की कुछ सामान्य विशेषताएं

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा द्वितीय प्राकृत के अनेक भेदों का पृथक्-पृथक् परिचय ऊपर दिया जा चुका है। उन भेदों की विशेषताओं को संकलित करने पर 'प्राकृत' भाषा की कुछ सामान्य विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:—

ध्वनि-सम्बन्धी

१. 'प्राकृत की ध्वनियाँ प्रायः 'पालि' के ही समान हैं; किन्तु ऊष्म ध्वनियाँ (श्, ष् तथा स्) के प्रयोग में कुछ विभिन्नता है। पालि में जहाँ केवल 'स्' का ही प्रयोग मिलता है, वहाँ प्राकृतों के विभिन्न भेदों में से अधिकाँश में केवल 'स्', कुछ में केवल 'श्', कुछ अन्य में 'स्' और श् तथा अन्य कुछ में केवल श् और ष् का प्रयोग मिलता हैं।

२. प्राकृत के विभिन्न भेदों में 'र्' और 'ल्' में परस्पर विपर्यय की प्रवृत्ति देखी जाती है।

३. प्राकृत में 'य्' प्रायः ज् हो जाता है।

४. प्राकृत-ध्वनियों के सम्बन्ध में सबसे विचित्र बात है, कि इनमें तथाकथित आधुनिक ग्, घ्, ज् आदि संघर्षी स्पर्शों का प्रयोग भी मिलता है।

५. 'न्' प्रायः 'ण्' हो जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन सम्बंधी

६. पालि में प्रारम्भ हुई ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ (लोप, स्वरभक्ति, समीकरण) प्राकृत-काल में पूर्णतया नियमित हो गयीं।

७. स्वरों के मध्यवर्ती अल्पप्राण स्पर्श लुप्त हो गये।

८. स्वरों के मध्यवर्ती महाप्राण स्पर्शों का स्थान 'ह्' ने ले लिया।

९. संस्कृत विसर्ग (:) कहीं 'ए' और कहीं 'ओ' हो गया।

१०. 'म्' का स्थान 'व्' ने ले लिया।

११. घोष स्पर्श, अघोष हो गये तथा अघोष स्पर्श, घोष हो गये।

शब्दरूप-सम्बन्धी

१२. प्राकृतकाल में प्रायः सभी व्यञ्जनान्त शब्द स्वरान्त हो गये।

१३. शब्दरूपों में द्विवचन का लोप हो गया।

१४. सादृश्य के कारण शब्दरूप कम हो गये।

क्रियारूप-सम्बन्धी

१५. क्रियारूपों में भी द्विवचन का लोप हो गया।

१६. 'आत्मनेपद' नहीं रहा।

१७. सादृश्य के कारण रूपों में कमी आ गयी।

वाक्यरचना-सम्बन्धी

१८. वैदिक, संस्कृत तथा पालि भाषाएँ संयोगात्मक थीं अर्थात्, वाक्यरचना

में सम्बन्धतत्त्व, अर्थतत्त्व से जुड़ा रहता था; जैसे—"रमेशस्य गृहम्"—(संस्कृत)। किन्तु प्राकृत भाषाएँ वियोगात्मक हो गयीं, अर्थात् सम्बन्धतत्त्व का प्रयोग अर्थतत्त्व से पृथक् रूप में भी होने लगा; जैसे—रमेसस्स केरक घरम् (प्राकृत)।

अर्थसम्बन्धी

१९. अनेक संस्कृत-शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन हो गया। शब्दों के अर्थ अपने धातु से बहुत दूर चले गये तथा कहीं-कहीं नितान्त ही भिन्न हो गये।

शब्दसमूह-सम्बन्धी

२०. अधिकांश शब्द तद्भव हैं, कुछ देशज भी हैं।

सामान्य

२१. प्राकृत भाषा में बलात्मक स्वराघात था।

२२. पालि में सरलीकरण की जो प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी; उसका यहाँ पर्याप्त विकास हुआ।

(III) तृतीय प्राकृत या अपभ्रंश

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की, तृतीय प्राकृत-काल की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। 'अपभ्रंश' शब्द का अर्थ ही है, विकृत, भ्रष्ट या पतित। जब प्राकृत भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगा और वे व्याकरणबद्ध हो गयीं, तो धीरे-धीरे साहित्यिक प्राकृत और बोलचाल की प्राकृत भिन्न-भिन्न हो गयीं। आगे चलकर स्वतन्त्ररूप से विकसित होती हुई उसी बोलचाल की प्राकृत से अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ और तत्कालीन प्राकृत-पण्डितों ने परिनिष्ठित प्राकृत की तुलना में इसे विकृत, बिगड़ा हुआ या अपने उच्च स्थान से भ्रष्ट हुआ माना। इस प्रकार 'अपभ्रंश' भाषा का अपना नाम सार्थक हुआ। यह प्राकृतों तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य की कड़ी है। आगे चलकर अपभ्रंश से ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ है। (दे० चित्र पृष्ठ ४९)

अपभ्रंश का काल

यद्यपि पूर्व किये गये विभाजन की दृष्टि से तृतीय प्राकृत या अपभ्रंश का काल ५०० ई० से १००० ई० तक माना जाता है, किन्तु इसका प्रयोग साहित्य में सम्भवतः इससे भी पूर्व से लेकर लगभग १५वीं १६वीं शताब्दी तक होता रहा है।

'अपभ्रंश' का 'बिगड़े हुए शब्द रूप' के अर्थ में प्रयोग, सर्वप्रथम, 'व्याडि' तथा 'पतञ्जलि' ने किया है। भाषा के अर्थ में इसका उल्लेख, सर्वप्रथम ६ठी शताब्दी ई० में 'भामह' ने अपने 'काव्यालङ्कार' तथा 'चण्ड' ने अपने 'प्राकृतलक्षणम्' में किया है।

अपभ्रंश का साहित्य

अपभ्रंश के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—रइधूकृत 'करकंड चरिउ', धर्मसूरीकृत 'जम्बूस्वामी रासा', पुष्पदन्तकृत 'आदिपुराण', सरहकृत 'दोहाकोश', स्वयंभूकविकृत 'पउम चरिउ', धनपालकृत 'भविसयत्तकहा' तथा रामसिंहकृत 'पाहुडदोहा' आदि।

अपभ्रंश का प्रदेश

अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसका विकास सर्वप्रथम भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में हुआ; किन्तु इसके परिनिष्ठित रूप का विकास, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी मध्यप्रदेश की भाषा से तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना मध्यप्रदेशीय या शौरसेनी अपभ्रंश से मानते हैं।

अपभ्रंश के भेद

अपभ्रंश के भेदों पर विचार करने वाले विद्वानों में (१) डॉ० याकोबी, (२) डॉ० तगारे, (३) डॉ० नामवरसिंह आदि प्रमुख हैं। किन्तु, इस सम्बन्ध में इतना अधिक मतभेद है कि अपभ्रंश के भेदों की संख्या २ से लेकर २७ तक मानी गयी है। संक्षेप में, अपभ्रंश के निम्नलिखित ७ रूप हैं, जिनसे १३ आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास माना जाता है।

अपभ्रंश-रूप	>	उनसे निकली हुई आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ इस प्रकार हैं—
१. मागधी	>	१. बिहारी, २. बंगला, ३. उड़िया, ४. असमिया
२. अर्द्धमागधी	>	५. पूर्वी हिन्दी
३. महाराष्ट्री	>	६. मराठी
४. खस	>	७. पहाड़ी { इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का और उसके नागररूप से विकसित पुरानी राजस्थानी का प्रभाव है।
५. व्राचड़	>	८. सिन्धी
६. शौरसेनी	>	९. पश्चिमी हिन्दी, १०. शौरसेनी अपभ्रंश के नागर रूप से विकसित-राजस्थानी तथा ११. गुजराती
७. पैशाची	>	१२. लहँदा, पञ्जाबी { यह भी शौरसेनी अपभ्रंश से प्रवाहित है।[1]

इस प्रकार पूर्व से पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर भारत की ओर बढ़ते हुए उपर्युक्त अपभ्रंशों के स्थानों का अनुमान भी सहज ही हो जाता है।

अपभ्रंश भाषा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ

ध्वनि-सम्बन्धी

(१) अपभ्रंश की ध्वनियाँ प्रायः वही हैं, जो पालि तथा प्राकृत की है।
(२) ऋ स्वर ध्वनि केवल लेखन में थी, उच्चारण में नहीं।
(३) श् तथा ष् के स्थान पर प्रायः स् ही मिलता है।
(४) ऋ के अतिरिक्त सभी स्वरों के अनुनासिक रूप मिलते हैं।

---

१. दे० डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञानकोश, प्र० सं०, पृष्ठ ४९९

(५) अपभ्रंश में 'उ' ध्वनि की बहुलता है; जैसे—जगु, एक्कु, कारणु आदि।

ध्वनिपरिवर्तन-सम्बन्धी

(६) पालि तथा प्राकृत वाली, ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश में और अधिक विकसित हो गयीं।

(७) शब्द का अन्तिम स्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता है और कभी-कभी लुप्त भी; जैसे, संस्कृत 'गर्भिणी' से अपभ्रंश गब्भिणि तथा संस्कृत कीटक से अपभ्रंश कीड्।

(८) आद्यक्षर में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(९) म के स्थान पर वँ जैसे—कमल > कवँल,
वं के स्थान पर ब, जैसे—वचन > वअण,
ष्ण " न्ह जैसे—कृष्ण > कान्ह,
क्ष " {क्ख, जैसे—पक्षी > पक्खी; च्छ, जैसे—पक्षी > पच्छी,
स्म " म्ह जैसे—अस्मै > अम्ह,
य " ज जैसे—युगल > जुगल,
{ड द न} " प्रायः ल जैसे—प्रदीप्त > पलित,
आदि परिवर्तन प्रायः मिलते हैं।

(१०) संयुक्त व्यञ्जनों में से एक का लोप हो जाता है तथा उसकी क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे—सं० कस्य > प्रा० कस्स > अप० कासु।

शब्द तथा धातुरूप-सम्बन्धी

(११) नाम तथा धातुरूपों में कमी हो जाने से अपभ्रंश भाषा अधिक सरल हो गयी।

(१२) नपुंसकलिङ्ग प्रायः लुप्त हो गया।

(१३) अकारान्त पुंल्लिङ्ग प्रातिपदिक प्रमुख हो गए।

(१४) द्विवचन भी प्राकृत की भाँति ही लुप्त रहा।

कारक-सम्बन्धी

(१५) अपभ्रंश में ३ कारक-समूहों—(कर्ता, कर्म, सम्बोधन) (करण अधिकरण) तथा (सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध) और दो वचनों (एकवचन, बहुवचन) में संज्ञा आदि शब्दों के केवल ३ × २ = ६ रूप ही शेष रह गये।

प्रत्यय-सम्बन्धी

(१६) स्वार्थिक 'ड' प्रत्यय का प्रयोग बहुत बढ़ गया।

पदरचना तथा वाक्यरचना-सम्बन्धी

(१७) अपभ्रंश में वियोगात्मकता की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से प्रकट हो गयी। कारकों के लिए स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग होने लगा, जैसे—करण कारक के लिए सहुँ

या 'तण', सम्बन्ध (कारक) के लिए 'केर' 'कर' या 'का' तथा अधिकरण कारक के लिए 'मज्झ' या 'महँ' आदि का प्रयोग होने लगा।

इसी प्रकार क्रियारूपों में भी संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग होने लगा तथा तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का प्रयोग बढ़ गया।

(१८) वाक्य में पदों का स्थान निश्चित हो गया।

शब्द-समूह सम्बन्धी

(१९) सर्वाधिक संख्या तद्भव शब्दों की है। उसके बाद देशज शब्द हैं। तत्सम शब्दों की संख्या बहुत कम है। कुछ विदेशी शब्द मिलते हैं; जैसे—तुर्क, तहसील, ठक्कुर, हुद्दादार आदि।

(२०) निष्कर्ष रूप में, अपभ्रंश भाषा विकास के उस बिन्दु पर पहुँच गयी, जहाँ पर वह प्राचीन भारतीय भाषाओं से दूर तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के निकट प्रतीत होने लगी।

८. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ

आधुनिक आर्यभाषाओं का काल १००० ई० से लेकर वर्तमान काल तक माना जाता है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के तृतीय प्राकृत या अपभ्रंश रूपों से हुआ है। विकसित होती हुई बोलचाल की भारतीय आर्यभाषा का यह अन्तिम एवं वर्तमान विकासस्थल हैं। भविष्य में जब कभी यह अपने वर्तमान रूप से इतनी अधिक विकसित हो जायेगी कि इसके वर्तमान रूप में तथा उस भावी रूप में अन्तर (भेद) स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा, तो यह विकास के एक और सोपान पर पहुँच जायेगी।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विभिन्न रूप

(१) बिहारी, (२) बंगला, (३) उड़िया, (४) असमिया, (५) पूर्वी हिन्दी (६) मराठी, (७) पहाड़ी, (८) सिन्धी, (९) लहँदा, (१०) पञ्जाबी, (११) पश्चिमी हिन्दी, (१२) राजस्थानी और (१३) गुजराती।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण की व्यर्थता

यूरोपीय विद्वानों में से (१) हार्नले, (२) वेबर, (३) ग्रियर्सन, तथा भारतीय विद्वानों में से, (४) डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, (५) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, (६) श्री सीता राम चतुर्वेदी तथा (७) डॉ० भोलानाथ तिवारी आदि ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर प्रस्तुत किया है, किन्तु किसी वर्गीकरण के द्वारा भी वर्गीकरण का उद्देश्य—एक वर्ग की भाषाओं की मूलभूत विशेषताओं का स्पष्टीकरण—पूरा नहीं होता है। इस दशा में वर्गीकरण के प्रयासों की प्रशंसा करते हुए भी उन्हें व्यर्थ ही कहना पड़ता है।[1]

---

१. दे० भाषाविज्ञान की भूमिका, देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० १३५-१३६।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का परिचय

यहाँ प्रमुख आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है; जिससे उनकी विशेषताओं को पृथक्-पृथक् रूप से जाना जा सके ।

(१) बिहारी

यह हिन्दी-प्रदेश; बिहार की उपभाषा है । ग्रियर्सन ने इसे यह नाम दिया है । इसके अन्तर्गत ३ बोलियाँ हैं—(i) भोजपुरी, (ii) मैथिली और (iii) मगही ।

(i) **भोजपुरी**—इसका विकास मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से माना जाता है । उत्तर प्रदेश के जिलों अर्थात् बनारस, मिर्जापुर, गाज़ीपुर, जौनपुर, बलिया गोरखपुर, देवरिया, बस्ती तथा आजमगढ़ और विहार प्रदेश के ५ जिलों अर्थात् शाहबाद, पलामू, राँची, सारन और चम्पारन जिलों की भाषा यही है । इसका नाम भी शाहबाद (बिहार) में स्थित एक परगना भोजपुर के नाम पर पड़ा बताया जाता है, जो प्राचीनकाल में इस प्रदेश की राजधानी थी । इसमें लिखित साहित्य का प्रायः अभाव ही है । आधुनिक काल में 'राहुल साँकृत्यायन' तथा कुछ अन्य लोगों ने इसमें कुछ साहित्य अवश्य लिखा है । इसकी लिपि प्रमुख रूप से नागरी है ।

(ii) **मैथिली**—इसका विकास मागधी अपभ्रंश के मध्य रूप से माना जाता है । मिथिला क्षेत्र की भाषा होने से यह मैथिली कहलाती है । इसका क्षेत्र पूर्वी चम्पारन, मुजफ्फरपुर, मुंगेर, भागलपुर, दरभंगा पुनिया और संथाल परगने का उत्तरी भाग है । इसमें अनेक उपबोलियाँ हैं, जिनमें से उत्तरी मैथिली ही इसका परिनिष्ठित रूप है । यह साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न है । 'विद्यापति' ने अपनी रचनाएँ इसी में की है ।

(iii) **मगही**—'मगही' शब्द मागधी शब्द से ही विकसित हुआ है । इसका क्षेत्र प्राचीन मगध तक ही है । इस प्रकार यह पूरे गया जिले में तथा आंशिक रूप में पटना, हजारीबाग, मुंगेर, पाणामऊ, भागलपुर और राँची जिलों में बोली जाती है । इसमें लिखित साहित्य का अभाव है; किन्तु, लोकसाहित्य पर्याप्त मिलता है । 'गोपीचन्द' इसके प्रसिद्ध लोककवि हैं ।

(२) बंगला

इसका विकास मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से लगभग १००० ई० में हुआ है । बंगाल प्रदेश की भाषा होने से यह बंगला कही जाती है । इसमें संस्कृत-तत्सम शब्दों की बहुलता है । हिन्दी के भी अनेक शब्द हैं । यह साहित्य-सम्पन्न भाषा है । चण्डीदास, बंकिमचन्द्र, शरत्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसके प्रसिद्ध साहित्यकार हैं । इसकी अपनी पृथक् लिपि है, जिसका विकास प्राचीन नागरी या कुटिल लिपि से माना जाता है ।

(३) उड़िया

उड़ीसा प्रान्त की भाषा होने से यह उड़िया कही जाती है । इसका विकास

मागधी अपभ्रंश के दक्षिण रूप से माना जाता है 'बीम्स' के अनुसार उड़िया भाषा का अस्तित्व बंगाली भाषा से भी पूर्वकाल का है। उड़िया भाषा की एक साहित्य-सम्पन्न भाषा है। लुइपा, सारलादास, बलरामदास, उपेन्द्रभंज आदि इसके प्रसिद्ध कवि हैं। वर्तमान काल में भी इसमें पर्याप्त साहित्य रचा जा रहा है। उड़िया की लिपि, ब्राह्मी की उत्तरी शैली से विकसित अपनी पृथक् लिपि है। इसमें सभी वर्ण वर्तुलाकार होते हैं।

(४) असमिया

इसे असामी या आसामी भी कहा जाता है। स्पष्ट ही, असम या आसाम प्रदेश की भाषा होने से ही इसका यह नाम पड़ा है। इसका विकास मागधी के पूर्वोत्तरी अपभ्रंश से माना जाता है। इसमें साहित्य भी रचा गया है। असमिया का प्राचीनतम काव्य 'प्रह्लादचरित्र' १३-वीं शताब्दी के आरम्भ में रचा गया है, जिसके कवि 'हेम सरस्वती' हैं। अन्य प्राचीन साहित्यकारों में शंकरदेव, माधवदेव, पीताम्बर बलदेव आदि प्रसिद्ध हैं। असमिया भाषा पर तिब्बती, बर्मी, ऑस्ट्रिक तथा बंगला भाषा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसकी लिपि नागरी लिपि के पूर्वी रूप से विकसित है।

(५) पूर्वी-हिन्दी

हिन्दी क्षेत्र के पूर्वी भाग में इसका क्षेत्र है, अतः यह पूर्वी हिन्दी कही जाती है। 'ग्रियर्सन' के अनुसार इसकी तीन बोलियाँ हैं—(i) बघेली, (ii) अवधी और (iii) छत्तीसगढ़ी।

(i) बघेली का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, यह अवधी का ही मात्र दक्षिणी रूप है। अतः इसे पृथक् मानना व्यर्थ है।

(ii) अवधी—यह पूर्वी हिन्दी की महत्त्वपूर्ण बोली है। अवध की भाषा होने से ही यह अवधी कही जाती है। डॉ० ग्रियर्सन ने तथा डॉ० भोलानाथ तिवारी ने इसका सम्बन्ध अर्द्धमागधी से तथा डॉ० सक्सेना ने पालि से माना है। यह साहित्य-सम्पन्न भाषा है। ११ शताब्दी से लेकर, आंशिक रूप से वर्तमान काल तक इसमें साहित्य लिखा जाता रहा है। तुलसी के 'रामचरितमानस' की भाषा के साथ ही साथ यह जायसी के 'पद्मावत' तथा अन्य प्रेमकाव्यों की भाषा है।

लिखित साहित्य के अतिरिक्त इसमें लोकसाहित्य भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इसकी मुख्य लिपि देवनागरी ही है, किन्तु कुछ अंशों में फारसी लिपि का प्रयोग भी इसमें हुआ है।

(iii) छत्तीसगढ़ी—छत्तीसगढ़ में मुख्य रूप से बोली जाने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा। इसका विकास भी अर्द्धमागधी से माना जाता है। आधुनिक काल के कुछ कवियों को छोड़कर, इसका प्रयोग साहित्य में नहीं किया गया है। प्राचीनकाल में ब्रज और अवधी तथा आधुनिक काल में खड़ी बोली ही यहाँ साहित्य

की भाषा रही है। छत्तीसगढ़ी में लोकसाहित्य पर्याप्त मात्रा में है। इसकी लिपि प्रमुख रूप से देवनागरी ही है।

(६) मराठी

यह महाराष्ट्र की भाषा है। इसका नाम तथा रूप दोनों ही 'महाराष्ट्री' अपभ्रंश से विकसित हैं। इसका प्रादुर्भाव १००० ई० से पूर्व ही माना जाता है। मराठी का प्राचीन काल का साहित्य जितना सम्पन्न है, उतना ही आधुनिककाल का भी है। साहित्य में मराठी का प्रयोग लगभग १२ वीं शताब्दी से माना जाता है। सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि इसके प्रसिद्ध कवि हैं।

मराठी में संस्कृत तत्सम शब्दों की संख्या पर्याप्त है। साथ ही, इस पर भौगोलिक निकटता के कारण, द्रविड़ परिवार की भाषाओं का भी प्रभाव है। इसमें चवर्ग ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं—(१) सामान्य 'च' जैसी तथा (२) त्स्- जैसी। यह इसकी बहुत बड़ी विशेषता है। इसके साथ ही यह बलात्मक स्वराघात वाली भाषा है। इसकी लिपि देवनागरी है।

(७) पहाड़ी

पहाड़ी प्रदेश में बोली जाने के कारण यह पहाड़ी कही जाती है। इसका क्षेत्र हिमालय में भद्रवाह के उत्तर-पश्चिम से नेपाल के पूर्वी भाग तक है। इसकी ३ उप-बोलियाँ हैं—(i) पश्चिमी पहाड़ी, (ii) मध्य पहाड़ी, (iii) पूर्वी पहाड़ी। इनकी भी अनेक बोलियाँ हैं।

(i) पश्चिमी पहाड़ी—शिमला तथा इसके निकटवर्ती भागों में बोली जाती है।

(ii) मध्य पहाड़ी—इसकी दो शाखाएँ हैं—(क) कुमायूँनी —नैनीताल तथा अल्मोड़ा की बोली, इसमें कुछ साहित्य भी मिलता है। (ख) गढ़वाली—गढ़वाल, मसूरी और उसके निकटवर्ती भागों की बोली।

(iii) पूर्वी पहाड़ी—यह नेपाल तथा काठमांडू घाटी की भाषा है। इसमें भी साहित्य मिलता है। यह नेपाल की राजभाषा भी है।

नेपाली के अतिरिक्त सभी पहाड़ी बोलियों में केवल लोकसाहित्य ही मिलता है। इन सबकी लिपि भी देवनागरी ही है।

(८) सिन्धी

यह सिन्ध प्रदेश की भाषा है। इसका विकास व्राचड अपभ्रंश से माना जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र में (द्वितीय शताब्दी) में इसका संकेत मिलने से इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। इसका प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ 'महाभारत' है, जिसका काल १००० ई० से भी पूर्व माना जाता है। लगभग १४ वीं शताब्दी से इसमें नियमित रूप से साहित्य लिखा जाता रहा है। इसका प्रमुख ग्रन्थ "शाहजोरिसालो" तथा प्रसिद्ध कवि अब्दुलकरीम, शाहलतीफ, सचल, सामी आदि हैं। इसकी ५-६ बोलियाँ हैं। सिन्धी भाषा की अन्तःस्फोटक (implosive) ध्वनियाँ ज, ब आदि, इसकी सबसे प्रमुख विशेषता है। वैसे तो सिन्धी की अपनी प्राचीन लीपि 'लंडा' है किन्तु आजकल इसके लिये फारसी, नागरी, गुरुमुखी का भी प्रयोग होता है।

(९) लहंदा

यह पश्चिमी पञ्जाब (अब पाकिस्तान) की भाषा है। इसका सम्बन्ध पैशाची अपभ्रंश से माना जाता है। लहँदा शब्द का अर्थ है—सूर्यास्त, लक्षणा से 'पश्चिम'। इससे ज्ञात होता है कि यह पूरे पञ्जाब प्रदेश के पश्चिमी प्रदेश की भाषा है। पश्चिमी पञ्जाबी, डिलाही, हिन्दकी, जटकी आदि इसके अन्य नाम भी हैं। इसकी कई बोलियाँ भी हैं।

लहँदा, सिन्धी तथा कश्मीरी भाषा से पर्याप्त प्रभावित है। इसमें लिखित साहित्य के नाम पर केवल सिक्ख धर्म का 'जनमसाखी' ग्रन्थ है। शेष साहित्य केवल लोकसाहित्य ही है। मुसलमान प्रायः फारसी और हिन्दू प्रायः लंडा लिपि में इसे लिखते हैं।

(१०) पञ्जाबी

यह पूर्वी पञ्जाब की भाषा है। इसका सम्बन्ध भी पैशाची अपभ्रंश से माना जाता है। किन्तु, इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का भी प्रभाव है। बोलने वालों में सिक्खों की प्रधानता के कारण इसे सिक्खी, खालसी तथा गुरुमुखी लिपि के कारण इसे कभी-कभी गुरुमुखी भी कह दिया जाता है। इसमें संस्कृत-फारसी शब्द कम हैं। मुख्यरूप से यह पञ्जाब के किसानों की भाषा है।

पञ्जाबी के दो प्रमुख रूप हैं—(क) एक परिनिष्ठित पञ्जाबी या माझी। (ख) दूसरा डोगरी। इनके भी कई स्थानीय उपरूप हैं। पञ्जाबी में साहित्य-रचना १२वीं शताब्दी से मिलती हैं। इसके प्रथम कवि बाबा फरीद शकरगंज तथा प्राचीन कवियों में गुरु नानक, गुरु अर्जुनदेव आदि प्रसिद्ध हैं। वारिस शाह की लोकप्रिय रचना 'हीर-राँझा' इसी में है। आधुनिक साहित्यकारों में मोहनसिंह, अमृता प्रीतम, महीप सिंह आदि प्रसिद्ध हैं। इसमें पर्याप्त साहित्य भी है। आजकल भारत में इसकी प्रमुख लिपि गुरुमुखी तथा पाकिस्तान में फारसी ह।

(११) पश्चिमी हिन्दी

यह शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित है। इसकी ५ बोलियाँ हैं।

(i) **ब्रजभाषा**—इसका केन्द्र अलीगढ़, मथुरा, आगरा तथा धौलपुर हैं। साहित्यिक दृष्टि से इसका बहुत महत्व है। कई शताब्दियों (१६वीं से २० वीं) तक इसमें साहित्य की रचना होती रही है। सूर, विहारी, रसखान, रत्नाकर आदि अनेक कवियों की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं। इसकी लिपि प्रायः देवनागरी ही है। इसमें को, थोड़ो, कियो जैसे—ओकारान्त रूपों की बहुलता है।

(ii) **खड़ी बोली**—इसका केन्द्र बिजनौर है तथा क्षेत्र रामपुर, मुरादाबाद बिजनौर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, सहारनपुर तथा देहरादून (मैदानी भाग) तक फैला हुआ है। इसके दो रूप हैं—एक जन-भाषा का, जिसका परिनिष्ठित रूप बिजनौर में बोला जाता है। यह मेरठ दिल्ली के आसपास की बोली है। इसका दूसरा रूप साहित्यिक है, जिसका प्रयोग कबीर से लेकर आधुनिक काल तक के कवियों ने किया है। इसका साहित्यिक रूप जनभाषा वाले रूप पर ही आधारित माना जाता है।

इसकी लिपि देवनागरी है। साहित्यिक दृष्टि से भी इसके दो रूप हैं—हिन्दी तथा उर्दू। हिन्दी रूप तत्समप्रधान है,[1] जबकि उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों की प्रधानता है तथा इसकी लिपि फारसी है। आर्यसमाज के आन्दोलन तथा स्वतन्त्रता-आन्दोलन के कारण खड़ी बोली का बहुत अधिक प्रचार-प्रसार हुआ है। स्वतन्त्र भारत में आज यह राष्ट्रभाषा, राजभाषा तथा सम्पर्क की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। इसमें का, किया, थोड़ा—जैसे आकारान्त रूपों की प्रधानता है।

(iii) बांगरू—इसका प्रयोग बोली के रूप में दिल्ली, रोहतक, करनाल, हिसार, पटियाला, नाभा तथा जींद आदि में होता है। वस्तुतः, यह खड़ी बोली की राजस्थानी तथा पञ्जाबी से प्रभावित केवल एक उपबोली है। 'बाँगर' प्रदेश (एक प्रकार की ऊँची भूमि) की होने से यह बाँगरू कही जाती है। इसमें कोई विशेष साहित्य नहीं मिलता है। हाँ, लोकसाहित्य इसमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। आजकल इसकी लिपि भी देवनागरी है।

(iv) कन्नौजी—इसका केन्द्र मुख्यतया फर्रुखाबाद है, किन्तु सामान्य रूप से इसका प्रयोग पीलीभीत, शाहजहाँपुर, इटावा तथा कानपुर के आसपास तक होता है। यह ब्रजभाषा की ही एक उपबोली है। इसमें भी साहित्यिक रचनाओं का अभाव सा ही है।

(v) बुन्देली—इसका प्रयोग बुन्देलखण्ड अर्थात् झाँसी, हमीरपुर जालौन, ग्वालियर, भोपाल, सागर, ओरछा तथा नरसिंहपुर आदि में तथा इनके आसपास होता है। यह ब्रजभाषा से मिलती-जुलती है। इसकी लिपि देवनागरी ही है। 'लाल' कवि ने बुन्देली में 'छत्र-प्रकाश' ग्रन्थ की रचना की है। वैसे साहित्य का इसमें अभाव ही है। कहा जाता है कि इसकी एक उपबोली 'बनाफरी' में ही प्रसिद्ध लोकगाथा 'आल्हा-खण्ड' की रचना सर्वप्रथम हुई थी।

(१२) राजस्थानी

यह भी शौरसेनी अपभ्रंश के नगर रूप से विकसित है। इसकी चार बोलियाँ (i) मेवाती, (ii) मारवाड़ी, (iii) मालवी तथा (iv) जयपुरी है।

(i) मेवाती—अलवर तथा गुड़गाँव का मध्यवर्ती क्षेत्र 'मेवात' कहा गया है। मेवाती इसी क्षेत्र की बोली है। ब्रज प्रदेश के निकट होने से इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

(ii) मारवाड़ी—यह मारवाड़ अर्थात् राजस्थान के पश्चिम भाग—जोधपुर, उदयपुर, जैसलमेर तथा बीकानेर की बोली है। इसका प्राचीन रूप डिंगल कहलाता है। यह साहित्यसम्पन्न भाषा है। नरपति नाल्ह, पृथ्वीराज आदि इसके प्रसिद्ध कवि हैं। इसकी लिपि प्रमुख रूप से नागरी ही है।

(iii) मालवी—राजस्थान के दक्षिण-पूर्व भाग में स्थित मालवा की बोली

---

१. दे० भाषाविज्ञान-कोश, प्र० सं०, पृ० ८६, डॉ० भोलानाथ तिवारी।

होने से यह मालवी कही जाती है। इसका प्रमुख केन्द्र इन्दौर है। इसमें भी साहित्य रचना कम ही हुई है। इसकी प्रसिद्ध कवयित्री 'चन्द्रसखी' है।

(iv) जयपुरी : यह राजस्थान के पूर्वी भाग-अर्थात् जयपुर, कोटा और बूंदी की बोली है। इसे यह नाम यूरोपियन विद्वानों ने दिया है। इसका स्थानीय नाम ढुंढाली है। इसमें दादूपंथियों का साहित्य मिलता है।

(१३) गुजराती

गुजरात प्रदेश की भाषा गुजराती है। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। यह पश्चिमी हिन्दी और राजस्थानी से बहुत मिलती है। इसकी लिपि पृथक् है, जो कैथी लिपि से समानता रखती हैं। इसकी विभाषाएँ भी कम ही हैं। इसमें १३ वीं शताब्दी से निरन्तर साहित्य रचा जा रहा है। विनयचन्द्र सूरि, राजशेखर, नरसी मेहता आदि इसके प्रमुख साहित्यकार हैं। इसकी लिपि नागरी से मिलती-जुलती होते हुए भी पृथक् है, जिसमें शिरोरेखा का प्रयोग नहीं होता है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की कुछ प्रमुख सामूहिक विशेषताएँ

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के पृथक्-पृथक् रूपों का परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त यहाँ उनकी कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है। इन विशेषताओं के आधार पर ही मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं (प्राकृतों, विशेष रूप से विभिन्न अपभ्रंशों) से उनकी पृथक्ता को जाना जा सकता है। संक्षेप में, ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

ध्वनि-सम्बन्धी

१—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में ध्वनियाँ प्रायः वही हैं, जो मध्यकालीन प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में थीं; तथापि कुछ विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं—

स्वरों में—

(क) कई नवीन स्वरों का विकास हो गया है।

(ख) 'ऋ' का उच्चारण स्वर-जैसा नहीं रहा है, अतः, यह केवल लिखित स्वर ही रह गया है, उच्चारित नहीं।

व्यञ्जनों में—

(ग) ऊष्म व्यञ्जन लिखित रूप में तो ३–श्, ष्, स् हैं, किन्तु उच्चारितरूप में २–श् और स् ही रह गये हैं। ष् का उच्चारण भी 'श्' ही होता है।

(घ) मूर्धन्यों में–ड़् और ढ़् दो नयी ध्वनियाँ विकसित हो गयी हैं।

(ङ) च वर्ण का उच्चारण एकसा न रहकर हिन्दी में च् (स्पर्श) जैसा, और मराठी में च के साथ ही 'त्स्' (स्पर्श-संघर्षी) जैसा भी होता है।

(च) ज्ञ (ज् + ञ्) का शुद्ध उच्चारण लुप्त होकर ज्यँ, ग्यँ और द्यँ–जैसा हो रहा है।

विदेशी प्रभाववश—

(छ) क़्, ख़्, ग़्, फ़्, ॉ (ह्रस्व ओ) आदि नवीन ध्वनियाँ आ गयी हैं।

ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी

२—शब्दों में उपधा (अन्तिम व्यञ्जन से पहले आने वाला स्वर) या अन्तिम स्वर पर बलात्मक स्वराघात न होने पर—

(क) शब्दों के अन्तिम दीर्घ स्वर प्रायः ह्रस्व हो जाते हैं।

(ख) अन्त में आने वाला ह्रस्व 'अ' प्रायः लुप्त हो जाता है; जैसे, काम्; राम्, कल्, आज् आदि का उच्चारण हलन्त ही होता है।

३—प्राकृत में समीकृत द्वित्व व्यञ्जन में से एक का लोप हो जाता है, तथा द्वित्व व्यञ्जन से पहला स्वर क्षतिपूर्ति के रूप में दीर्घ हो जाता है; जैसे कम्म > काम, सत्त > सात आदि। पञ्जाबी, सिन्धी (आ० भा० आ०) में कम्म, सत्त ही रहता है।

रूप-सम्बन्धी

४—कारकरूप संस्कृत में २४, प्राकृत में १२, अपभ्रंश में ६ थे, किन्तु आ० भा० आ० में केवल (i) अविकृत और (ii) विकृत, ये दो ही रह गये हैं। क्रियारूप भी कम हो गए हैं। प्रायः मूल क्रियारूपों के साथ सहायक शब्दों को जोड़कर सभी काल तथा भाव प्रकट कर दिए जाते हैं।

रचना-सम्बन्धी

५—संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि भाषाएँ योगात्मक थीं, अपभ्रंश कुछ अयोगात्मक हुई, किन्तु आ० भा० आ० पूर्णतया अयोगात्मक हो गयी हैं। नामरूपों के साथ 'ने' 'को' 'से' 'में' आदि परसर्गों का और क्रियारूपों में कृदन्त एवं सहायक क्रिया के साथ संयुक्त क्रिया का प्रयोग होता है।

६—आधुनिक आर्यभाषाओं में वचन—एकवचन तथा बहुवचन, दो ही है।

७—हिन्दी, राजस्थानी, पञ्जाबी तथा सिन्धी में २ लिंग है। गुजराती, मराठी आदि कुछ में अभी तक भी ३ लिंग हैं। वैसे आ० भा० आ० की प्रवृत्ति लिङ्गभेद-समाप्ति की ओर ही है।

शब्दभाण्डार-सम्बन्धी

८—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में से प्रत्येक में ही विदेशी शब्दों की संख्या पर्याप्त है। विदेशी शब्द प्रायः तुर्की, अरबी, फ़ारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी से लिए गए हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में इनका अभाव था।

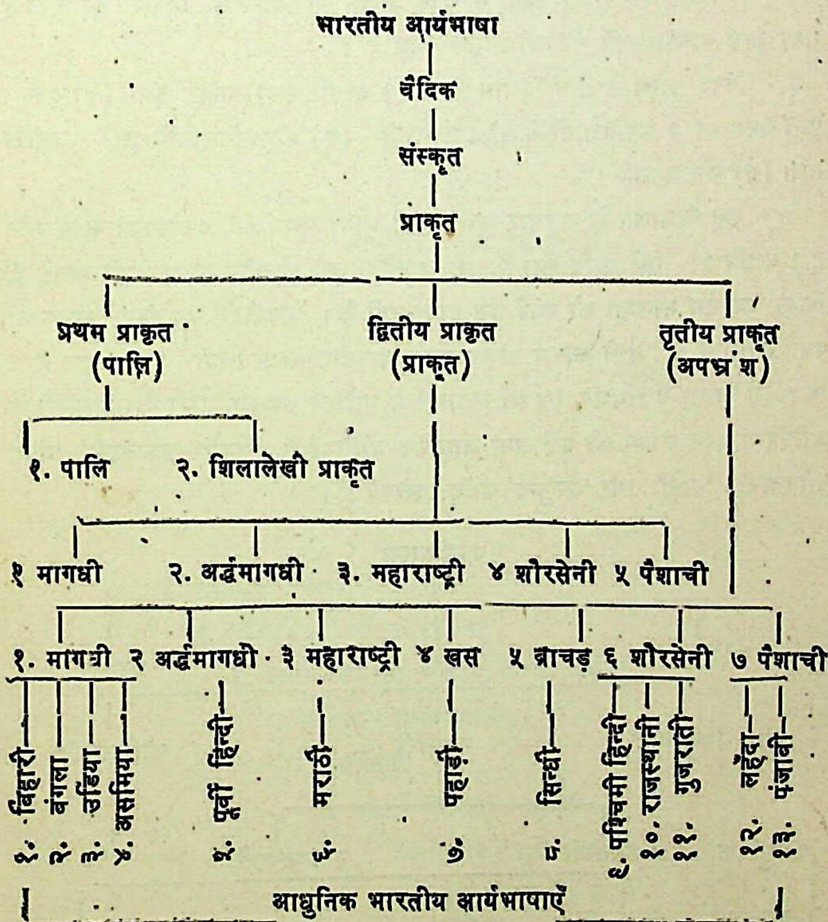
९—पहले की अपेक्षा अनेक नये अनुकरणात्मक शब्द भी विकसित होते गये हैं।

१०—सामान्यतया आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ बलात्मक स्वराघात वाली हैं, किन्तु वाक्यों में संगीतात्मक स्वराघात का प्रयोग भी मिलता है।

११—इस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ सरलता की ओर उन्मुख हैं। धीरे-धीरे शब्दरूपों में और भी कमी की सम्भावना है; उदाहरणार्थ, हिन्दी में एकवचन में 'हम' और बहुवचन में इसके साथ 'सब' या 'लोग' शब्द जोड़कर ही काम चलाया जाने लगा है। लिंगभेद भी कम हो रहा है। पञ्जाबी में मुख्यरूप से, किन्तु

हिन्दी में भी, महिलाओं को भी "आप जा रहे हैं", "आप खा रहे हैं" आदि ही कहा जाने लगा है, जिससे स्त्रीलिंग, पुल्लिंग का भेद मिट रहा है। नवीन सामाजिक प्रवृत्तियाँ तथा आधुनिकतम नये-नये फैशन भी इसी का पूर्व संकेत हैं।

रूपरेखा



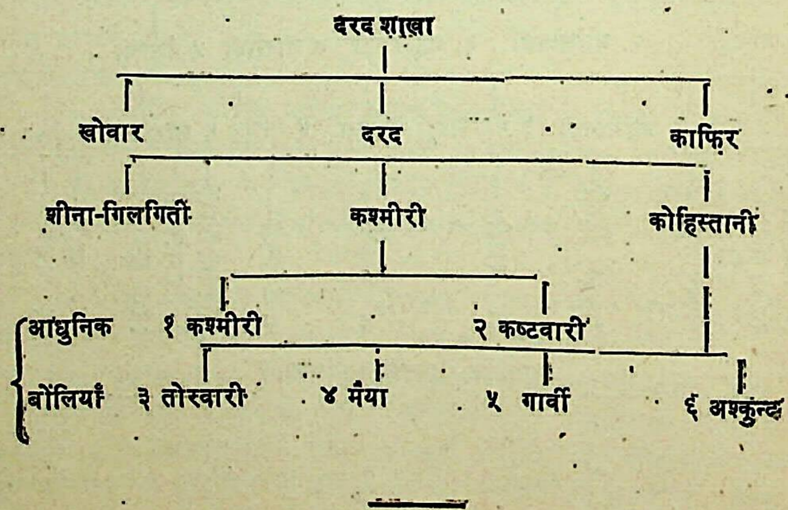
भारत-ईरानी शाखा की गौण शाखा 'दरद'

आर्य या भारत ईरानी शाखा के विभाजन के प्रसंग में 'दरद' शाखा का उल्लेख हो चुका है। यह भारोपीय परिवार के 'सतम्' वर्ग की आर्यशाखा की ही एक गौण शाखा है। इसका क्षेत्र पामीर तथा पश्चिमोत्तर पंजाब के मध्य माना जाता है। 'दरद' शब्द संस्कृत का है, तथा इसका अर्थ 'पर्वत' है। कुछ संस्कृत रचनाओं में कश्मीर के आसपास की भूमि को भी 'दरद' कहा गया है। इन दोनों अर्थों से भी इसके क्षेत्र का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने 'दरद' शाखा को 'भारतीय शाखा' ही माना है तथा दरद भाषाओं को 'पैशाची प्राकृत' कहा है।

दरद शाखा के तीन विभाग हैं—(१) खोवार (२) काफ़िर तथा (३) दरद। पुनः दरद को ३ उपविभागों में बाँटा जाता है—(क) शीना-गिलगिती (ख) कश्मीरी तथा (ग) कोहिस्तानी।

इस विभाजन के अनुसार कश्मीर की भाषा 'कश्मीरी', दरदशाखा के अन्तर्गत हैं। यद्यपि डॉ० गुणे आदि कुछ विद्वान् 'कश्मीरी' को भारतीय शाखा में ही मानते हैं, किन्तु अब इस मान्यता को कोई बल प्राप्त नहीं है। 'कश्मीरी' पर संस्कृत भाषा का पर्याप्त प्रभाव है। इसी कारण भ्रमवश इसे भारतीय समझ लिया जाता रहा है। 'कश्मीर' भाषा में लगभग १४ वीं शताब्दी से साहित्य उपलब्ध होता है। कश्मीरी के अतिरिक्त दरद शाखा की कई अन्य आधुनिक बोलियाँ हैं, जिनमें 'कष्टवारी', 'मैया' 'तोरवारी', 'गार्वी' तथा 'अश्कुन्द' आदि उल्लेख्य हैं।



[अध्याय ८]

ध्वनिविज्ञान एवं ध्वनिग्राम-विज्ञान

१. सामान्य परिचय
२. ध्वनिविज्ञान की उपयोगिता
३. 'ध्वनि' का सामान्य एवं विशेष अर्थ
४. ध्वनिग्राम तथा संध्वनि
५. ध्वनिगुण
६. ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया
७. ध्वनियन्त्र का परिचय
८. ध्वनियों का वर्गीकरण
९. ध्वनि-परिवर्तन : दिशाएँ तथा कारण
१०. ध्वनि-नियम : ग्रिम, वर्नर, ग्रासमैन आदि
११. ध्वनिग्राम (स्वनिम) विज्ञान

[अध्याय ८]

ध्वनिविज्ञान

(Phonetics)

१. सामान्य परिचय

भाषाविज्ञान के अन्तर्गत जहाँ भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है, उस प्रकरण को 'ध्वनिविज्ञान' नाम से अभिहित किया जाता है। ध्वनि-विचार' तथा 'वर्ण-विज्ञान' इसी के अन्य नाम हैं। भारत के प्राचीनतम साहित्य, वैदिक साहित्य में इसी को 'शिक्षा' कहा गया है। वेदाङ्गों में 'शिक्षा' वेदाङ्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

किसी भाषा की ध्वनियाँ, उसका मूल आधार होती हैं। क्योंकि ध्वनियों से ही पद (शब्द) तथा पदों से ही वाक्य बनते हैं। और सामान्यतया वाक्यों का प्रयोग ही भावाभिव्यक्ति के लिये, प्रत्येक भाषा में किया जाता है। अतः, पदविज्ञान, वाक्य-विज्ञान तथा अर्थविज्ञान की भाँति ही ध्वनिविज्ञान भी भाषाविज्ञान का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इतना ही नहीं, भाषाविज्ञान के अन्य अंगों की अपेक्षा ध्वनिविज्ञान कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भी है; क्योंकि भाषा का भवन, ध्वनियों की नींव पर ही खड़ा होता है। सम्भवतः, इसी कारण भाषाविज्ञान के अन्य अङ्गों की तुलना में ध्वनिविज्ञान का अध्ययन भी सर्वाधिक हुआ है।

ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत-भाषाविज्ञान की दृष्टि से ध्वनि की परिभाषा, संध्वनि तथा ध्वनिग्राम में अन्तर, ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया, ध्वनियन्त्र अथवा उच्चारणावयवों का परिचय, भाषाविशेष में प्रयुक्त ध्वनियों का परिचय एवं वर्गीकरण आदि विषय आते हैं। साथ ही, ध्वनि-विकार की दिशाएँ, कारण तथा कुछ विशिष्ट ध्वनि-नियमों का अध्ययन भी इसके अन्तर्गत किया जाता है।[1]

---

१. डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने 'वर्णविज्ञान' के नाम से इसके स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है:—

"वर्ण-विज्ञान, जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, वर्णों के विज्ञान को कहते हैं। साधारण दृष्टि से इसका विषय सामान्यतः मानवी भाषा के वर्णों या आवाजों का विचार और भिन्न-भिन्न भाषाओं के वर्णों के स्वरूप और इतिहास का विचार करना समझा जाता है।"

"विशेष दृष्टि से वर्णविज्ञान से आशय सामान्यतः मनुष्य-भाषा के और भिन्न-भिन्न भाषाओं के वर्ण-विषयक ऐसे अध्ययन से होता है, जिसमें वर्णोच्चारण में उपयोगी शरीरावयवों के द्वारा वर्णों के उच्चारण करने के ठीक-ठीक प्रकार का और उच्चारण में जो ऐसे सूक्ष्म भेद होते हैं, जो सुनने में तो आते हैं परन्तु लिखने में प्रायः नहीं दिखलाये जाते, उनके कारणों का विचार किया जाता है।"

—तुलनात्मक भाषाशास्त्र

ध्वनि की उपयोगिता

भाषा के अध्ययन में ध्वनि-विज्ञान अनेक प्रकार से उपयोगी होता है :—

(१) ध्वनि-विज्ञान का उपयोग किसी भाषा को सीखने या सिखाने में बड़ा उपयोगी होता है। इसके द्वारा भाषा को शुद्ध रूप में सीखा जा सकता है। प्राचीन-काल में भारत में इसे 'शिक्षा' वेदाङ्ग नाम दिया जाता था और इसका उपयोग वैदिक भाषा को शुद्ध रूप से सिखाने में किया जाता था।

(२) ध्वनि-विज्ञान के द्वारा भाषा को सीखने-सिखाने में यह बात स्पष्ट रूप से समझाई जा सकती है कि सीखने वाला किसी विशेष ध्वनि (वर्ण) का उच्चारण कौन से उच्चारणोपयोगी अवयव से करे तथा उच्चारण के समय कैसा प्रयत्न करे।

(३) ध्वनि-विज्ञान का उपयोग भाषाविशेष को शुद्ध-शुद्ध लिखने में भी किया जा सकता है। पहले वर्णों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करके उनके लिए, वैज्ञानिक दृष्टि से काल्पनिक लिपिचिह्न बनाये जायें और बाद में उनका उपयोग भाषाविशेष को शुद्ध लिखने में किया जाये, जिससे ध्वनियों या वर्णों के उच्चारित तथा लिखित रूप में अधिकाधिक समानता रहे।

(४) ध्वनि-विज्ञान के द्वारा वर्णों (ध्वनियों) का सूक्ष्म परिचय तथा उनका पारस्परिक भेद स्पष्ट हो जाने से यह बात सहज ही ज्ञात हो जाती है कि बोलचाल में, कालान्तर में एक ध्वनि (वर्ण) के स्थान पर दूसरी ध्वनि (वर्ण) कैसे आ जाती है; उदाहरणार्थ, 'जगत्+जननी' से 'जगज्जननी' या 'तत्+गच्छति' से 'तद्गच्छति' कैसे हो जाता है।

इस प्रकार सन्धि आदि के नियम, व्याकरण के नियम न होकर भाषा की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति लगने लगते हैं। साथ ही, यह भी ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन वैदिक भाषा ही संस्कृत < पालि < प्राकृत आदि में किस प्रकार परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ी है।

(५) ध्वनि-विज्ञान के द्वारा किसी प्राचीन भाषा की ध्वनियों के उच्चारण को भी ठीक-ठीक जाना जा सकता है और इस प्रकार हम प्राचीन भाषा के काव्य का रसास्वादन भली प्रकार कर सकते हैं।

(६) ध्वनि-विज्ञान से परिचित भाषावैज्ञानिक जब किसी भाषा के शब्दों का इतिहास खोजता है, तो वह उस शब्द की परिवर्तित या विकसित वर्तनी (हिज्जे) से भ्रम में नहीं पड़ता है। उदाहरणार्थ, आजकल हिन्दी में प्रयुक्त बूढ़ा, सियार, घी तथा कन्हाई शब्दों को देखकर वह यह जान लेता है कि वृद्ध, शृगाल, घृत तथा कृष्ण शब्दों की एक ही 'ऋ' ध्वनि, किस प्रकार विभिन्न ध्वनियों—क्रमशः ऊ, इ, ई, और अ में परिवर्तित हो गयी है। ऐसे उदाहरणों में भाषावैज्ञानिक सदैव शब्दों के उच्चारित रूप पर ध्यान देता है।

इस प्रकार ध्वनि-विज्ञान या ध्वनि-विचार भाषावैज्ञानिक के साथ ही साथ सामान्य पाठकों के लिए भी बड़ा उपयोगी है।

२. ध्वनि

'ध्वनि' शब्द का सामान्य अर्थ है, किन्हीं दो अथवा अधिक पदार्थों के परस्पर टकराने से उत्पन्न होने वाला शब्द। साथ ही, विभिन्न जीवों—पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों के कण्ठ से उत्पन्न शब्द को भी ध्वनि कहा जाता है। इस प्रकार 'ध्वनि' शब्द का सामान्य अर्थ वह सभी कुछ है, जिसे हम श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते हैं अर्थात् सुनते हैं। इसके अतिरिक्त, साहित्यशास्त्रियों ने व्यंग्यार्थ को भी ध्वनि कहा है।

भाषाविज्ञान में 'ध्वनि' का अर्थ

उपर्युक्त सामान्य अर्थ की अपेक्षा भाषाविज्ञान में 'ध्वनि' शब्द अपने विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाषाविज्ञान में ध्वनि से तात्पर्य हैं—'भाषण-ध्वनि', अर्थात् वे ध्वनियाँ, जिनका प्रयोग मनुष्यों द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए, वाणी द्वारा किया जाता है। जिस प्रकार भाषाविज्ञान में भाषा के अन्तर्गत मात्र व्यक्त वाक् को ही स्वीकार किया जाता है, अव्यक्त वाक् (पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों की अस्पष्ट वाणी) को नहीं, उसी प्रकार यहाँ ध्वनि के अन्तर्गत मात्र व्यक्त ध्वनियाँ ही गृहीत होती हैं, अव्यक्त ध्वनियाँ नहीं। इस प्रकार भाषाविज्ञान में 'ध्वनि' का अर्थ केवल उन ध्वनियों से हैं, जिनका प्रयोग मनुष्य बोलचाल में करता है और जिन्हें लिखित रूप में प्रकट करने के लिए विभिन्न लिपिचिह्नों का प्रयोग किया जाता हैं। इन लिपिचिह्नों को ही 'वर्ण' तथा इनके समूह को ही वर्णमाला कहा जाता है।

३. ध्वनिग्राम तथा संध्वनि

'ध्वनि-ग्राम' में प्रयुक्त 'ध्वनि' का अर्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। अर्थात् व्यक्तवाक् का छोटे से छोटा अवयव, 'ध्वनि' कहलाता है 'ग्राम' का अर्थ है – समूह। इस प्रकार 'ध्वनि-ग्राम' का अर्थ है—ध्वनियों का समूह। जिस प्रकार भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों के समूह को 'वर्णमाला' कहा जाता है, उसी प्रकार एक ही ध्वनि के अनेक किन्तु मिलते-जुलते रूपों के समूह का नाम 'ध्वनिग्राम' है। उच्चारण-प्रक्रिया का सूक्ष्म अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कोई भी मनुष्य, किसी भी एक ध्वनि का उच्चारण सदैव एक-सा नहीं कर सकता है। उदाहरण के लिए एक ही 'च्' ध्वनि या वर्ण का उच्चारण एक ही मनुष्य यदि दस बार करे, तो उन दस उच्चारणों में से कोई भी दो एक-से नहीं होंगे, न हो सकते हैं। सुनने में एक-से अनुभव होने पर भी इन दसों उच्चारणों का, एक-दूसरे से भिन्न होना पूर्णतया वैज्ञानिक तथ्य है। साथ ही, एक ही ध्वनि (या वर्ण) जब विभिन्न शब्दों में प्रयुक्त होती है, तो अपने पहले तथा बाद में आने वाली ध्वनियों के कारण भी उसका उच्चारण सदा एक-सा नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए 'चम्मच', 'चाची', 'चाँदनी' तथा 'चटनी' शब्दों में यद्यपि 'च्' ध्वनि का उच्चरित रूप एक-सा नहीं है, फिर भी सुनने वाले को कोई विशेष अन्तर यहाँ अनुभव नहीं होता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि यद्यपि 'च्' ध्वनि का प्रत्येक उच्चारित रूप परस्पर भिन्न है, फिर भी वह 'च्' ही सुना जाता है 'च' ही माना

१. विस्तार के लिए आगे 'ध्वनिग्राम (स्वनिम)—विज्ञान' शीर्षक देखें।

जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक ध्वनि (या वर्ण) वैज्ञानिक दृष्टि से यद्यपि सदैव परिवर्तनशील होती है, किन्तु व्यवहार में वह अपरिवर्तित ही मानी जाती है। यही कारण है कि 'च' ध्वनि के विभिन्न उच्चरित रूपों के लिए हम विभिन्न लिपि-चिह्नों का प्रयोग न करके केवल एक ही चिह्न 'च्' का प्रयोग करते हैं। कारण प्रत्येक उच्चरित रूप के लिए पहले तो चिह्न बनाना ही असम्भव है, दूसरे उससे भाषा का उद्देश्य भी पूरा नहीं हो पायेगा।

ऊपर एक ही 'च्' ध्वनि के जो विभिन्न उच्चरित रूप हैं; उनमें से प्रत्येक एक 'संध्वनि' है तथा उन सब विभिन्न उच्चरित रूपों की प्रतिनिधि जो एक 'च्' ध्वनि है, वह 'ध्वनिग्राम' है। ध्वनिग्राम में एक ही ध्वनि के जितने भी उच्चरित रूप अर्थात् संध्वनियाँ होती हैं, वे सब सम्मिलित रहती हैं, इसीलिए वह ध्वनियों का ग्राम (समूह) बनता है, जबकि 'संध्वनि' अपनी एक पृथक् तथा स्वतन्त्र इकाई होती है। ध्वनिग्राम की तुलना हम जाति से कर सकते हैं, तथा संध्वनि की व्यक्ति से। जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है, वैसे ही संध्वनि भी, किन्तु जैसे सभी व्यक्ति एक जाति में समाहित हो जाते हैं, वैसे ही सब संध्वनियाँ भी एक ध्वनिग्राम में समाहित हो जाती है।

इस प्रकार, प्रत्येक ध्वनि की अनेक संध्वनियाँ होती हैं तथा प्रत्येक ध्वनि की सब संध्वनियों का एक ध्वनिग्राम होता है।

ध्वनिग्राम	संध्वनि
त् (श्रव्य रूप)	'त्' के विभिन्न, किन्तु मिलते-जुलते उच्चरित रूप।
क् (")	'क्' " " " ।

इसी प्रकार सभी ध्वनियों को समझना चाहिए।

ध्वनिग्राम को 'ध्वनिश्रेणी' तथा संध्वनि को 'ध्वन्यंग' भी कहा जाता है। अंग्रेजी में ध्वनिग्राम को Phoneme तथा संध्वनि को Allophone कहते हैं, जैसाकि ब्लॉक और ट्रेगर[1] के निम्नलिखित कथनों से ज्ञात होता है—

"A Phoneme is a class of phonetically similar sounds" तथा "The individual sounds which compose a phoneme are it's **allophones."** —Outline of Linguistic Analysis.

४. ध्वनिगुण

भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों की सामान्य विशेषताएँ ही ध्वनियों के गुण कही जाती हैं। ध्वनियों का उच्चारण करते समय उन पर जो प्रभाव डाला जाता है, वह प्रभाव ही ध्वनियों की सामान्य विशेषता है, जिसे ध्वनियों के अध्ययन में ध्वनि-गुण कहा जाता है। अपने विशिष्ट गुण के कारण ही एक ध्वनि दूसरी ध्वनि से भिन्न हो जाती है। यह ध्वनि-गुण ५ प्रकार का है :—

१. मात्रा,

२. स्वराघात (सुर (स्वर) या संगीतात्मक स्वराघात)

१. Bloch, B., & Trager, G. L.

३. बलाघात (बल या बलात्मक स्वराघात),
४. रूपात्मक स्वराघात,
५. वृत्ति।

१. मात्रा—मात्रा संज्ञक ध्वनि-गुण का आधार काल है। किसी ध्वनि के उच्चारण में लगने वाला काल ही 'मात्रा' कहा जाता है। 'मात्रा' उच्चारण-काल की वह इकाई है, जिसके द्वारा किसी विशिष्ट ध्वनि के उच्चारण में लगने वाला काल नापा जाता है। इसके प्रमुख रूप से ३ भेद हैं—(क) ह्रस्व, (ख) दीर्घ, और (ग) प्लुत।

कुछ विद्वानों ने ह्रस्व के आधे काल (मात्रा) को (घ) ह्रस्वार्ध तथा ह्रस्व से अधिक और दीर्घ से कम काल या मात्रा को (ङ) दीर्घार्द्ध नाम दिया है।

(क) ह्रस्व—एक मात्रा-काल में उच्चरित ध्वनि; जैसे, क, म, ल आदि।

(ख) दीर्घ—दो मात्रा-काल में उच्चरित ध्वनि; जैसे, का, मा, ला आदि।

(ग) प्लुत—तीन मात्रा-काल में उच्चरित ध्वनि; जैसे, ओ३म् का ओ। किसी को दूर से पुकारने में भी प्रायः प्लुत का प्रयोग होता है; जैसे—हे कृष्ण ३!

(घ) *ह्रस्वार्ध—अर्द्ध मात्रा-काल में उच्चरित ध्वनि; जैसे, अल्प में ल्।

(ङ) दीर्घार्द्ध—एक मात्रा-काल से अधिक तथा दो मात्रा-काल से कम अर्थात् डेढ़ मात्राकाल में उच्चरित ध्वनि; जैसे, है, वैसा आदि में ऐ।

वस्तुतः, मात्राओं का उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत ही स्थूल है। प्रायः बोलचाल में इसका पालन नहीं हो पाता है। इसमें अनेक दोष हैं—

(१) एक मात्रा काल का कोई मान निश्चित नहीं है।

(२) बहुत-सी ध्वनियाँ सिद्धान्तः दीर्घ मानी जाती है, किन्तु उच्चारण में ह्रस्व रहती हैं।

(३) एक ही ध्वनि, शब्द में पृथक्-पृथक् (आदि, मध्य, अन्त) स्थानों पर प्रयुक्त होने से मात्रा की दृष्टि से बदल जाती है।

(४) एक भाषा की ध्वनि जब दूसरी भाषा में जाती है, तो उसकी मात्रा में भी अन्तर आ जाता है।

अतः, मात्रा-भेद (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि) वस्तुतः ध्वनि का सापेक्ष या तुलनात्मक गुण है।

---

*(i) पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है—"तस्यादित उदात्तमर्द्धह्रस्वम्"
—अष्टाध्यायी।१।२।३२॥

(ii) एक प्राचीन सूक्ति है—"अर्धमात्रालाघवं पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"। अर्थात् व्याकरण के रचयिता आधी मात्रा की बचत को पुत्रोत्सव के समान मानते हैं।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय ध्वनिविज्ञानी अर्द्धमात्रा से परिचित थे।

संक्षेप में, मात्रा संज्ञक ध्वनिगुण का व्यवहार भाषा में प्राचीनकाल से होता रहा है। प्रत्येक भाषा में इसका अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। हिन्दी भाषा में तो मात्रा परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है; जैसे सिचना (वृक्षों का स्वयं पानी लेना) तथा सींचना (दूसरे के द्वारा वृक्षों को पानी देना), मिलना-मिलाना आदि-आदि।

२. स्वराघात—स्वराघात का आधार स्वरयन्त्र में स्थित स्वरतन्त्रियों का कम्पन है तथा कम्पन का आधार स्वरतन्त्रियों का कम या अधिक तनाव या फैलाव है। स्वरतन्त्रियों के अधिक या कम तना हुआ होने पर फेफड़ों से आती हुई वायु से कम्पन अधिक या कम होता है तथा स्वर ऊँचा या नीचा हो जाता है। इसी आधार पर स्वराघात के ३ भेद हैं—

(क) उदात्त या उच्च या आरोही,
(ख) अनुदात्त या निम्न (नीचा) या अवरोही,
(ग) स्वरित या सम (न उच्च, न निम्न अर्थात् मध्यम)

वैदिक भाषा में स्वराघात का बहुत महत्त्व था। स्वराघात में परिवर्तन होने से 'इन्द्रशत्रु:'—जैसे शब्दों का अर्थ बिलकुल बदल जाता था। चीनी भाषा में भी यही विशेषता है। स्वराघातप्रधान भाषाओं में उच्चारण में संगीत का पुट रहता है। अनुभव होता है, जैसे वक्ता गा रहा है।

स्वराघात से ध्वनियों के ही नहीं, अपितु शब्दों तथा वाक्यों के भी अर्थों में परिवर्तन हो जाता है अर्थात् स्वर (सुर या लहजा, काकु) से एक ही वाक्य में प्रेम, घृणा, आश्चर्य, प्रश्न आदि अनेक भावों को व्यक्त किया जा सकता है।

३. बलाघात—बलाघात का आधार फेफड़ों से निकलने वाली वायु है। फेफड़ों से बाहर निकलने वाली श्वासवायु के आधार पर ध्वनियों के २ भेद होते हैं—

(क) सबल (Strong) ध्वनियाँ—जिनके उच्चारण में श्वासवायु अधिक मात्रा में तथा अधिक बलपूर्वक बाहर निकलती है; उदाहरणार्थ, अभ्यन्तर शब्द में भ्य।

(ख) निर्बल (Weak) ध्वनियाँ—जिनके उच्चारण में श्वासवायु कम मात्रा में तथा कम बलपूर्वक बाहर निकलती है; उदाहरणार्थ, अभ्यन्तर शब्द में अ।

(ग) समबल (Medium) ध्वनियाँ—जिनके उच्चारण में श्वासवायु मध्यम (न अधिक न कम) मात्रा में मध्यम बल सहित बाहर निकलती है; उदाहरणार्थ, अभ्यन्तर शब्द में तर।

बलाघात का प्रयोग प्रायः अघोष ध्वनियों में ही किया जाता है तथा भाषा के उच्चरित रूप में ही यह प्रयुक्त होता है, लिखित रूप में नहीं। कहीं-कहीं जहाँ ध्वनियों के उच्चारण को स्पष्ट करना आवश्यक होता है, वहाँ रोमन लिपि में बलाघातयुक्त ध्वनि पर चिह्न (') लगा दिया जाता है।

यदि एक ही शब्द में सबल, निर्बल और समबल ध्वनियाँ रहती हैं, तो उनमें सबल (बलाघातयुक्त) ध्वनि के कारण निर्बल ध्वनि का कालान्तर में लोप हो जाता

है; उदाहरणार्थ, अभ्यन्तर में भ्य ध्वनि सबल या बलाघातयुक्त है, जिसके कारण आगे चलकर यह शब्द भ्यन्तर > भीतर रह गया अर्थात् यहाँ अ निर्बल ध्वनि का बाद में लोप हो गया है।

बलाघातप्रधान भाषा के शुद्ध उच्चारण के लिये बलाघात पर ध्यान देना बहुत आवश्यक होता है। प्राचीन भाषाओं में अवेस्ता, लैटिन आदि तथा आधुनिक भाषाओं में अंग्रेजी, रूसी आदि भाषाएँ बलाघातप्रधान ही हैं। इनका उच्चारण करते समय वक्ता को बलाघात-युक्त ध्वनियों को बलपूर्वक झटकों के साथ बोलना पड़ता है तथा श्रोता को लगता है, जैसे हथौड़ों की ध्वनि सुनाई पड़ रही है।

बलाघातप्रधान भाषाओं में, यदि शब्द में बलाघात में परिवर्तन होता है तो शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। जैसे, रूसी भाषा में Za'mok = दुर्ग तथा Zamo'k = ताला। यहाँ पहले शब्द में a बलाघातयुक्त है तथा दूसरे में o है। इसी कारण दोनों शब्दों के अर्थों में भी अन्तर हो गया है।

हिन्दी भाषा में बलाघात का विशेष महत्त्व नहीं है; फिर भी शब्द की उपान्त (अन्तिम से पूर्व की) ध्वनि का उच्चारण हिन्दी में प्रायः बलाघातयुक्त होता है, जिसके कारण अन्तिम ध्वनि प्रायः अस्पष्ट सुनाई पड़ती है;[1] जैसे कमल में म का उच्चारण बलपूर्वक होने के कारण ल, ध्वनि अस्पष्ट सुनाई पड़ती है।

४. रूपात्मक स्वराघात—इस स्वराघात का आधार स्वरतन्त्रियों का रूप, बनावट या आकार है। स्वरतन्त्रियों के रूप-भेद से ही स्त्री-पुरुष तथा उनमें भी प्रत्येक व्यक्ति की ध्वनि में भेद हो जाता है। इसी भेद के आधार पर हम ध्वनि (आवाज) को सुनकर ही व्यक्ति को पहचान लेते हैं।

संक्षेप में, रूपात्मक स्वराघात के आधार पर एक व्यक्ति के स्वर में दूसरे व्यक्ति के स्वर से भिन्नता हो जाती है, किन्तु भाषाविज्ञान में ध्वनि-विचार की दृष्टि से विद्वान् रूपात्मक स्वराघात को कोई महत्त्व नहीं देते हैं।

५. वृत्ति—कुछ विद्वानों ने वृत्ति को भी ध्वनियों के गुणों में सम्मिलित किया है। हमारे प्राचीन शिक्षा-ग्रन्थों[2] में भी इसका उल्लेख मिलता है। वृत्ति का आधार उच्चारण में आपेक्षिक क्षिप्रता से है। वृत्ति के ३ भेद हैं—(क) द्रुत, (ख) मध्यम तथा (ग) विलम्बित।

(क) द्रुत—स्वयं भाषण, पाठ या अभ्यास में द्रुत वृत्ति अपनायी जाती है। द्रुत वृत्ति में ध्वनियों का उच्चारण अधिक क्षिप्रता से किया जाता है।

---

१. दे० देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका, १९६६, पृ० २११

२. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥
—पाणिनीय शिक्षा (२२)

(ख) मध्यम—किसी दूसरे सामान्य व्यक्ति से वार्तालाप में मध्यम वृत्ति उचित मानी जाती है। मध्यम वृत्ति में ध्वनियों का उच्चारण न अधिक क्षिप्रता से किया जाता है और न कम क्षिप्रता से।

(ग) विलम्बित—यह वृत्ति अध्यापकों, शिक्षकों के लिए आवश्यक मानी जाती है, क्योंकि शिष्यों को समझाने, सिखाने में इसका उपयोग उचित रहता है। विलम्बित वृत्ति में ध्वनियों का उच्चारण अपेक्षाकृत कम क्षिप्रता से किया जाता है।

ध्वनि-गुणों की उपयोगिता या महत्त्व

उपर्युक्त ध्वनि-गुणों का सम्बन्ध भाषा-ध्वनियों के उच्चारण से है। अतः किसी भी भाषा के शुद्ध उच्चारण को सीखने के लिए ध्वनि-गुणों का ज्ञान तथा परिचय आवश्यक है, जिससे भाषा-विशेष को सीखने में हम उसकी ध्वनियों के गुणों पर आवश्यक ध्यान दे सकें। विदेशी भाषा को बोलते समय ध्वनि-गुणों का अभ्यास न होने से उच्चारण तो भ्रष्ट हो ही जाता है, साथ में अर्थ का भी अनर्थ हो जाता है। भारत के ध्वनि-विदों ने भी इनके महत्त्व को स्वीकार किया था—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

—पस्पशाह्निक, महाभाष्य।

अर्थात् स्वर या वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध शब्द वक्ता के अभिप्राय को व्यक्त नहीं करता, साथ ही वह वक्ता को हानि भी पहुँचा देता है; जैसे, 'इन्द्रशत्रुः' शब्द ने स्वर के दोष से यजमान को हानि पहुँचाई थी।

५. ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया

प्रायः, हम अनुभव करते है कि किसी सुन्दर पदार्थ (विषय या वस्तु) को देखकर अथवा सुनकर अकस्मात् हमारे मुख से "वाह, वाह" शब्द निकल पड़ता है, या उस वस्तु का नाम उच्चारित हो जाता है। "वाह वाह" हो या वस्तु का नाम हो, वह है 'ध्वनि' ही। यह ध्वनि किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसके सम्बन्ध में महान् वैयाकरण 'पाणिनि' का मत है कि—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयते स्वरम्।
× × ×
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते, तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥

—पाणिनीय शिक्षा, ६-९॥

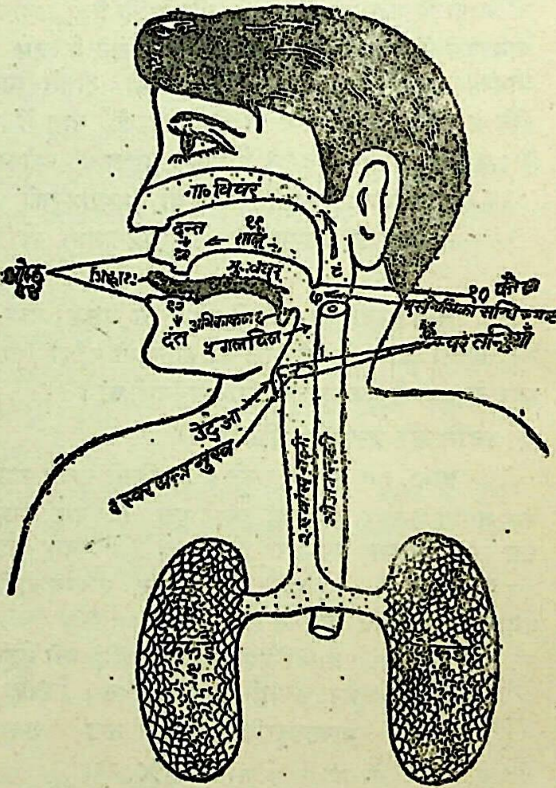
अर्थात् (वक्ता मनुष्य का) आत्मा (चेतनतत्त्व), बुद्धि (विवेकतत्त्व) के साथ संयुक्त होकर जिन पदार्थों (अर्थात् अर्थों) का साक्षात्कार करता है, उनकी अभिव्यक्ति की इच्छा से (विवक्षया) वह मन को उकसाता है, (तब) मन शारीरिक शक्ति को, तथा शारीरिक शक्ति वायु (प्राण) को प्रेरित करती है। तत्पश्चात् वायु (श्वास) उर

में गतिशील होकर मन्द्र (सामान्य) स्वर (ध्वनि) को उत्पन्न करता है तथा वह वायु ऊपर उठा हुआ तथा मूर्धा में टकराया हुआ मुखविवर में पहुँचकर (उन) वर्णों को उत्पन्न करता है, जिन्हें पाँच प्रकार का कहा गया है।

इस प्रकार पाणिनीय शिक्षा के अनुसार ध्वनि की उत्पत्ति—आत्मा, बुद्धि मन, प्राणवायु या श्वास, उर (फेफड़े, श्वासनालिका तथा स्वरतन्त्रियाँ), मूर्धा तथा वक्त्र (मुखविवर) आदि से होती है। इनमें से आत्मा, बुद्धि और मन को छोड़कर शेष सभी वाग्यन्त्र या उच्चारणावयव के अन्तर्गत हैं।

६. वाग्यन्त्र या उच्चारणोपयोगी शरीरावयव

१. फेफड़े,
२. श्वासनली
३. स्वरयन्त्रमुख
४. स्वरतन्त्रियाँ
५. गलबिल
६. अभिकाकल
७. मुखनासिका-संधिस्थल
८. नासिकाविवर
९. मुंखविवर
१०. कौआ (काग)
११. तालु
१२. दन्त
१३. जिह्वा
१४. ओष्ठ



ध्वनि की उत्पत्ति के लिये श्वास सबसे प्रमुख है। पाणिनीय शिक्षा में इसी को 'मारुत' कहा गया है। श्वास ही फेफड़ों में उत्पन्न होकर श्वासनलिका से होकर कण्ठपिटक में स्वरतन्त्रियों, मुखविवर तथा नासिकाविवर से निकलता हुआ ध्वनि को उत्पन्न करता है। मुखविवंर में जिह्वा, कोमल तालु, मूर्धा, कठोर तालु, वर्स्व, दन्त, ओष्ठ तथा नासिका आदि के सहयोग से ध्वनि विभिन्न वर्णों का रूप धारण करती है। इस दृष्टि से सभी उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों को हम प्रथमतः पाँच भागों में बाँट सकते हैं—

(१) फेफड़े ।

(२) श्वासनालिका तथा कण्ठपिटक (टेंटुआ)।

(३) गलबिल ।

(४) मुखविवर (आस्य) (अर्थात् ओष्ठ, दन्त, वर्त्स्व, (कठोर) तालु, मूर्धा, कोमलतालु (काग) तथा जिह्वा ।)

(५) मुखविवर और नासिकाविवर का सन्धिस्थल तथा नासिका ।

उपर्युक्त उच्चारणावयवों का परिचय इस प्रकार है—

(१) फेफड़े—इन्हें धौंकनी-जैसा समझना चाहिए । जब ये फैलते हैं, तो नासिका या मुख द्वारा वायु को खींचकर अपने में भर लेते हैं तथा जब सिकुड़ते हैं, तो वायु को बाहर निकाल देते हैं । यह क्रिया श्वास-क्रिया कहलाती है । श्वासक्रिया में काम आने वाली वायु ही सभी प्रकार की ध्वनियों का मूल कारण है । बिना श्वास के कोई भी ध्वनि उच्चरित नहीं हो सकती । इस श्वास या वायु को हम ध्वनियों को बनाने वाला 'कच्चा माल' कह सकते हैं । यद्यपि, प्रायः सभी ध्वनियाँ श्वास को बाहर निकालते समय उत्पन्न होती हैं, किन्तु 'क्लिक' ध्वनियाँ, जैसे—"सी-सी (सीत्कार)" श्वास को भीतर ले जाते समय ही उत्पन्न होती हैं ।[1]

(२) श्वासनालिका तथा कण्ठपिटक—फेफड़ों से उत्पन्न वायु को मुख या नासिका तक ले जाने वाली नाली को श्वासनालिका कहते हैं । मुख तथा नासिका की ओर श्वासनालिका का अन्तिम छोर "कण्ठपिटक" कहलाता है । सामान्य बोलचाल में इसे ही 'टेंटुआ' कहा जाता है । पुरुषों की गर्दन में यह बाहर की ओर एक त्रिकोण की आकृति में उभरा हुआ दिखलायी पड़ता है । एक छोटे पिटारे (सन्दूक) जैसा होने से ही यह 'कण्ठपिटक' कहलाता है । आकार में 'कण्ठपिटक' होने पर भी अपने काम के कारण यह 'स्वरयन्त्र' ही कहा जाता है, क्योंकि 'स्वरतन्त्रियाँ' इसी में होती हैं ।

जब श्वासनालिका से वायु मुख अथवा नासिका में पहुँचती है, उस समय मनुष्य के मौन रहने की दशा में तो वायु चुपचाप, बिना किसी प्रकार की ध्वनि उत्पन्न किये बाहर निकल जाती है, किन्तु मनुष्य के बोलने की दशा में वायु-स्वर-तन्त्रियों से टकराकर ध्वनि उत्पन्न करती हुई बाहर निकलती है ।

ये स्वरतन्त्रियाँ बहुत ही पतली खाल (चर्म) के, रबड़ के समान खिंचकर फैलने वाले तथा पुनः अपनी सामान्य (संकुचित) दशा को प्राप्त कर लेने वाले (स्थिति-स्थापक) ओष्ठ सदृश दो परदे हैं । स्वरतन्त्रियों के मध्य के अवकाश या छिद्र को 'काकल' कहते हैं । कुछ विद्वान् इसे कण्ठद्वार भी कहते हैं । सामान्य मौनदशा में ये दोनों परदे या स्वरतन्त्रियाँ श्वासनालिका के मुख या मुख काकल को इस प्रकार खुला रहने देती हैं, कि श्वास तो चलती रहती है, किन्तु ध्वनि उत्पन्न नहीं होती है । इसके विपरीत जब मनुष्य का मन बोलने की इच्छा से शारीरिक दबाव उत्पन्न कर वायु को प्रेरित करता है, तब ये दोनों स्वरतन्त्रियाँ, श्वासनालिका के मुख को दोनों

१. दे० परिशिष्ट

ओर से इस प्रकार ढक लेती हैं, और तन जाती हैं कि वायु बिना इनसे टकराये बाहर नहीं निकल सकती। वायु के स्वरतन्त्रियों से इस प्रकार टकराने पर ही ध्वनि उत्पन्न होती है।

अघोष तथा सघोष—श्वास या वायु के स्वरतन्त्रियों से टकराने पर भी दो स्थितियाँ होती हैं—(१) जिसमें ध्वनि तो होती है. किन्तु यह ध्वनि घोष (गूँज) रहित होती है। ऐसी ध्वनि को ही 'श्वास' या 'अघोष' कहते हैं; जैसे क्, ख् आदि, वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण। (२) जिसमें ध्वनि के साथ-साथ घोष (गूँज) भी होता है; जिसे टेंटुए पर अँगुली रखकर कम्पन द्वारा या कानों को अँगुलियों से बन्द कर गूंज के द्वारा अनुभव किया जा सकता है। ऐसी ध्वनि को 'नाद', 'घोष' या 'सघोप' कहते हैं; जैसे ग्, घ्, ङ् आदि वर्गों के तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम वर्ण।

अल्पप्राण तथा महाप्राण—अघोष तथा सघोष ध्वनियों के उच्चारण में जहाँ वायु अथवा श्वास (प्राण) की प्रबलता कम (अल्प) रहती है, वे ध्वनियाँ अल्पप्राण कहलाती हैं; जैसे—अघोष क् तथा सघोष ग् आदि, वर्गों के प्रथम तथा तृतीय वर्ण। इसके विपरीत जहाँ वायु अथवा श्वास (प्राण) की प्रबलता अधिक (महा) रहती है, वे ध्वनियाँ महाप्राण कहलाती हैं; जैसे—अघोष ख् तथा सघोष घ् आदि, वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण और 'ह्' वर्ण।

कई अल्पप्राण ध्वनियों का उच्चारण एक ही श्वास में किया जा सकता है, किन्तु कई महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण एक ही श्वास में कठिन होता है।

(३) गलबिल (ग्रसनिका)—'काकल' के ऊपर तथा मुखविवर से पहले का भाग गलबिल कहलाता है। स्वरों के उच्चारण में इसका पर्याप्त महत्त्व माना जाता है।

(४) मुखविवर (आस्य)—इसके अन्तर्गत कई उच्चारणावयव आते हैं। इनका क्रमशः परिचय इस प्रकार है। मुख में सर्वप्रधान उच्चारणावयव जिह्वा है। अतः सर्वप्रथम उसी का परिचय दिया जा रहा है—

(i) जिह्वा—यह बहुत ही कोमल उच्चारणावयव है। अपनी कोमलता तथा लचकीलेपन के कारण जिह्वा (क) अनेकविध आकारों को धारण कर सकती है; जैसे—आ, इ तथा उ के उच्चारण में।

(ख) यह मुख में दन्त, तालु, मूर्धा आदि स्थानों का स्पर्श करके अन्दर से आती हुई वायु को क्षणभर के लिए रोककर स्पर्श या स्फोटक वर्णों को उत्पन्न कर सकती है; जैसे 'क' से लेकर 'म्' तक स्पर्श (कादयो मावसानाः स्पर्शाः)।

(ग) यह अन्दर से आती हुई वायु के मार्ग को मुखविवर में इतना संकरा कर सकती है, कि वायु को घर्षण करते हुए बाहर निकलना पड़े और इस प्रकार घर्षक वर्ण 'स्' 'ज़्' आदि का उच्चारण हो सके।

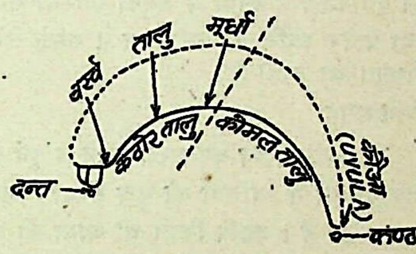
(घ) यह मुख में किसी भी स्थान का स्पर्श न करके, वायु को स्वतन्त्रतापूर्वक निकलने दे सकती है; जैसे, स्वर वर्णों के उच्चारण में।

(ii) ओष्ठ—जिह्वा की भाँति ही ओष्ठ भी आ, इ, उ आदि स्वरों के उच्चारण में विभिन्न आकार धारण करते हैं। प्, ब्, आदि के उच्चारण में ये स्पर्श द्वारा वायु का स्फोटन करते हैं तथा 'व्' के उच्चारण में ये वायु का घर्षण करते हैं।

(iii) दन्त—ऊपर के दन्तों के पृष्ठभाग के निचले भाग से, दन्तमूल से या दन्तमूल के थोड़ा ऊपर के खुरदरे स्थान से भी क्रमशः त्, र् तथा ɾ (अंग्रेजी) आदि अनेक ध्वनियों का उच्चारण होता है।

संस्कृत, हिन्दी के 'वन' जैसे वकारादि शब्दों में 'व्' का उच्चारण दाँतों तथा नीचे के ओष्ठ द्वारा वायु के घर्षण से ही होता है।

(iv) तालु—यह मुखविवर की ऊपरी छत है। इसकी कठोर तथा कोमल बनावट के आधार पर इसके दो भाग किये हैं—



(क) कठोर तालु यह तालु का दाँतों से लगा हुआ भाग है। अस्थिमय होने से यह कठोर होता है। इसके भी पुनः तीन भाग किये जाते हैं—

(अ) वर्त्स्य—दाँतों से लगा हुआ खुरदरा कठोर भाग इसे भ्रम से वर्त्स भी कहा जाता है।

(आ) तालु—यह केवल 'तालु' ही कहा जाता है।

(इ) मूर्धा—यह तालु का वह भाग है जो मुखविवर की छत का सबसे ऊँचा स्थान है।

(ख) कोमल तालु - यह तालु का कण्ठ की ओर का भाग है। इसमें अस्थि न होने से ही यह कोमल होता है। इसका कण्ठ की ओर का अन्तिम छोर एक छोटी-सी जिह्वा की आकृति में लटका हुआ होता है, जिसे 'काग' या 'कौआ' कहते हैं। यह बड़ी तेजी से हिलडुल सकता है। अन-अनुनासिक वर्णों का उच्चारण करते समय यह नासिका में वायु को जाने से रोकता है।

(५) नासिका—जब 'काग' या 'कौआ' नीचे लटका रहता है, और ओष्ठ बन्द रहते हैं, तब वायु नासिका द्वारा ही बाहर निकलती है। बोलते हुए यही वायु जब ध्वनियुक्त होती है तो इसे अनुस्वार (◌ं) कहते हैं। अनुस्वार का उच्चारण नासिका से ही होता है।

इसके अतिरिक्त मुख और नासिका के सन्धि-स्थल पर विभक्त हुई श्वास वायु जब मुखविवर और नासिकाविवर, दोनों से बाहर निकलती है, तो अनुनासिक, 'अँ' जैसी ध्वनियों का उच्चारण होता है। 'अँ' इस अनुनासिक ध्वनि को अ + ◌ं नहीं समझना चाहिये। वस्तुतः, अनुनासिक ध्वनियाँ, 'अ' आदि अन-अनुनासिक ध्वनियों से पृथक्, स्वतन्त्र ध्वनियाँ होती हैं।

इस प्रकार (१) फेफड़े, (२) कण्ठपिटक सहित श्वासनालिका, (३) गलबिल, (४) मुखविवर में जिह्वा, ओष्ठ, दन्त, वर्स्व, तालु, मूर्धा, कोमल तालु तथा (५) नासिका आदि सबको मिलाकर वाग्यन्त्र की रचना होती है। ये सभी उच्चारणोपयोगी अवयव हैं। इनमें से किसी एक में भी विकार उत्पन्न होने से ध्वनियों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता है।

७. ध्वनियों का वर्गीकरण

किसी भी भाषा के ध्वनि-समूह या वर्णमाला को स्पष्ट रूप से समझने-समझाने की दृष्टि से तथा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से वर्गीकृत किया जाता है। इस वर्गीकरण से भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों को पृथक्-पृथक् समझना सरल हो जाता है तथा प्रत्येक ध्वनि को स्पष्ट रूप से समझ लेने के कारण ध्वनियों के उच्चारण में स्पष्टता आ जाती है।

ध्वनि-समूह

ध्वनियों का वर्गीकरण करने से पूर्व यह निश्चय करना आवश्यक होता है कि भाषा-विशेष में ध्वनियों की कुल संख्या कितनी है। इसी को उस भाषा का ध्वनि-समूह कहते हैं। यद्यपि किसी भी भाषा की बोलचाल में प्रयुक्त सभी ध्वनियों के स्वरूप का निश्चय करना असम्भव ही होता है, तथापि प्रत्येक भाषा में कुछ स्पष्ट ध्वनियों का यथासम्भव संकलन किया जाता है तथा उनके लिए लिपिचिह्न निश्चित किये जाते हैं। इन्हीं चिह्नों को वर्ण कहा जाता है तथा इनका समूह ही उस भाषा का 'ध्वनि-समूह' या 'वर्णमाला' कही जाती है। उदाहरण के लिये 'वैदिक, संस्कृत तथा हिन्दी ध्वनि-समूह यहाँ दिये रहे हैं।

वैदिक ध्वनि-समूह

स्वर

मूलस्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ओ =११
संयुक्त स्वर—अइ (ऐ) अउ (औ) = २

व्यंजन

स्पर्श—क् ख् ग् घ् ङ् (कण्ठ्य)
च् छ् ज् झ् ञ् (तालव्य)
ट् ठ् ड् (ळ्) ढ् (ळ्ह्) ण् (मूर्धन्य)
त् थ् द् ध् न् (दन्त्य)
प् फ् ब् भ् म् (ओष्ठ्य) =२७
अन्तस्थ—य् (इँ) र् ल् व् (उँ) = ४
अघोष संघर्षी—श् ष् स् = ३
घोष ऊष्म—ह् = १
अघोष ऊष्म— : (विसर्ग) ᳵ (जिह्वामूलीय), ᳶ (उपध्मानीय) = ३
शुद्ध अनुनासिक— ं (अनुस्वार) = १

५२

संस्कृत ध्वनि समूह[1]

स्वर

मूलस्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ओ =११

संयुक्त स्वर—अइ (ऐ) अउ (औ) = २

व्यंजन

स्पर्श—क् ख् ग् घ् ङ् (कण्ठ्य)

च् छ् ज् झ् ञ् (तालव्य)

ट् ठ् ड् ढ् ण् (मूर्धन्य)

त् थ् द् ध् न् (दन्त्य)

प् फ् ब् भ् म् (ओष्ठ्य) =२५

अन्तस्थ—य् (इँ), र् ल् व् (उँ), = ४

अघोष संघर्षी—श् ष् स् = ३

घोष ऊष्म—ह् = १

अघोष ऊष्म— : (विसर्ग) = १

शुद्ध अनुनासिक—ं (अनुस्वार) = १

४८

हिन्दी ध्वनिसमूह[2]

स्वर

मूलस्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ = ८

संयुक्त स्वर—अइ (ऐ) अउ (औ) = २

व्यंजन

स्पर्श—क् (क़्) ख् ग् घ्

ट् ठ् ड् ढ्

त् थ् द् ध्

प् फ् ब् भ् =१७

संघर्षी—ह् ख़् ग़् श स् ज़् फ़् व़् = ८

स्पर्श-संघर्षी—च् छ् ज् झ् = ४

अनुनासिक—ङ् (ञ्) न् न्ह् म् म्ह् ण् = ७

पार्श्विक—ल् (ल्ह्) = २

लुण्ठित—र् (र्ह्) = २

उत्क्षिप्त—ड़् ढ़् = २

अन्तस्थ वा अर्धस्वर—य् व् = २

५४

---

१. वैदिक भाषा की ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय, ये ४ ध्वनियाँ संस्कृत में नहीं हैं।

२. हिन्दी ध्वनिसमूह में संस्कृत की अनेक ध्वनियों का लोप हो गया है तथा अनेक नयी विदेशी ध्वनियों का आभास हो गया है, तुलना करें।

ध्वनियों के वर्गीकरण का आधार

ध्वनियों का वर्गीकरण प्रमुख रूप से तीन तत्त्वों को दृष्टि में रखकर किया जाता है, जिन्हें हम ध्वनियों के वर्गीकरण का आधार मान सकते हैं। वे तीन तत्त्व हैं—

१. श्रवणीयता
२. उच्चारण–स्थान
३. उच्चारण–प्रयत्न

१. श्रवणीयता—श्रवणीयता से तात्पर्य है—ध्वनियों या वर्णों के सुने जाने की योग्यता या सामर्थ्य। प्रत्येक भाषा के ध्वनिसमूह में कुछ ध्वनियाँ तो ऐसी होती हैं, जो सुनने में दूसरी ध्वनियों की अपेक्षा अधिक परिस्फुट अर्थात् स्पष्ट होती हैं और उन्हें श्रोता अपेक्षाकृत अधिक दूर से भली-प्रकार सुन सकता है। इसके विपरीत कुछ ध्वनियाँ सुनने में, आपेक्षिक दृष्टि से कम परिस्फुट होती है तथा उन्हें श्रोता अधिक दूर से नहीं सुन सकता है। श्रवणीयता के आधार पर ध्वनियों के तीन वर्ग बनाये जाते हैं:—

(क) स्वर,
(ख) व्यंजन,[1] तथा
(ग) अन्तस्थ।

(क) स्वर

स्वर वे ध्वनियों या वर्ण हैं, जिनके उच्चारण में मुखविवर सदैव कम या अधिक खुला रहता है। अतः, बाहर निकलती हुई श्वासवायु मुख-विवर में कहीं भी अवरुद्ध हुए बिना ही बाहर निकल जाती है। स्वरों के उच्चारण में न तो जिह्वादि कोई उच्चारण-अवयव (करण) मुखविवर में किसी अन्य उच्चारण-अवयव (स्थान) को स्पर्श करता है और न ही कोई स्फोट होता है।[2] वस्तुतः, स्फोट तभी होता है, जब किसी ध्वनि के उच्चारण में श्वासवायु मुखविवर में क्षणभर रुककर पुनः झटके से बाहर निकलती है। यह स्थिति ठीक वैसी ही होती है, जैसे कागज के किसी खाली लिफाफे में हवा भर कर, फिर उसे फोड़ दिया जाय। यही ध्वनि स्फोट कहलाती है। स्फोट का शाब्दिक अर्थ ही 'फूटना' या 'फटना' है।

---

१. स्वर तथा व्यञ्जन की परिभाषा (महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार)— "स्वयं राजन्ते स्वरा अन्वग् भवति व्यञ्जनम्" अर्थात् स्वर स्वतन्त्र रूप से शोभित होते हैं तथा व्यञ्जन उनका अनुसरण करते हैं।

२. डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार—"स्वर ऐसी सघोष आवाज को कहते हैं, जिसके उच्चारण में वायु के प्रवाह की गति मुख में बिना किसी रुकावट के होती है, और किसी प्रकार का, सुनने में आने वाला मौखिक अवयवों का घर्षण नहीं होता है।"

—तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तृतीय सं०, पृ० १७३;

स्वरों की कुछ विशेषताएँ

१. सभी स्वर सघोष होते हैं, अर्थात् स्वरों के उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में अपेक्षाकृत अधिक कम्पन होता है।

२. स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर में जिह्वा विभिन्न आकारों को धारण करके श्वासवायु की निकलने की स्थिति में अन्तर कर देती है तथा ऊपर या नीचे होकर मुख-विवर को कम या अधिक खुला हुआ कर देती है।

३. जिह्वा या ओष्ठ कहीं भी स्पर्श नहीं करते।

४. स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है।

५. स्वरों को अपेक्षाकृत अधिक दूर तक सुना जा सकता है।

६. व्यञ्जनों के विना भी स्वरों का उच्चारण सरलता से किया जा सकता है। "स्वयं राजन्ते स्वराः।"—महाभाष्य।

७. स्वराघात वहन करने की क्षमता केवल स्वरों में होती है; व्यञ्जनों में नहीं।

८. स्वर व्यञ्जनों से मिलकर अक्षर बना सकते हैं।

उपर्युक्त सभी विशेषताओं को "आसिलोग्रॉफ" नामक ध्वनि परीक्षण-यन्त्र से स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है।

(ख) व्यञ्जन

श्रवणीयता के आधार पर ध्वनियों का दूसरा वर्ग व्यञ्जन कहलाता है। व्यञ्जन वे ध्वनियां हैं, जिनके उच्चारण में स्वरयन्त्र से बाहर निकलती हुई श्वास वायु मुख-नासिका के सन्धिस्थल या मुख-विवर में कहीं न कहीं अवरुद्ध होकर या संघर्षित होकर मुख या नासिका से बाहर निकलती है। व्यञ्जनों के उच्चारण में जिह्वा आदि (करण) तालु आदि (स्थानों) का स्पर्श करते हैं तथा स्फोट होता है। यही कारण है कि व्यञ्जनों को सामान्यतया स्पर्श तथा स्फोट ध्वनियाँ भी कहा जाता है।

व्यञ्जनों की विशेषताएँ :—

(१) व्यञ्जनों का स्वरों के बिना उच्चारण कठिन होता है—"अन्वग् भवति व्यञ्जनम्"—महाभाष्य। अर्थात् व्यञ्जन स्वरों का अनुसरण करते हैं।

(२) व्यञ्जनों के उच्चारण में मुख-विवर में श्वासवायु कहीं न कहीं अवरुद्ध होती है या संघर्ष करती है।

(३) व्यञ्जनों का उच्चारण देर तक नहीं किया जा सकता है।

(४) व्यञ्जन सुनने में अधिक परिस्फुट नहीं होते हैं, अतः दूर तक नहीं सुने जा सकते हैं।

(५) व्यञ्जन स्वराघात वहन नहीं कर सकते हैं।

(६) व्यञ्जन अक्षर नहीं बना सकते।

अन्तःस्थ

श्रवणीयता के आधार पर ध्वनियों का तीसरा वर्ग अन्तःस्थ कहलाता है। कभी-कभी किसी कम परिस्फुट स्वर के बाद अपेक्षाकृत अधिक परिस्फुट स्वर आ जाने से, पहला स्वर बहुत ही ह्रस्व उच्चरित होता है। इस प्रकार उच्चरित स्वर अन्तःस्थ कहलाते हैं और व्यवहार में उनका वर्गीकरण अन्तःस्थ वर्ग में ही होता है; उदाहरणार्थ—य् व्।

अन्तःस्थों की विशेषताएँ

अन्तःस्थों के उच्चारण में जिह्वा (करण) उच्चारण स्थान को पूर्णतया स्पर्श न करके, उसके समीप तक पहुँचती है और इस प्रकार पूर्ण स्पर्श न होने से इन्हें स्पर्श नहीं कहा जा सकता है। साथ ही, इसमें स्वरों की विशेषताओं का भी अभाव है—(i) अन्तःस्थ, स्वरों के समान दूर से नहीं सुने जा सकते, (ii) स्वराघात वहन नहीं करते तथा (iii) ये अक्षर-रचना में भी असमर्थ हैं। अतः, इन्हें स्वर भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार अन्तःस्थ स्वरों तथा व्यञ्जनों की मध्यवर्ती ध्वनियाँ हैं।

२. उच्चारण स्थान के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण

उच्चारण स्थान—फेफड़ों से उत्पन्न होकर श्वास-नालिका से प्रवाहित होती हुई प्राणवायु वाग्यन्त्र में, जिस स्थान पर रुककर या संकीर्ण होकर ध्वनि बनती है, वाग्यन्त्र का वह अवयव (स्थान) उस ध्वनि का स्थान कहा जाता है।*

हिन्दी-संस्कृत में प्रयुक्त ध्वनियों की दृष्टि से, उच्चारणोपयोगी अवयवों में से निम्नलिखित अवयव, स्थान का कार्य करते हैं:—

(१) काकल (उर), (२) जिह्वामूल, (३) कण्ठ या कोमल तालु, (४) नासिका, (५) कण्ठ तथा तालु, (६) कण्ठ तथा ओष्ठ, (७) मूर्धा, (८) (कठोर) तालु, (९) वर्त्स्व, (१०) दन्त, (११) दन्त तथा ओष्ठ, (१२) दोनों ओष्ठ।

उपर्युक्त स्थानों से जिन ध्वनियों का उच्चारण होता है, उन्हें क्रमशः—(१) काकल्य (उरस्य), (२) जिह्वामूलीय, (३) कण्ठ्य या कोमलतालव्य, (४) नासिक्य, कण्ठ-तालव्य, (६) कण्ठोष्ठ्य, (७) मूर्धन्य, (८) तालव्य, (९) वर्त्स्व्य, (१०) दन्त्य, (११) दन्तोष्ठ्य तथा (१२) द्वयोष्ठ्य कहते हैं।

उपर्युक्त स्थान तथा उनसे उच्चरित ध्वनियों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

(१) काकल्य ध्वनियाँ (Glottal)—उच्चारणावयवों के परिचय से ज्ञात होता है कि कण्ठपिटक अथवा स्वरयन्त्र में दो लचीली स्वरतन्त्रियाँ होती हैं। श्वासनालिका से प्रवाहित वायु इन्हीं स्वरतन्त्रियों के मध्य से होकर जब निकलती है, तब सामान्य ध्वनि उत्पन्न होती है। इन्हीं स्वरतन्त्रियों के मध्य स्थिर वायुमार्ग 'काकल' (Glottis)

*वाग्यन्त्र के जिस अवयव द्वारा गतिशील होकर, स्थान तक पहुँच कर वायु को रोका जाता है, वाग्यन्त्र का वह अवयव 'करण' कहलाता है। उदाहरणार्थ, 'त्' ध्वनि के उच्चारण में जिह्वा (का अग्रभाग) ऊपरी दन्तपंक्ति के पीछे पहुँचकर (अर्थात् दन्त-पंक्ति के पृष्ठभाग को स्पर्श करके) श्वाससायु को रोकता है। अतः, 'त्' ध्वनि का स्थान 'दन्त' तथा उसमें प्रयुक्त जिह्वा उस 'त्' ध्वनि का 'करण' है।

कहलाता है। इस प्रकार 'काकल' स्थान से उच्चरित-ध्वनि ही 'काकल्य' कहलाती है। उदाहरणार्थ—विसर्ग (:) तथा ह्। कुछ विद्वान् इन ध्वनियों का स्थान 'उर' मानते हैं तथा इन्हें 'उरस्य' ध्वनियाँ कहते हैं।

(२) जिह्वामूलीय (Uvular)—जिह्वा जहाँ से प्रारम्भ होती है, उसका मूल-स्थान जिह्वामूल कहलाता है। जब अलिजिह्वा या काग (कौआ) जिह्वामूल का स्पर्श करता हुआ श्वासवायु का निरोध करता है, तब जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें जिह्वामूलीय कहते हैं; उदाहरणाथ, हिन्दी में स्वीकृत अरबी में प्रयुक्त क़, ख़, ग़ आदि।

वैदिक भाषा में क् तथा ख् से पूर्व, अर्धविसर्ग-सदृश उच्चरित ध्वनि (यथा प्रातःकाल—प्रातक्काल) को जिह्वामूलीय कहा जाता है तथा उसे इस प्रकार लिखा जाता है—ᳵक, ᳵख। (ᳵक, ᳵख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशौ जिह्वामूलीयौ—सिद्धान्तकौमुदी)।

(३) कण्ठ्य या कोमलतालव्य (Guttural or Velar)—मुखविवर में अलिजिह्वा (काग या कौआ) तथा मूर्धा के मध्यभाग को, भारत के प्राचीन शिक्षाकारों ने कण्ठ (दे० तुलनात्मक भाषाशास्त्र, प्र० सं०, पृ० १७१) तथा आधुनिक विद्वानों ने कोमल तालु माना है। इस स्थान से उच्चरित ध्वनियाँ कण्ठ्य या कोमलतालव्य कहलाती हैं। कण्ठ्य ध्वनियाँ भी तीन प्रकार की हैं :—

(i) कण्ठ के साथ जिह्वापश्च के सहयोग से उत्पन्न—क्, ख्, ग्, घ्।

(ii) कण्ठ के साथ अलिजिह्वा (काग) तथा नासिका के सहयोग से उत्पन्न—ङ् तथा सभी अनुनासिक स्वर (अँ, आँ आदि)।

(iii) केवल कण्ठ से उत्पन्न—अ तथा आ।

(४) नासिक्य (Nasal)—नासिका, श्वासक्रिया का प्रमुख अवयव है। नासिका से उच्चरित ध्वनियाँ ही नासिक्य कही जाती हैं। नासिक्य ध्वनि के उच्चारण के समय ओठ मुखविवर को बन्द कर देते हैं तथा सम्पूर्ण श्वासवायु नासिका से ही बाहर निकलती है; उदाहरण के लिए संस्कृत की अनुस्वार (ं) ध्वनि नासिक्य ही है (नासिकाऽनुस्वारस्य—सिद्धान्तकौमुदी)।*

---

*वस्तुतः नासिक्य ध्वनि अनुस्वार (ं) तथा अनुनासिक ध्वनि अँ आदि पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ हैं। भ्रम से इन्हें हिन्दी-भाषा में एक ही समान ध्वनि मान लिया जाता है। इन दोनों ध्वनियों का मुख्य भेद इस प्रकार है:—

१. नासिक्य ध्वनि अनुस्वार (ं) केवल नासिका से से उच्चरित होती है, किन्तु अनुनासिक ध्वनियाँ-अँ, आँ, ईं आदि या ञ् म् ङ् ण् न्, मुख तथा नासिका दोनों से उच्चरित होती हैं।

२. नासिक्य ध्वनि अनुस्वार (ं) एक स्वतन्त्र (पृथक्) ध्वनि है, जो कि स्वर के पश्चात् (अनु+स्वर) उच्चरित होने से अनुस्वार कहलाती है। अनुनासिक पृथक् ध्वनि नहीं है; उदाहरणार्थ—'अँ' यह एक ही ध्वनि है, अ+ँ इस प्रकार दो ध्वनियाँ नहीं हैं, जबकि 'अं' यहाँ पर अ+(ं) पृथक्-पृथक् दो ध्वनियाँ हैं, अर्थात् यहाँ पर 'अ' का उच्चारण पहले तथा अनुस्वार (ं) का उच्चारण बाद में किया जाना चाहिए।

(५) **कण्ठ-तालव्य**—तालु से तात्पर्य यहाँ कठोर तालु से है। अतः, कण्ठ तथा कठोर तालु से जिन ध्वनियों का उच्चारण होता है, वे कण्ठ-तालव्य कहलाती हैं। ये ध्वनियाँ कण्ठ से उत्पन्न होती हैं तथा तालु (कठोर) के समीप जिह्वा (अग्र) के जाने से इनमें कुछ विशेषता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ—ए, ऐ (एदैतोः कण्ठतालुः–सिद्धान्तकौमुदी)।

(६) **कण्ठोष्ठ्य**—कण्ठ तथा ओष्ठों के सहयोग से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, वे कण्ठ-ओष्ठ्य कहलाती हैं। कण्ठ-तालव्य ध्वनियों की भाँति ही, ये ध्वनियाँ उत्पन्न तो कण्ठ में ही होती हैं, किन्तु ओष्ठों द्वारा श्वास वायु को एक विशिष्ट रूप प्राप्त होने के कारण ये कण्ठोष्ठ्य कही जाती हैं। उदाहरणार्थ—ओ, औ (ओदौतोः कण्ठोष्ठ्यम्—सिद्धान्तकौमुदी)।

(७) **मूर्धन्य (Cerebral)**—मुखविवर की ऊपरी छत के मध्य जो सबसे ऊँचा स्थान है, वह मूर्धा कहा जाता है। मूर्धन्य ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक (जिह्वाग्र) या जिह्वा की नोक का पिछला भाग (जिह्वोपाग्र) उलटकर मुखविवर में मूर्धा स्थान को स्पर्श करता है। संस्कृत में ट्, ठ्, ड्, ढ् (टवर्ग ध्वनियाँ) तथा ऋ, र् तथा ष् मूर्धन्य ध्वनियाँ मानी जाती हैं। (ऋटुरषाणाँ मूर्धा–सिद्धान्तकौमुदी)।

हिन्दी की ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ड़्, तथा ढ़् ध्वनियाँ मूर्धन्य मानी जाती हैं, किन्तु आजकल इनका उच्चारण मूर्धा से न होकर लगभग कठोर तालु से ही होता है।[1]

(८) **तालव्य (Palatal)**—तालु से तात्पर्य यहाँ कठोर तालु से है। अतः जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वाग्र (कठोर) तालु का स्पर्श करता है, वे ध्वनियाँ तालव्य कहलाती हैं। संस्कृत में इ, ई, चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्), य् तथा श् ध्वनियाँ तालव्य मानी गयी हैं।

हिन्दी में भी इ, ई, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, य् तथा श् तालव्य ध्वनियाँ मानी गयी हैं, किन्तु आजकल चवर्ग ध्वनियों का उच्चारण लगभग वर्स्व (ऊपरी दन्त पंक्ति के पीछे मसूड़ों के समीप का भाग) से होता है।

(९) **वर्स्व्य—(Alveolar)**—मुखविवर में ऊपरी दान्तों के भीतरी मसूड़ों का ऊपर का खुरदरा भाग वर्स्व* कहा जाता है। (कुछ विद्वान इस उच्चारणावयव को 'वर्त्स' तथा इससे उच्चरित ध्वनियों को वर्त्स्य कहते हैं।) वर्स्व्य ध्वनियों का उच्चारण वर्स्व स्थान पर जिह्वाग्र के स्पर्श द्वारा होता है। उदाहरण के लिए न्, न्ह्, ल्, ल्ह्, र्ह्, स्, ज् ध्वनियाँ वर्स्व्य मानी जाती हैं।

(१०) **दन्त्य (Dental)**—'दन्त' से तात्पर्य यहाँ केवल ऊपर के दाँतों से ही है। अतः, ऊपर के दाँतों के पिछले भाग को जिह्वाग्र से स्पर्श करने पर जिन ध्वनियों

(*'वर्स्व' शब्द ही भ्रम के कारण अनेक विद्वानों द्वारा 'वर्त्स' कहा जाता है। (दे० डॉ० मंगलदेव शास्त्री का तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तृ० संस्करण, पृ० १७१ की पाद टिप्पणी)

१. दे० डॉ० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान १९६१, पृ० ३२२।

का उच्चारण होता है, वे दन्त्य कहलाती हैं। संस्कृत में (त्, थ्, द्, ध् न्) तथा हिन्दी में त्, थ, द, ध ध्वनियाँ दन्त्य मानी जाती हैं। इसी प्रकार लृ, स् ध्वनियाँ भी दन्त्य ही मानी गयी हैं। (लृतुलसानां दन्ताः—सिद्धान्तकौमुदी)

(११) दन्तोष्ठ्य (Dento-labial) – यहाँ दन्त से तात्पर्य ऊपरी दाँत तथा ओष्ठ से तात्पर्य निचले ओष्ठ से है। दन्तोष्ठ्य ध्वनियों का उच्चारण ऊपरी दन्तपंक्ति के साथ निचले ओष्ठ के सहयोग से होता है। अर्थात् नीचे का ओष्ठ जब ऊपर की दन्तपंक्ति का स्पर्श करता है, तब इन ध्वनियों का उच्चारण होता है; जैसे व् तथा फ।

(१२) द्वयोष्ठ्य (Bi-labial)—जिन ध्वनियों के उच्चारण में नीचे का ओष्ठ ऊपर के ओष्ठ को स्पर्श करता है, अर्थात् जिन ध्वनियों का उच्चारण दोनों ओष्ठों से होता है वे द्वयोष्ठ्य कहलाती हैं। उदाहरण उ, ऊ,—(स्वर), उपध्मानीय (प ≍ फ् इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो उपध्मानीयो सिद्धान्तकौमुदी अर्थात् वैदिक भाषा में प् तथा फ् से पूर्व जो आधे विसर्ग सदृश ध्वनि (यथा अन्तःपुर—अन्तप्पुर) होती है, वह उपध्मानीय कहलाती है) तथा पवर्ग (प्, फ्, ब्, भ्) द्वयोष्ठ्य ध्वनियाँ हैं।

३. उच्चारण प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण

ध्वनियों के उच्चारण में उच्चारणावयवों का जो व्यापार होता है, वह 'प्रयत्न' कहलाता है। भिन्न-भिन्न ध्वनियों के उच्चारण में यह प्रयत्न भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरण के लिये स्वरतन्त्रियों का परस्पर (कम या अधिक) मिलना या न मिलना, जिह्वा द्वारा ध्वनियों के उत्पत्ति-स्थान का स्पर्श करना या न करना या कुछ कम स्पर्श करना, तथा श्वास वायु के वेग का कम (अल्प) या अधिक (महा) होना, यह सब प्रयत्न ही माना जाता है। इसी प्रकार श्वासवायु का मुखविवर या नासिकाविवर से निकलना भी प्रयत्न के ही अन्तर्गत माना जाता है।[1]

यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—

(क) आभ्यन्तर प्रयत्न।

(ख) बाह्य प्रयत्न।

(क) आभ्यन्तर प्रयत्न—वह प्रयत्न, जो (मुखविवर (आस्य) में होता है, आभ्यन्तर प्रयत्न कहलाता है। जिह्वा द्वारा मुखविवर में ध्वनियों के स्थान का स्पर्श इसी प्रयत्न में आता है। आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर स्वरों का प्रयत्न केवल विवृत ही होता है। क्योंकि स्वरों के उच्चारण में, मुखविवर में, जिह्वा कहीं भी स्पर्श नहीं

---

१. डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने प्रयत्न को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"भिन्न भिन्न वर्णों के उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों का व्यापार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। स्वर-तन्त्रियों के परस्पर सन्निकर्ष की तथा जिह्वा आदि का जो वर्णस्थानों के साथ सन्निकर्ष होता है, उसकी कमी या अधिकता के लिये संस्कृत-वर्ण-विज्ञानियों में 'प्रयत्न' शब्द प्रसिद्ध है। वायु के वेग की प्रबलता या दुर्बलता से जो वर्णों के स्वरूप में भेद होता है, वह भी प्रयत्न भेद से समझा जाता है।"

—तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तृ० सं०, पृ० १७५.

करती है तथा व्यञ्जन ध्वनियों के (१) स्पर्श, (२) संघर्षी, (३) स्पर्श-संघर्षी' (४) अनुनासिक, (५) पार्श्विक, (६) लुण्ठित, (७) उत्क्षिप्त तथा (८) अर्द्धस्वर नाम से आठ भेद होते हैं।

(ख) बाह्य प्रयत्न—वह प्रयत्न, जो मुखविवर (आस्य) से बाहर अर्थात् नासिका, स्वरतन्त्रियों तथा उर (या श्वासनालिका) में होता है, बाह्य प्रयत्न कहलाता है। बाह्य प्रयत्न के आधार पर स्वर ध्वनियों के (१) संवृत, (२) अर्द्धसंवृत, (३) अर्द्धविवृत तथा (४) विवृत ये चार भेद होते हैं। इसी प्रकार व्यंजनों के अघोष (श्वास) तथा सघोष (नाद) भेद भी बाह्य प्रयत्न के आधार पर ही किये जाते हैं। व्यञ्जनों के अल्पप्राण तथा महाप्राण भेद उर अर्थात् श्वासवायु के वेग सम्बन्धी बाह्य प्रयत्न के आधार पर किये जाते हैं।

(क) आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण

आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार संस्कृत-हिन्दी-ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है।

(१) स्पर्श—स्पर्श ध्वनियों में मुखविवर में एक उच्चारणावयव (करण—जैसे जिह्वा, ओष्ठ आदि) दूसरे उच्चारणावयव (स्थान—जैसे तालु, कण्ठ, ओष्ठ दन्त आदि) का स्पर्श करता है। इस स्पर्श के कारण ही ये ध्वनियाँ स्पर्श कही जाती हैं। साथ ही, इन ध्वनियों में दो उच्चारणावयवों के स्पर्श करने से पहले वायु क्षण भर को अवरुद्ध हो जाती है, तथा पुनः स्फोट-सहित बाहर निकलती है, अतः, ये ध्वनियाँ स्फोट भी कही जाती हैं। हिन्दी में—

(क़्) क् ख ग् घ् (कवर्ग)
त् थ् द् ध् (तवर्ग)
ट् ठ् ड् ढ् (टवर्ग)
प् फ् ब् भ् (पवर्ग)

ये ध्वनियाँ स्पर्श मानी जाती हैं। संस्कृत में (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग की सभी २५ ध्वनियाँ स्पर्श मानी गयी हैं (कादयो मावसानाः स्पर्शाः— सिद्धान्त-कौमुदी।

(२) संघर्षी – संघर्षी ध्वनियों में मुखविवर संकरा हो जाने के कारण वायु संघर्ष करती हुई बाहर निकलती है। स्पर्श ध्वनियों की भाँति इनके उच्चारण में न तो स्पर्श होता है और न ही स्फोट। केवल जिह्वादि करण के उच्चारण-स्थान के समीप आ जाने से वायु का मार्ग सकरा हो जाता है, जिसके कारण श्वासवायु बिना संघर्ष बाहर नहीं निकल पाता है। हिन्दी की स्, श्, ष्, ह्, विसर्ग (:), व् तथा विदेशी शब्दों में प्रयुक्त ख़्, ग़्, ज़्, फ़् आदि ध्वनियाँ संघर्षी ही हैं। कुछ विद्वान् 'ष्' की गणना हिन्दी ध्वनियों में नहीं करते हैं।

(३) स्पर्श-संघर्षी—जैसा इनके नाम से स्पष्ट है, इनमें स्पर्श तथा संघर्ष दोनों विशेषताएँ मिलती हैं। इनका आरम्भ स्पर्श से होता है तथा बाद में वायु संघर्ष करती हुई मुख से बाहर निकलती है। हिन्दी की च्, छ्, ज्, झ् (चवर्ग) के चार ध्वनियाँ स्पश-संघर्षी हैं।

(४) अनुनासिक—जिन ध्वनियों का उच्चारण करते समय श्वासवायु मुख विवर के साथ-साथ नासिकाविवर से भी निकले, वे ध्वनियाँ अनुनासिक कही जाती है।[१] हिन्दी की ङ्, ञ्, न्, म्, ँ, न्ह तथा म्ह् ध्वनियाँ अनुनासिक हैं।

संस्कृत में ञ् म्; ङ्, ण्, न् ध्वनियाँ अनुनासिक मानी जाती हैं। साथ ही सभी स्वर अनुनासिक भी होते हैं।

(५) पार्श्विक—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा ऊपर के मसूड़ों का स्पर्श करती हुई श्वासवायु का मार्ग इस प्रकार बना देती है कि श्वासवायु जिह्वा के दोनों पार्श्वों से होकर बाहर निकलती है, वे ध्वनियाँ पार्श्विक कहलाती हैं। स्पष्ट ही, श्वासवायु के जिह्वा के पार्श्व से निकलने के कारण ही इसका नाम पार्श्विक पड़ा है। हिन्दी की 'ल्' तथा 'ल्ह्' ध्वनियाँ पार्श्विक हैं।

(६) लुण्ठित – जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा वेलन की भाँति गोल होकर जिह्वानोक से वर्त्स्व (ऊपर के मसूड़ों से थोड़ा ऊपर कठोर तालु की ओर) को जल्दी-जल्दी कई बार स्पर्श करती हुई श्वासवायु को निकलने देती है, वे ध्वनियाँ लुण्ठित कही जाती हैं। हिन्दी र्, र् ह् ध्वनियाँ ऐसी ही हैं।

(७) उत्क्षिप्त—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक शीघ्रता से उठकर उच्चारण स्थान् (तालु या मूर्धा) का स्पर्श करती है, वे ध्वनियाँ उत्क्षिप्त कहलाती हैं। हिन्दी की ड़् या ढ़् ध्वनियाँ उत्क्षिप्त (मूर्धन्य) हैं।

अन्तःस्थ या अर्द्धस्वर– कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनकी गणना तो व्यंजनों में होती है किन्तु इनका प्रयोग स्वरों के स्थान पर भी किया जा सकता है। व्यंजनों की भाँति इनमें स्पर्श तो होता है, किन्तु वह बहुत कम होता है तथा वायु स्वरों की भाँति ही बिना किसी सघर्ष के बाहर निकल जाती है। हिन्दी की य्, व् ध्वनियाँ अर्द्ध-स्वर ही हैं।

(ख) बाह्य प्रयत्नों के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण

मुखविवर (आस्य) से बाहर अर्थात् स्वरतन्त्री, उर (काकल या वक्ष) में होने वाला प्रयत्न बाह्य प्रयत्न होता है। नासिका भी मुखविवर की सीमा (ओठों से काग तक) से बाहर ही होती है, अतः नासिका से होने वाले प्रयत्न को भी कुछ विद्वान् बाह्य प्रयत्न के अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रकार बाह्य प्रयत्न के ३ भेद हैं :—

(I) स्वरतन्त्रीय (स्वरतन्त्री-सम्बन्धी) बाह्य प्रयत्न,

(II) औरस्य (उर-सम्बन्धी) बाह्य प्रयत्न, तथा

---

१ 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'—अष्टाध्यायी १/१/८ अर्थात् मुख तथा नासिका से बोली गयी ध्वनियाँ अनुनासिक होती हैं।

(iii) नासिक्य (नासिका-सम्बन्धी) बाह्य प्रयत्न।

(i) स्वरतन्त्रीय बाह्य प्रयत्न—स्वरतन्त्रियाँ ध्वनियों में घोष उत्पन्न करती हैं। अतः, स्वरतन्त्रीय बाह्य प्रयत्न के आधार पर हिन्दी-संस्कृत ध्वनियों के दो भेद किये जाते हैं—

(क) अघोष (इन्हें श्वास भी कहा जाता है)।

(ख) सघोष (इन्हें घोष या नाद भी कहा जाता है)।

(क) अघोष—कण्ठपिटक या स्वरयन्त्र में दो स्वरतन्त्रियाँ स्थित हैं। जब ये स्वरतन्त्रियाँ श्वासनालिका से आती हुई श्वासवायु को अवरुद्ध नहीं करती तथा अपेक्षाकृत शिथिल अवस्था में रहती हुई अपने मध्य स्थित, श्वासवायु के मार्ग को खुला रहने देती हैं, तब जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, वे अघोष (या श्वास) कहलाती हैं। अघोष ध्वनियों के उच्चारण में वायु का मुख्य निरोध या घर्षण केवल मुखविवर में ही होता है। हिन्दी तथा संस्कृत की निम्नलिखित ध्वनियाँ अघोष मानी जाती हैं—

क्, ख्
च्, छ्
त्, थ्
ट्, ठ्
प्, फ्
श्, ष्, स्

} वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण और संघर्षी वर्ण

(ख) सघोष—कण्ठपिटक या स्वरयन्त्र में स्थित स्वरतन्त्रियाँ जब अपेक्षाकृत तनकर श्वासनालिका से आती हुई श्वसावायु को अवरुद्ध कर लेती है तथा श्वासवायु उसमें टकराकर, स्वरतन्त्रियों को, अघोष ध्वनियों की अपेक्षा अधिक कम्पित करती हुई बाहर निकलती है, तब जो ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, वे सघोष (या नाद) कहलाती है। सघोष ध्वनियों के उच्चारण में श्वासवायु का अवरोध, स्वरतन्त्रियों द्वारा होना अनिवार्य है। इसके बाद यदि सघोष ध्वनियों का स्वर हैं, तो मुखविवर में पुनः वायु का अवरोध नहीं होता, किन्तु यदि सघोष ध्वनियाँ स्पर्श (व्यंजन) हैं, तो उनके उच्चारण में श्वासवायु का दूसरी बार मुखविवर में भी निरोध होता है। श्वासवायु का यह दूसरा निरोध आभ्यन्तर प्रयत्न के अन्तर्गत आता है। हिन्दी तथा संस्कृत की निम्नलिखित ध्वनियाँ सघोष (या नाद) मानी जाती हैं—

सभी स्वर (अ, आ, इ, ई आदि)

ग्, घ्, ङ्
ज्, झ्, ञ्
ड्, (ड़्) ढ् (ढ़्) ण्
ब्, भ्, म्

} वर्गों के तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम वर्ण

य्, र्, ल्, व् तथा ह्

(ii) औरस्य बाह्य प्रयत्न—'उर' से तात्पर्य वक्ष (छाती) से हैं। उर में श्वासवायु कम (अल्प) या अधिक करने की क्षमता है। अतः उर-सम्बन्धी, औरस्य

बाह्य प्रयत्न के द्वारा ध्वनियों में अल्पप्राणता या महाप्राणता उत्पन्न की जाती है। प्राण से तात्पर्य यहाँ श्वासवायु से ही है। स्वरों, अर्द्धस्वरों तथा संघर्षी व्यञ्जनों का औरस्य बाह्य प्रयत्न से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। शेष व्यञ्जनों के, औरस्य बाह्य प्रयत्न के आधार पर, दो भेद किये जाते हैं—

(क) अल्पप्राण, तथा

(ख) महाप्राण।

(क) अल्पप्राण—वे ध्वनियाँ, जिनके उच्चारण में श्वासवायु का वेग कम (अल्प) रहता है, अल्पप्राण कहलाती हैं। हिन्दी तथा संस्कृत की निम्नलिखित ध्वनियाँ अल्पप्राण हैं—

क्, ग्, ङ्, ट्, ड्, ड़्, ण् च्, ज्, ञ्, त्, द्, न् प्, व्, म्, र्	=	पाँचों वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा पञ्चम वर्ण और ड़् तथा ऱ्।

(ख) महाप्राण—वे ध्वनियाँ, जिनके उच्चारण में श्वासवायु का वेग अधिक (महा) रहता है, महाप्राण कहलाती हैं। हिन्दी तथा संस्कृत की निम्नलिखित ध्वनियाँ महाप्राण हैं—

ख्, घ् फ्, भ् छ्, झ् ह्, : (विसर्ग) ठ्, ढ् (ढ़्) न्ह्, म्ह् थ्, ध् ल्ह्, ऱ्ह्	}	वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ वर्ण, ह्, : (विसर्ग), न्ह्, म्ह्, ल्ह्, तथा ऱ्ह्

(ः) नासिक्य बाह्य प्रयत्न—प्राचीन ध्वनिविदों ने नासिका को मुख (आस्य) से बाहर ही माना है। अतः, नासिका द्वारा किया गया प्रयत्न भी बाह्य प्रयत्न ही माना जाता है। नासिका द्वारा किये गये नासिक्य प्रयत्न से ध्वनियों में अनुनासिकता उत्पन्न होती है। नासिक्य प्रयत्न द्वारा भी ध्वनियों के दो भेद हो जाते हैं—

(क) अनुनासिक,

(ख) अननुनासिक या निरनुनासिक।

(क) अनुनासिक—जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वासवायु मुख के साथ-साथ नासिका से या केवल नासिका से बाहर निकलती है, वे ध्वनियाँ अनुनासिक कही जाती हैं। निम्न अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण में वायु नासिका के साथ-साथ मुख से भी निकलती है—

(i) ङ्, ञ्, ण्, न्, म् (ये हिन्दी तथा संस्कृत ध्वनियाँ नित्य अनुनासिक हैं।)

(ii) यँ, वँ, लँ (ये संस्कृत ध्वनियाँ विकल्प से अनुनासिक हैं।) किन्तु,

(iii) अनुस्वार (ं) ऐसी अनुनासिक ध्वनि है, जिसके उच्चारण में मुख-विवर ओठों द्वारा बन्द रहता है तथा सम्पूर्ण श्वासवायु नासिका से ही बाहर निकलती हैं। यह भी नित्य अनुनासिक ध्वनि है। साथ ही—

(iv) संस्कृत के सभी स्वर (अ, आ, इ, ई आदि) अनुनासिक भी माने जाते हैं और अननुनासिक भी। अर्थात् संस्कृत में जो ९ स्वर (अच्) हैं, अनुनासिक तथा अननुनासिक भेद से ९×२=१८ माने जाते हैं।

(ख) अननुनासिक या निरनुनासिक—जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वास-वायु पूर्णतया मुखविवर से ही बाहर निकलती है, वे ध्वनियाँ अननुनासिक या निरनुनासिक कही जाती हैं।

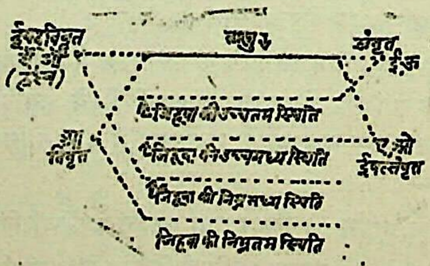
उपर्युक्त चार वर्गों की अनुनासिक ध्वनियों के अतिरिक्त शेष सभी संस्कृत-हिन्दी ध्वनियाँ अननुनासिक मानी जाती हैं।

केवल स्वरों का वर्गीकरण

स्वरों का वर्गीकरण निम्न पाँच आधारों पर किया जाता है—

(१) मात्रा के आधार पर—इस आधार पर स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन वर्ग बनाये जाते हैं। एक मात्राकाल तक उच्चरित स्वर ह्रस्व, जैसे—'अ'; दो मात्राकाल तक उच्चरित स्वर दीर्घ; जैसे—'आ' तथा तीन मात्राकाल तक उच्चरित स्वर प्लुत; जैसे—'आ३' कहलाता है। यह विशेषता केवल स्वरों में ही होती है; व्यञ्जनों में नहीं।

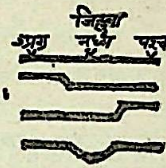
(२) मुखकुहर के खुलने के आधार पर—इस आधार पर स्वरों के चार वर्ग बनाये जाते हैं—(i) विवृत, (ii) ईषद् विवृत, (iii) ईषत् संवृत तथा (iv) संवृत। जिन स्वरों के उच्चारण में मुख अधिक से अधिक खुला रहता है, विवृत कहलाते हैं; जैसे—'आ'। जिन स्वरों के उच्चारण में मुख विवृत की अपेक्षा कुछ कम खुला रहता है, वे ईषद्विवृत कहलाते हैं; जैसे—एँ, ओँ। इसी प्रकार जिन स्वरों के उच्चारण में मुखकुहर अधिक से अधिक, किन्तु इतना कि उच्चारण हो सके, संकीर्ण रहता है, वे संवृत, कहलाते हैं जैसे—ई, ऊ तथा जिन स्वरों के उच्चारण में मुखकुहर कुछ कम संवृत रहता है, वे ईषत्संवृत कहलाते हैं, जैसे—ए, ओ। मुखकुहर की इन चार दशाओं तथा उनसे उच्चरित स्वरों को इस प्रकार समझा जा सकता है—



(३) जिह्वा की स्थिति के आधार पर—स्वरों के उच्चारण में जिह्वा का अग्र, मध्य या पश्च भाग थोड़ा-बहुत ऊँचा या नीचा हो जाता है। इसी आधार पर स्वरों को (i) अग्रस्वर; जैसे—इ, ई, ए (ii) मध्यस्वर जैसे—अ, तथा (iii) पश्चस्वर

जैसे—आ, उ, ऊ कहते हैं। कुछ स्वरों के उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग कुछ नीचा हो जाता हैं। जिह्वा की इन स्थितियों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

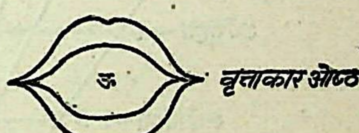
(i) जिह्वा की सामान्य स्थिति
(ii) जिह्वाग्र का ऊपर उठना
(iii) जिह्वापश्च का ऊपर उठना
(iv) जिह्वामध्य का नीचा होना



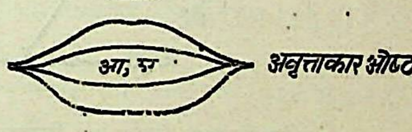
इस प्रकार हिन्दी-ध्वनियों में से 'इ' 'ई' तथा 'ए' अग्रस्वर; आ; उ, तथा 'ऊ' पश्चस्वर एवं 'अ' मध्यस्वर कहलाते हैं।

(४) ओष्ठों की स्थिति के आधार पर—दोनों ओष्ठों की स्थिति के आधार पर भी स्वरों का वर्गीकरण किया जाता है। कुछ स्वरों के उच्चारण में ओष्ठ वृत्ताकार स्थिति में रहते हैं तथा कुछ स्वरों के उच्चारण में ओष्ठ अपनी सामान्य दशा में ही बने रहते हैं। इन स्थितियों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

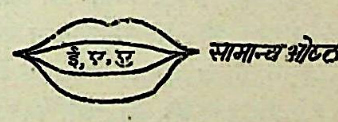
(i)



(ii)



(iii)



स्वरों में 'ऊ' वृत्ताकार स्वर है। 'आ' तथा 'ऐं' अवृत्ताकार स्वर है तथा 'इ' 'ए' 'ऐ' आदि स्वर, न वृत्ताकार और न अवृत्ताकार ही, अतः इनके उच्चारण में ओष्ठ प्रायः सामान्य स्थिति में ही रहते हैं।

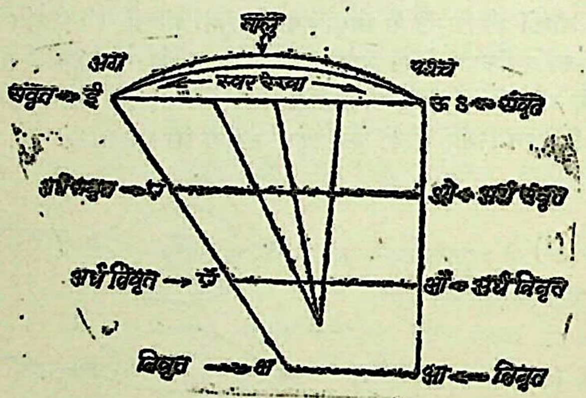
(५) अनुनासिकता के आधार पर--स्वरों के उच्चारण में जब श्वास पूर्णतया मुखविवर से ही बाहर निकलता है, तब सभी स्वर अननुनासिक या निरनुनासिक होते हैं, किन्तु जब श्वास का कुछ भाग मुखविवर से तथा कुछ भाग नासिकाविवर से बाहर निकलता है, तब सभी स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं; उदाहरणार्थ—अ, आ आदि रूप में सभी स्वर अननुनासिक हैं तथा अँ, आँ आदि रूप में सभी स्वर अनुनासिक हैं।

इस प्रकार स्वरों के उपर्युक्त प्रमुख वर्गीकरणों के अतिरिक्त, स्वरों के दृढ़ स्वर तथा कोमल स्वर आदि दूसरे कुछ गौण वर्गीकरण भी प्रचलित हैं।

मानस्वर (Cardinal vowel)

मानस्वर, आदर्शस्वर, मूलस्वर या आधारस्वर संख्या में कुल ८ है। ये काल्पनिक हैं। अतः, इन्हें किसी भी भाषा से सम्बद्ध नहीं समझना चाहिये। मानस्वरों की उच्चारण स्थिति को प्रदर्शित करने के लिये आज जिस 'स्वर-चतुर्भुज' नामक चित्र का प्रचलन है, वह अंग्रेज भाषावैज्ञानिक प्रोफेसर डैनियल जोन्स द्वारा बनाया गया था।

मानस्वरों का महत्त्व यह है कि इनके आधार पर विभिन्न भाषाओं के स्वरों की उच्चारण-स्थिति को ठीक-ठीक जाना जा सकता है। मानस्वरों को प्रदर्शित करने वाला प्रचलित चित्र इस प्रकार है—



उपर्युक्त चित्र में स्वरों को जिह्वा के अग्र-पश्च तथा मुखविवर के संवृत्त-विवृत्त होने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। आठ स्वरों में से चार स्वर अग्र है, जैसे—ई, ए, ऍ, अऽ इनका उच्चारण जिह्वा के अग्रभाग से होता है। चार स्वर पश्च है; जैसे ऊऽ, ओ, ओँ, आ, इनका उच्चारण जिह्वा के पश्चभाग से होता है। संवृत्त से तात्पर्य है—मुखविवर का अधिकतम संकरा होना, किन्तु इस सीमा तक कि जिह्वा का स्पर्श तालु से न होने पाये। इसी प्रकार विवृत से तात्पर्य है, मुख-विवर का अधिकतम खुला होना। संवृत्त के समीप अर्धसंवृत तथा विवृत के समीप अर्धविवृत स्थिति है।

इस प्रकार उपर्युक्त चित्र में स्वरों के उच्चारण की एक आदर्श स्थिति को प्रकट किया गया है, जिसके आधार पर थोड़ा इधर-उधर उच्चारण होने वाले स्वरों के उच्चारण की स्थिति को भी जाना जा सकता है।

ध्वनि विशेष के वर्गीकरण की रीति

ध्वनि-वर्गीकरण-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि किसी विशेष ध्वनि का वर्गीकरण करते समय निम्नलिखित चार प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है—

१. वह ध्वनि स्वर है; व्यंजन है अथवा अन्तःस्थ है ?

२. उस ध्वनि का उच्चारण-स्थान क्या है ?

३. उस ध्वनि का आभ्यन्तर प्रयत्न क्या है ?

४. उस ध्वनि का बाह्य प्रयत्न क्या है ?

इस प्रकार उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देकर, किसी भी ध्वनि का वर्गीकरण सहज ही किया जा सकता है।

संस्कृत-ध्वनि-समूह पर विशेष विचार

पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' के प्रारम्भ में १४ माहेश्वर सूत्रों में संस्कृत ध्वनि-समूह को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. अइउण्। २. ऋलृक्। ३. एओङ्। ४. ऐऔच्। ५. हयवरट्। ६. लण्। ७. ञमङणनम्। ८. झभञ्। ९. घढधष्। १०. जबगडदश्। ११. खफछठथचटतव्। १२. कपय्। १३. शषसर्। १४. हल्।

[नोट—इन सूत्रों के अन्तिम वर्ण ण्, क् आदि की गणना नहीं होती तथा ५ वें सूत्र हयवरट् के 'ह' से लेकर हल् के 'ह' तक सभी वर्णों में 'अ' स्वर केवल उच्चारण की सुविधा के लिये जुड़ा हुआ है।]

संस्कृत ध्वनि-समूह का पाणिनिकृत यह उपर्युक्त प्रस्तुतीकरण बहुत ही वैज्ञानिक है, उदाहरणार्थः—

(१) सूत्र १–४ तक सभी स्वरों का, ५–६ तक अन्तःस्थों का तथा ७–१४ तक सभी व्यञ्जनों का परिगणन किया गया है।

(२) पुनः स्वरों में भी पहले, सूत्र १–३ तक मूलस्वरों या समानाक्षरों का तथा सूत्र ४ में सन्ध्याक्षरों की गणना की गयी है।

(३) सूत्र ५–६ में ह के अतिरिक्त सभी अन्तःस्थ हैं, जो स्वरों के बाद तथा व्यञ्जनों से पूर्व रक्खे गये हैं।

(४) इसके उपरान्त सूत्र ७–१४ तक सभी व्यञ्जन हैं तथा उन्हें एक विशेष क्रम में गिनाया गया है।

सूत्र ७ में सभी आधुनिक व्यञ्जन हैं। सूत्र ८-९ में महाप्राण, घोष स्पर्श व्यञ्जन है तथा सूत्र १० में अल्पप्रमाण घोष स्पर्श व्यञ्जन है। इसी प्रकार सूत्र ११-१२ में पहले महाप्राण अघोष स्पर्श व्यञ्जन तथा बाद में अल्पप्रमाण अघोष स्पर्श व्यञ्जन हैं।

(५) सूत्र १३-१४ में अघोष ऊष्म या घर्ष-व्यञ्जन है। यहाँ श ष स के साथ ह भी अघोष ऊष्म ही है, क्योंकि महाप्राण ह पहले ही सूत्र ५ में रक्खा जा चुका है। यहाँ अघोष ऊष्म ह् ध्वनि, विसर्जनीय (:) जिह्वामूलीय (⌒क) तथा उपध्मानीय (⌒प) इन तीन ध्वनियों का प्रतिनिधित्व कर रही है।

संस्कृत-ध्वनि-समूह की प्रमुख विशेषतायें

उपर्युक्त संस्कृत-ध्वनि-समूह की कल्पना प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की ध्वनियों

के पूर्ण विवेचन के उपरान्त की गयी है। इसका आधार पूर्ण रूप से उच्चारित ध्वनियाँ ही हैं।

भारतवर्ष की प्राचीन तथा आधुनिक ब्राह्मी, खरोष्ठी तथा देवनागरी आदि लिपियों के लिपिचिह्नों की कल्पना भी उसी प्राचीन उच्चरित ध्वनिसमूह के आधार पर की गई है।

संक्षेप में, (१) उच्चरित आधार तथा (२) वैज्ञानिक क्रम, संस्कृत-ध्वनिसमूह की यह बहुत बड़ी विशेषताएँ है। (३) साथ ही, यहाँ ध्वनियों का नाम तथा उच्चारण एक ही है।

डॉ० मंगलदेश शास्त्री ने संस्कृत ध्वनि-समूह के वैज्ञानिक क्रम को निम्न कोष्ठक[1] में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है :—

स्वर		समानाक्षर	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ
		संध्यक्षर	ए ऐ ओ औ
व्यंजन	स्पर्श	कण्ठ्य	क ख ग घ ङ
		तालव्य	च छ ज झ ञ
		मूर्धन्य	ट ठ ड ढ ण
		दन्त्य	त थ द ध न
		ओष्ठ्य	प फ ब भ म
		अन्तःस्थ	य र ल व
	घर्षक	ऊष्म	श ष स ह

१. तुलनात्मक भाषाशास्त्र; सन् १९४८; पृ० १७६।

डॉ० भोलाशंकर व्यास ने संस्कृत की व्यञ्जन ध्वनियों के वर्गीकरण का मानचित्र इस प्रकार दिया है[1] :—

स्थान	स्पर्श				निरन्तर			
	अल्पप्राण		महाप्राण				अनुनासिक	
	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष
कण्ठ्य या कोमल तालुजन्य	क	ग	ख	घ	ह	ह	...	ङ
तालव्य	च	ज	छ	झ	श	य	...	ञ
प्रतिवेष्ठित या मूर्धन्य	ट	ड	ठ	ढ	ष	...	...	ण
दन्त्य	त	द	थ	थ	स	ल	...	न
द्वयोष्ठ्य	प	व	फ	भ	...	व	...	म
वर्त्स्य		...	...	...	...	र	...	[न]
दन्तोष्ठ्य	...	...	...	...	[फ] ~~प	[व्व]		

कुछ संस्कृत-ध्वनियों के प्राचीन उच्चारण में हुआ अन्तर

ध्यान से देखने पर संस्कृत की अनेक ध्वनियों के प्राचीन उच्चारण में आज कुछ भिन्नता आ गयी है; उदाहरणार्थ :—

१. प्राचीनकाल में 'अ' का उच्चारण विवृत था, किन्तु आजकल यह संवृत हो गया है।

२. संस्कृत 'ऋ' स्वर का उच्चारण आजकल 'रि' (र्+इ) स्वरयुक्त व्यञ्जन जैसा होता है। किन्तु 'पालि', 'प्राकृत' आदि में ऋ का परिवर्तन इ, उ, अ आदि स्वरों में होने से इसका स्वर होना सिद्ध होता है।

३. प्राचीन संध्यक्षर ए तथा ओ का उच्चारण भी आजकल संध्यक्षर-जैसा न होकर दीर्घ समानाक्षर-जैसा होता है। किन्तु, संस्कृत-व्याकरण में सन्धि-नियमों में 'ए' तथा 'ओ' के स्थान पर क्रमशः 'अय्' तथा 'अव्' होता है, जिससे इनका सन्ध्यक्षर होना प्रकट होता है। इसी प्रकार अ+इ तथा अ+उ के स्थान पर भी 'ए' तथा 'ओ' गुण-एकादेश होता है।

४. प्राचीन समय में टवर्ग का उच्चारण मूर्धन्य था, किन्तु आजकल कहीं मूर्धन्य होता है, तो कहीं वर्त्स्य।

१. देखिए—संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, ११२७, पृ० ९०।

इस प्रकार संस्कृत की अनेक ध्वनियों के उच्चारण में प्राचीनकाल की अपेक्षा आजकल बहुत अन्तर हो गया है।

८. ध्वनि-परिवर्तन

किसी भी भाषा के विकास पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसके प्राचीन तथा नवीन शब्दों में ध्वनि-सम्बन्धी अनेक परिवर्तन हो गये है। इन परिवर्तनों के भी अनेक रूप हैं—अर्थात् किन्हीं शब्दों में नई ध्वनियाँ आकर जुड़ गयी हैं, किन्हीं शब्दों में से कुछ ध्वनियाँ लुप्त हो गयी हैं, किन्हीं शब्दों में ध्वनियों के स्थान में परिवर्तन हो गया है। इसी प्रकार कहीं भिन्न ध्वनियाँ समान हो गयी हैं तो कहीं समान ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न ध्वनियों में परिवर्तित हो गयी हैं। अनेक स्थानों पर ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ तथा दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व घोष के स्थान पर अघोष तथा अघोष के स्थान पर घोष, अल्पप्राण के स्थान पर महाप्राण तथा महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण ध्वनियाँ भी मिलती हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक रूपों में भी ध्वनियों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

ध्वनियों में परिवर्तन की यह प्रवृत्ति यद्यपि प्राचीनकाल से ही भारतीय भाषाविदों के विचार का विषय-रही है और उन्होंने ध्वनि-परिवर्तन की —

(१) वर्णागम, (२) वर्ण-विपर्यय, (३) वर्ण-विकार और (४) वर्णनाश, इन ४ दिशाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है;[१] तथापि जैसाकि कहा जाता है, आधुनिक भाषा

---

१. किसी प्राचीन आचार्य ने 'निरुक्त' की परिभाषा करते हुए प्रकारान्तर से ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

अर्थात् निरुक्त के पाँच भेद हैं—(१) वर्णागम, (२) वर्णविपर्यय, (३) वर्ण-विकार, (४) वर्णनाश, (५) धातु का भिन्न अर्थ से योग।

इसी आधार पर 'यास्क' के 'निरुक्त' अध्याय २, पाठ १ में भी ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं का संकेत निम्न प्रकार से हुआ है—

"अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति—स्त सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति-गत्वा, गतमिति। अथाप्युपधालोपो भवति जग्मतुर्जग्मुरिति। अथाप्युपधाविकारो भवति—राजा, दण्डीति। अथापि वर्णलोपो भवति—तत्त्वा-यामीति। अथापि द्विवर्णलोपस्तृच इति। अथाप्यादिविपर्ययो भवति—ज्योतिर्घनो बिन्दुर्वाट्य इति। अथाप्यन्तविपर्ययो भवति—स्तोका रज्जुः सिकतास्तर्क्विति। अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति—ओघो, मेघो नाधो गाधो वधूर्मध्विति। अथापि वर्णोपजनः—आस्थद्, द्वारो भरूजेति।

'पतञ्जलि' ने भी अपने 'महाभाष्य' में ध्वनि-परिवर्तन की उपर्युक्त दिशाओं का संकेत निम्न वार्तिक में किया है:—

"वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात्।"

—अध्याय १; पाद ६; आह्निक ३; वार्तिक ७६

विज्ञानियों ने भाषा का बहुत ही सूक्ष्म तथा विस्तृत अध्ययन किया है। परिणामस्वरूप; आजकल ध्वनिपरिवर्तन-सम्बन्धी अनेक दिशाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमें से प्रमुख दिशाओं के नाम इस प्रकार हैं :—

१. आगम, २. लोप, ३. विपर्यय, ४. समीकरण, ५. विषमीकरण, ६. मात्रा-भेद, ७. सघोषीकरण, ८. अघोषीकरण, ९. महाप्राणीकरण, १०. अल्पप्राणीकरण; ११. ऊष्मीकरण, १२. अनुनासिकीकरण, १३. सन्धि तथा १४. भ्रामक व्युत्पत्ति।

अब, इनका क्रमशः सोदाहरण स्पष्टीकरण किया जायेगा।

ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएँ

ध्वनि-परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं को संक्षेप में, इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) आगम (Augment)—किसी शब्द में पहले से अविद्यमान नवीन ध्वनि (स्वर, व्यञ्जन या अक्षर) का आकर आदि, मध्य या अन्त में जुड़ जाना आगम कहलाता है; उदाहरणार्थ—संस्कृत स्त्री शब्द का प्राकृत रूप-इत्थी। यहाँ 'इ' इस स्वर ध्वनि का आदि में आगम हुआ है। अतः, यह आदिस्वरागम (prothesis) कहलाता है। इसी प्रकार स्वर्ण से सुवर्ण, पृथ्वी से पृथिवी मध्यस्वरागम (Anaptyxis) या स्वरभक्ति के उदाहरण हैं। ओष्ठ से होठ, शाप से श्राप, वधू से वधूटी आदि; व्यंजन के, क्रमशः आदि, मध्य, अन्त—आगम के उदाहरण हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह आगम केवल स्वर का, केवल व्यञ्जन का या केवल अक्षर (स्वर तथा व्यञ्जन) का होने के कारण तीन प्रकार का हो सकता है तथा यह शब्द के आदि; मध्य या अन्त में आने के कारण, पुनः तीन प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार आगम के ३ × ३ = ९ भेद सहज ही बन जाते हैं।

(२) लोप (Elision)—आगम के विपरीत किसी शब्द के आदि, मध्य या अन्त में पहले से विद्यमान ध्वनि (स्वर, व्यञ्जन या अक्षर) का बाद में लुप्त हो जाना लोप कहलाता है; उदाहरणार्थ—स्नेह से नेह। यहाँ 'स्' व्यञ्जन ध्वनि का लोप हो गया है। अन्य उदाहरणों में अभ्यन्तर से भीतर आदिस्वरलोप (Aphesis), जनता से जन्ता मध्यस्वर लोप (Syncope), दुग्ध से दूध, भगिनी से बहिन, सूची से सुई तथा भाण्डागार से भाण्डार (भण्डार) देखे जा सकते हैं।

आगम की भाँति ही लोप में भी ध्वनि केवल स्वर, केवल व्यञ्जन या केवल अक्षर हो सकती है तथा उसका भी आदि, मध्य या अन्त, कहीं से भी लोप हो सकने के कारण, ३ × ३ = ९ भेद हो जाते हैं।

भाष्यम् - वर्णव्यत्यये—कृतेस्तर्कः कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः × × अपायो लोपः—हतः घ्नन्ति, घ्नन्तु; अघ्नन्; उपजन आगमः—लविता, लवितुम् ; × × विकार आदेशः—घातयति घातकः।"

इस प्रकार भारत के प्राचीन आचार्यों—निरुक्तकारों तथा वैयाकरणों ने ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं का सोदाहरण प्रस्तुत किया है।

साथ ही, एक ही शब्द में एक समान दो ध्वनियों के आ जाने से; उनमें से एक ध्वनि का लोप होने पर, समाक्षरलोप, इसका १० वाँ भेद भी बन जाता है; जैसे—नाक + कटा > नकटा, आदि-आदि ।

(३) विपर्यय—(Metathesis)—जब किसी शब्द में न तो ध्वनि का आगम होता है, न लोप, अपितु शब्द में विद्यमान ध्वनियाँ परस्पर स्थान बदल लेती हैं, तो वह विपर्यय कहलाता है: उदाहरणार्थ—मतलब से मतबल। अन्य उदाहरण हैं—ससुर से सुसर, पागल से पगला, खन से नख (नाखून), लखनऊ से नखलऊ आदि ।

विपर्यय भी स्वर, व्यञ्जन एवं अक्षर भेद से तथा पार्श्ववर्ती (पास-पास की ध्वनियाँ में), दूरवर्ती (दूर-दूर की ध्वनियों में) होने से अनेक भेदों वाला होता है।

शब्दांश-विपर्यय—उपर्युक्त ध्वनि-विपर्यय के साथ ही भाषा में शब्दांशविपर्यय के उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे—ओखल-मूसल के स्थान पर मूखल-ओसल या दाल-चावल के स्थान पर चाल-दावल। अंग्रेजी में इसे 'स्पूनरिज्म'* (Spoonerism) कहते हैं।

(४) समीकरण (Assimilation)—जब शब्द में साथ-साथ विद्यमान दो भिन्न-भिन्न ध्वनियों में से एक अधिक शक्तिशाली होने के कारण दूसरी को अपने समान बना लेती है, तब यह दो ध्वनियों का समीकरण कहा जाता है; उदाहरण के लिए संस्कृत अग्नि से प्राकृत अग्गि (आग) तथा वल्कल से वक्कल आदि ।

यह समीकरण भी स्वर तथा व्यञ्जन की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। साथ ही जहाँ पूर्व ध्वनि बाद वाली ध्वनि को समान बनाती है, वहाँ समीकरण पूर्वगामी कहा जाता है, तथा जहाँ बाद वाली ध्वनि पूर्व ध्वनि को समान बना लेती है; वहाँ समीकरण पश्चगामी कहा जाता है। इस प्रकार समीकरण भी स्वर तथा व्यञ्जन और पुरोगामी तथा पश्चगामी २ × २ = ४ भेद वाला होता है।

---

*डॉ० स्पूनर (Spooner) की भाषा में शब्दांश-विपर्यय की यह प्रवृत्ति अधिक होने के कारण ही इसे यह नाम दिया गया है। एक-दो रोचक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है।

एक बार डॉ० स्पूनर को कुली की आवश्यकता पड़ी। सामान था—"Two bags and a rug". किन्तु डॉ० ने शीघ्रता में कहा—"Two rags and a bug" अर्थात् समान में "दो थैले और एक कम्बल" के स्थान पर "दो चिथड़े और एक खटमल" हो गया।

दूसरी बार डॉ० स्पूनर ने, अपने एक विद्यार्थी पर नाराज होते हुए कहा—"You have tasted a whole worm." जबकि वे कहना चाहते थे—"You have wasted a whole term" अर्थात् "तुमने पूरा सत्र (term) व्यर्थ गंवा दिया" के स्थान पर डॉ० स्पूनर के कथन का अर्थ निकला "तुमने एक पूरा कीड़ा चख (खा) लिया है।

इस प्रकार डॉ० स्पूनर अनेक बार उपहास का पात्र बन जाते थे।

(५) विषमीकरण (Dissimilation)—समीकरण के विपरीत जब शब्द में साथ-साथ आनेवाली दो समान ध्वनियाँ, असमान (विषम) हो जाती हैं, तब वह ध्वनियों का विषमीकरण कहा जाता है; उदाहरणार्थ—कंकण से कंगन।

स्वर-व्यञ्जन तथा पुरोगामी-पश्चगामी—भेद से यह भी २×२=४ प्रकार का होता है।[1]

(६) मात्राभेद – जब शब्द में विद्यमान कोई ह्रस्व मात्रा, वाद में दीर्घ या दीर्घ मात्रा, वाद में ह्रस्व हो जाती है, जैसे—संस्कृत पुत्र से हिन्दी पूत, (दीर्घीकरण) (Lengthening) आसाढ़ से असाढ़ (Delengthening) ह्रस्वीकरण आदि।

(७) सघोषीकरण (Vocalization)—जब शब्द में विद्यमान कोई अघोष ध्वनि वाद में सघोष हो जाय; जैसे—शकुन से सगुन या शाक से साग आदि।

(८) अघोषीकरण (Devocalization)—सघोषीकरण के विपरीत जब शब्द में पहले से विद्यमान कोई सघोष ध्वनि अघोष ध्वनि हो जाय; फारसी मदद से हिन्दी मदत।

(९) महाप्राणीकरण (Aspiration)—जब शब्द में विद्यमान कोई अल्पप्राण ध्वनि वाद में महाप्राण हो जाय; जैसे संस्कृत गृह से घर, परशु से फरसा; वेष से भेष आदि।

(१०) अल्पप्राणीकरण (De-aspir ation)—महाप्राणीकरण के विपरीत जब शब्द में विद्यमान कोई महाप्राण ध्वनि, वाद में अल्पप्राण हो जाय; जैसे—सिन्धु से हिन्दु भगिनी से बहिन आदि।

(११) ऊष्मीकरण (Assibilation)—जो ध्वनि पहले ऊष्म नहीं थी, किन्तु बाद में ऊष्म हो जाय; जैसे—केन्तुम् वर्ग की भाषाओं की क् ध्वनि शतम् वर्ग की भाषाओं में श् या स् (ऊष्म) हो गयी है।

(१२) अनुनासिकीकरण (Nasalization)—जो ध्वनियाँ पहले अनुनासिक न हों, किन्तु वाद में अनुनासिक हो जायें; जैसे—संस्कृत सर्प से साँप, श्वास से साँस; अश्रु से आँसू आदि।

(१३) सन्धि (Euphonic Combination)—जब दो ध्वनियाँ परस्पर मिल जाती हैं अर्थात् सन्धि रहित ध्वनियें में सन्धि हो जाती हैं; जैसे अउतर (अवतार) से औतार, वइन (वचन) से बैन आदि। इसी प्रकार जब दो शब्द एक-दूसरे के बाद उच्चरित होते है, तो प्रथम शब्द की अन्तिम तथा द्वितीय शब्द की आदिम ध्वनियों में भी सन्धि हो जाती है। जैसे रमा+ईशः=रमेशः आदि।

सन्धि के तीन भेद हैं—

(i) अच् (स्वर) सन्धि।

---

१. कुछ विद्वान् समीकरण को सावर्ण्य तथा विषमीकरण को असावर्ण्य कहना उचित मानते हैं।

(ii) हल् (व्यञ्जन) सन्धि ।

(iii) विसर्ग सन्धि ।

साथ ही, (i) लोप, (ii) आगम, (iii) विकार तथा (iv) प्रकृतिभाव रूप में सन्धि की चार दिशाएँ हैं ।[1]

(१४) भ्रामक व्युत्पत्ति (Popular Etymology)—अज्ञानवश किसी अन्य भाषा के शब्दों को अपनी भाषा में मनमाने ढङ्ग से गढ़ते हुए, उनमें अपनी भाषा की ध्वनियों का प्रयोग करना; जैसे—अरबी-इन्तकाल से हिन्दी-अन्तकाल, अंग्रेजी-लाइब्रेरी से हिन्दी-रायबरेली, अंग्रेजी-लार्ड से हिन्दी-लाट आदि ।

संक्षेप में, ध्वनि-परिवर्तन की उपर्युक्त चौदह दिशाएँ हैं । यद्यपि इनकी संख्या निश्चित करना कठिन है, तथापि अभी तक भाषाविज्ञानियों ने इन्हीं दिशाओं का उल्लेख प्रायः किया है ।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं को प्रस्तुत करते हुए ध्वनियों में घटित अनेक परिवर्तन या विकार सम्मुख आते हैं । ये परिवर्तन वस्तुतः, कार्य का परिणाम हैं, जिन के मूल में निश्चय ही कुछ कारणों का होना अनिवार्य है । जैसाकि पहले भी लिखा जा चुका है, व्यक्ति अनुकरण द्वारा भाषा को सीखता है । किन्तु संसार में कोई भी दो व्यक्ति नितान्त एक-जैसे नहीं होते, न ही उनके संस्कार, शिक्षा तथा परिवेश आदि एक-समान होते है । भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का उच्चारण-अवयव तथा श्रवण-अवयव भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं । एक व्यक्ति का मानसिक तथा बौद्धिक स्तर दूसरे व्यक्ति से भिन्न होता है । संक्षेप में, भाषा के अनुकरण द्वारा सीखे जाने के कारण यह अनिवार्य ही है कि उसमें ध्वनि-सम्बन्धी अनेक परिवर्तन घटित हो जायें । इस प्रकार जब ध्वनियों में परिवर्तन होंगे तो उन परिवर्तनों के कारण भी, निश्चय ही होंगे ।

ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी सभी कारणों का ज्ञान अभी तक नहीं सका है तथा परिस्थितियों के अनुसार ज्ञात कारणों की संख्या में भी परिवर्तन होता रहता है । अतः अभी तक ज्ञात ध्वनि-परिवर्तन के मुख्य-मुख्य कारणों का उल्लेख ही यहाँ पर्याप्त है ।

सामान्यतया ध्वनि-परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं, जिन्हें आभ्यन्तर तथा बाह्य दो वर्गों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है:—

आभ्यन्तर कारण—अर्थात् व्यक्ति में निहित ध्वनि-परिवर्तन के कारण ।

(१) प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख, (२) क्षिप्र-भाषण, (३) अशिक्षा तथा अज्ञान (४) भावातिरेक, (५) आत्म-प्रदर्शन, (६) यदृच्छात्मक शब्द, (७) मात्रा, सुर, बलाघात, (८) कलात्मक स्वच्छन्दता, (९) लिपिदोष या लिपि की अपूर्णता, (१०) विदेशी ध्वनियों का अभाव ।

---

१. "सन्धिश्चतुर्विधो भवति—लोपागमविकाराः प्रकृतिभावश्चेति ।" —याज्ञवल्क्य-शिक्षा ।

बाह्य कारण—अर्थात् व्यक्ति के परिवेश में निहित ध्वनि-परिवर्तन के कारण-
(११) भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा (१२) ऐतिहासिक परिस्थितियाँ।

इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन के उपर्युक्त बारह कारण माने जाते हैं। आगे इनकी व्याख्या, क्रमशः, की जाएगी।

तीन प्रमुख आभ्यन्तर कारण—

(१) प्रयत्नलाघव या मुखसुख—यह ध्वनि-परिवर्तन का सर्वप्रमुख कारण है। प्रयत्नलाघव से तात्पर्य है, अधिक श्रम की अपेक्षा कम श्रम से काम चलाना। यह मानव-सुलभ प्रवृत्ति है, जो भाषा के क्षेत्र में भी अपना कार्य करती है। इसके कारण मनुष्य कम से कम भाषा में अधिक से अधिक भावों तथा विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

पाणिनि-व्याकरण में 'अच्', 'हल्' आदि प्रत्याहार प्रयत्नलाघव के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। प्रयत्नलाघव के कारण ही 'अन्धकार' जैसे बड़े शब्दों के स्थान पर 'अंधेरा' जैसे छोटे शब्दों का प्रयोग होता है।

प्रयत्नलाघव के कारण होने वाला ध्वनि-परिवर्तन अनेक दिशाओं में होता है—कभी किसी ध्वनि का लोप हो जाता है, जैसे—स्थल से थल। कभी किसी नयी ध्वनि का आगम हो जाता है, जैसे—वधू से वधूटी। इसी प्रकार विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण, सघोषीकरण, अघोषीकरण, सन्धि तथा मात्रा-भेद आदि अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का कारण प्रयत्नलाघव ही होता है। याज्ञवल्क्य का जागबलिक, वज्राङ्ग का बजरङ्ग तथा चाटुर्ज्या का चटर्जी आदि उच्चारण भी प्रयत्नलाघव या मुखसुख ही के कारण होता है।

प्राचीनकाल में ही जिस प्रकार शुक्ल दिवस तथा बहुल दिवस को क्रमशः सुदि तथा बदि कहा जाने लगा था, उसी प्रकार आधुनिक काल में भी पाकिस्तान को केवल 'पाक' तथा संयुक्त विधायक दल को 'संविद' मुखसुख के ही कारण कहा जाता है। इस प्रकार संक्षिप्तीकरण भी प्रयत्नलाघव ही है।

संक्षेप में, भाषा में सरलीकरण की जितनी भी प्रवृत्तियाँ या प्रयास है वे सब प्रयत्नलाघव या मुखसुख की ही देन हैं। वास्तव में, प्रयत्नलाघव के कारण होने वाले ध्वनिपरिवर्तनों की कोई सीमा नहीं है। विदेशी ध्वनियों में होने वाले परिवर्तनों के लिए भी प्रयत्नलाघव ही विशेष रूप से उत्तरदायी होता है।

(२) क्षिप्र-भाषण—कभी-कभी अनजाने ही अथवा विवशता या स्वभाववश भाषण में क्षिप्रता आ जाती है! क्षिप्रभाषण में वक्ता ध्वनियों का उच्चारण स्पष्ट रूप से नहीं कर पाता। अतः, शब्दों में प्रयुक्त अनेक ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं, अनेक ध्वनियाँ आधे रूप में उच्चरित होती हैं तथा अनेक ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार क्षिप्र-भाषण के कारण ध्वनियों का उच्चारण अस्पष्ट होता है तथा भाषा में ध्वनि-लोप, ध्वनि-विपर्यय, सन्धि आदि परिवर्तन हो जाते हैं; उदाहरणार्थ

भ्रातृजाया से भौजाई, बाबूजी से बाऊजी, मास्टर साहब से मास्साब, प्रोफेसर साहब से प्रोस्साब आदि क्षिप्रभाषण के ही परिणाम हैं।

(३) अशिक्षा तथा अज्ञान—प्राचीनकाल में भारत में 'शिक्षा' का उद्देश्य ही शुद्ध उच्चारण सिखलाना होता था। यही कारण है कि शिक्षितों की भाषा संस्कृत में परिवर्तन बहुत ही कम हुआ, किन्तु अशिक्षितों की संस्कृतकाल की भाषा > पालि > प्राकृत > अपभ्रंश आदि के रूप में बिल्कुल ही परिवर्तित हो गयी। अशिक्षा के कारण व्यक्ति, भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों के शुद्ध स्वरूप से परिचित नहीं हो पाता है। उसका क्षेत्र बोलचाल की सामान्य भाषा तक ही सीमित रहता है। बोलचाल में प्रायः ध्वनियों का उच्चारण दोषपूर्ण रहता है, साथ ही श्रोता उन्हें पूर्णरूप से सुन भी नहीं पाता है। यही कारण है कि अशिक्षित तथा अज्ञानी लोगों की भाषा में, ध्वनियों में परिवर्तन अपेक्षाकृत तीव्र गति से होता है।

अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण ध्वनियों में मात्राभेद, लोप, सघोषीकरण, अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण तथा भ्रामक व्युत्पत्ति आदि अनेक परिवर्तन होते हैं। अज्ञान पर आधारित मिथ्यासादृश्य के कारण 'एकदश' को एकादश, इड़ा को 'इंगला' आदि कहा जाता है। अशिक्षा के कारण ही 'ओ३म् नमः सिद्धम्' के स्थान पर लोग 'ओनामासिधम्' कहते सुने जाते हैं। अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण ही भ्रामक व्युत्पत्ति की जाती है तथा 'चेम्सफोर्ड' को 'चिलमफोड़', रिपोर्ट को 'रपट' आदि कहा जाता है।

अन्य गौण आभ्यन्तर कारण

(४) भावातिरेक—जीवन में, अनेक अवसरों पर व्यक्ति अधिक भावुक हो जाता है तथा प्रेम, क्रोध, शोक आदि के अतिरेक के कारण शब्दों का उच्चारण अस्वाभाविक रूप में करता है। इस कारण भी ध्वनियों में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं; उदाहरणार्थ—बेटी से 'बिटिया', बेटा से 'बिटवा', वधू से वधूटी, बहू से बहुरिया, राम से 'रामू' या रमुआ आदि में ध्वनि-परिवर्तन का कारण भावातिरेक ही है।

(५) आत्मप्रदर्शन—आत्मदर्शन की प्रवृत्ति के कारण अनेक वक्ता बनकर बोलने लगते हैं। इस प्रकार बनकर बोलने से ध्वनियों में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ अर्धशिक्षित लोग अपने को अधिक शिक्षित प्रकट करने के लिए ही 'इच्छा' को 'इक्षा', 'शाप' को 'श्राप' 'अचार' को 'आचार' आदि कहा करते हैं। अनेक व्यक्तियों को इसी कारण 'सेवक' को शेवक' तथा 'आलस्य' को 'आलश्य' कहते सुना जाता है।

कुछ लोग इसी कारण सरल शब्दों के स्थान पर कठिन, किन्तु अपरिचित शब्दों का प्रयोग करके उपहास के पात्र बना करते हैं। अंग्रेजी में इस प्रवृत्ति को मैलाप्रोपिज्म (Malapropism) कहा जाता है।

(६) यदृच्छात्मक शब्द—यदृच्छात्मक शब्द प्राचीनकाल से ही भाषा का अंग रहे हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्दों के चार भेद माने हैं—जातिवाचक,

गुणवाचक, क्रियावाचक तथा यदृच्छात्मक। यदृच्छात्मक शब्द इच्छानुसार गढ़ लिए जाते हैं, व्याकरण के अनुसार नहीं। संस्कृत में 'डित्थ' शब्द इसका उदाहरण माना जाता है। हिन्दी में 'रोटी-वोटी' में 'वोटी' (या ओटी), 'पानी-वानी' में 'वानी', 'नाश्ता-वाश्ता' में 'वाश्ता', तथा 'सुवह-वुवह' में वुवह आदि ऐसे ही शब्द हैं।

(७) मात्रा, सुर तथा बलाघात—इन तीनों में बलाघात का महत्त्व सर्वाधिक है। प्रायः देखने में आता है कि बलाघात के कारण जिस ध्वनि के उच्चारण पर अधिक वल दिया जाता है, उसके समीप की ध्वनि, दुर्बल पड़ जाने से, वाद में लुप्त हो जाती है; उदाहरणार्थ, अभ्यन्तर से भीतर। यहाँ भ्य पर बलाघात के कारण अ लुप्त हो गया है।

इसी प्रकार सुर के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है; जैसे कुष्ठ से कोढ़ तथा विल्व से वेल आदि।

जब दो दीर्घ मात्राएँ साथ-साथ आ जाती हैं, तो उनका उच्चारण कठिन होने के कारण भी प्रायः एक मात्रा ह्रस्व हो जाती है; उदाहरणार्थ, वाजार से बजार या आकाश से अकास आदि।

इस प्रकार बलाघात, सुर तथा मात्रा के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है।

(८) कलात्मक स्वच्छन्दता – काव्यकला में प्रयुक्त कविस्वातन्त्र्य के कारण भी ध्वनियों में अनेक परिवर्तन होते हैं। प्रायः, पादपूर्ति, माधुर्य तथा लालित्य आदि के कारण कविगण 'जहान' को 'जहाना' 'चरण' को 'चरन' 'काजल' को 'काजर', 'यशोदा' को 'जसोदा' आदि के रूप में प्रयुक्त करते हैं। वाद में कवि-प्रयुक्त ये ही शब्द भाषा का अंग वन जाते हैं।

(९) लिपिदोष या लिपि की अपूर्णता—प्रत्येक भाषा की अपनी पृथक् ध्वनियाँ होती हैं, जिनके द्वारा सभी भाषाओं की ध्वनियों को प्रकट करना सम्भव नहीं हो पाता है। ऐसी दशा में दूसरी भाषा की ध्वनियों को लिखने के लिए अपनी भाषा की लगभग मिलती-जुलती ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है। ऐसा करने में दूसरी भाषा की अनेक ध्वनियाँ अशुद्ध रूप में प्रचलित हो जाती हैं; उदाहरणार्थ फारसी में 'कर्ण' को 'करन', 'प्रकाश' को 'परकाश' आदि लिखा जाता है। गुरुमुखी में 'स्टेशन' 'सटेशन' हो गया है। रोमन लिपि के कारण 'राम', 'कृष्ण' तथा 'मालवीय' > 'रामा' 'कृष्णा' तथा 'मालविया' हो गये हैं।

देवनागरी में भी 'ष' के स्थान पर 'ख' (वरखा), टंकण की सुविधा के लिए रु तथा रू के स्थान पर केवल रु, अनुस्वार (ं) तथा अनुनासिक के स्थान पर केवल अनुस्वार (ं) के प्रचलन से ध्वनियों में परिवर्तन हो रहा है। ये सभी लिपि की अपूर्णता तथा लिपिदोष के उदाहरण हैं।

(१०) विदेशी ध्वनियों का अभाव—हिन्दी की 'ण' ध्वनि अंग्रेजी तथा फारसी में 'न' (n) तथा अरवी की ग़, ज़ ध्वनियाँ हिन्दी में ग, ज हो जाती हैं। हिन्दी 'त' ध्वनि अंग्रेजी में ट (t) हो जाती है।

बाह्य कारण

(११) **भौगोलिक परिस्थितियाँ**—भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार शीतप्रधान देशों की ध्वनियाँ संवृत्ति की ओर तथा ग्रीष्मप्रधान देशों की ध्वनियाँ विवृत्ति की ओर अग्रसर रहती हैं। इसके अतिरिक्त अपनी उर्वरता तथा व्यापारिक सुविधाओं आदि के कारण, जिस भू-भाग की भाषा के बोलने वालों का बाह्य सम्पर्क अधिक होता है, उस भू-भाग की भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन भी अपेक्षाकृत अधिक होता है। इसी प्रकार अधिक विस्तृत भू-भाग में व्यवहृत भाषा की ध्वनियाँ भी अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तित होती हैं।

इस प्रकार शीतता-उष्णता, उर्वरता-अनुर्वरता तथा अधिक या कम विस्तृत होना आदि भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है।

(१२) **ऐतिहासिक परिस्थितियाँ या काल-प्रभाव**—विशिष्ट काल की परिस्थितियाँ भी विशिष्ट होती हैं। प्राचीनकाल से आज तक हम किन-किन, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों से होकर गुजरे तथा किन-किन कालों में हमारा सम्पर्क किस-किस जाति या देश के लोगों से हुआ, ये सब बातें हमारे इतिहास से सम्बन्ध रखती हैं तथा इनका प्रभाव भी हमारी भाषा पर, ध्वनि-परिवर्तन आदि के रूप में होता है। वैदिक ध्वनियाँ ही संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में से होती हुई, आज हिन्दी में आयी हैं। उस परम्परागत ध्वनि-समूह में विदेशियों के सम्पर्क से भी अनेक परिवर्तन हुए हैं; उदाहरण के लिए द्रविड़ों के सम्पर्क से मूर्धन्य तथा मुगलों के सम्पर्क से क़, ख़, ग़, ज़ आदि ध्वनियाँ हिन्दी को प्राप्त हुई है।

इस प्रकार काल के प्रभाव से अथवा ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन होता है।

संक्षेप में, यद्यपि ध्वनि-परिवर्तन के अनेक कारणों का उल्लेख ऊपर किया गया है, तथापि ध्वनि-परिवर्तन के सभी कारणों का उल्लेख करना वस्तुतः, कठिन ही है। एक ही ध्वनि-परिवर्तन में अनेक कारणों का होना भी प्रायः देखा जाता है। अतः, उपरिलिखित ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को, केवल दिशा-निर्देश ही समझना चाहिए।

२. ध्वनि-नियम

सामान्य विवेचन—विशिष्ट ध्वनि-नियमों के परिचय से पूर्व यहाँ कुछ सामान्य विषयों का उल्लेख आवश्यक है।

नियम—सभी देश-कालों में, समान परिस्थितियों में, समान रूप से घटित क्रिया को नियम कहा जाता है। जैसे गणित का कोई नियम या गुरुत्वाकर्षण का नियम, आदि। स्पष्ट ही, इन नियमों का सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से होता है और इन्हें हम प्राकृतिक नियम कहते हैं।

ध्वनि-नियम—यदि उपर्युक्त प्राकृतिक नियम की भाँति ही समान परिस्थितियों

में, समान रूप से कोई परिवर्तन आदि की क्रिया भाषा-ध्वनि के क्षेत्र में घटित हो; तो उसे भी, निश्चय ही ध्वनि-नियम कहा जा सकता है।

यद्यपि भौतिक पदार्थों में घटित प्राकृतिक नियमों-जैसी नियमितता तथा असंदिग्धता का भाषा-ध्वनि के क्षेत्र में मिलना असम्भव है (क्योंकि भाषा का सम्बन्ध चेतन मानव से है तथा उसकी परिस्थितियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।) तथापि अनेक विद्वानों ने, भाषा-ध्वनियों में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करके; कुछ ऐसे ध्वनि परिवर्तन-सम्बन्धी नियम बनाये हैं, जिन्हें देखने से ज्ञात होता है कि किसी निश्चित काल में, किसी निश्चित देश की किसी निश्चित भाषा की; कुछ निश्चित ध्वनियाँ एक विशेष क्रम से परिवर्तित होती है। अतः, इस निश्चितता, तथा विशिष्टता के आधार पर इन्हें ध्वनि-नियमों की संज्ञा दी जा सकती है।

प्राकृतिक नियम तथा ध्वनि-नियम में अन्तर

यद्यपि पर्याप्त नियमितता के आधार पर ही ध्वनि-नियम बनाये जाते हैं तथापि प्राकृतिक नियमों-जैसी सार्वदेशिकता तथा सार्वकालिकता का ध्वनि-नियमों में होना सम्भव नहीं है। प्राकृतिक नियमों के देश-काल की अपेक्षा ध्वनि-नियमों का देश तथा काल बहुत ही सीमित होता है। अतः कोई भी ध्वनि-नियम बनाते समय, उसके देश तथा काल की सीमा का निर्धारण बहुत ही अनिवार्य माना जाता है। ऐसा न होने पर उसे ध्वनि-नियम ही स्वीकार नहीं किया जाता है।

ध्वनि-नियम की परिभाषा

ध्वनिविद् श्री टी० जी० टकर (T. G. Tucker) के अनुसार—"किसी भाषा का ध्वनि-नियम वह कथन है, जिसका सम्बन्ध भाषाविशेष की किसी एक ध्वनि या ध्वनि- समूह में, विशेष काल तथा विशेष परिस्थियों (आनुपूर्वी) में होने वाले नियमित विकार से होता है।[1]

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने भी अपने "भाषा-विज्ञान" में लगभग यही बात कही है—"किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में, किसी विशिष्ट काल और विशिष्ट दशाओं में हुए नियमित परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि नियम कहते हैं।"

उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए ध्वनि-नियम की निम्नलिखित विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है:—

(१) यद्यपि ध्वनि-नियम भौतिक विज्ञान आदि के नियमों की भाँति सुनिश्चित

---

1. "A phonetic law of a language is a statement of the regular practice of that language at a particular time in regard to the treatment of a particular sound or group of sounds in a particular setting."

—Introduction to the Natural History of Language.

तथा व्यापक नहीं होते, तथापि ध्वनियों में होने वाला परिवर्तन बहुत सीमा तक नियमित ही होता है। इसी आधार पर ध्वनि-विज्ञान, विज्ञान कहलाता है।

(२) सभी ध्वनि-नियमों का सम्बन्ध भूतकाल में हुये विशिष्ट ध्वन्यात्मक परिवर्तनों से होता है। उनके, भविष्य में भी उसी रूप में घटने की सही-सही भविष्य-वाणी नहीं की जा सकती; जबकि, भौतिक विज्ञान आदि के नियम भूत, भविष्यत् और वर्तमान, सभी कालों में समान रूप से घटित होते हैं।

(३) एक बार प्रारम्भ हुआ ध्वनि-परिवर्तन कभी रुकता नहीं है, अपितु दिशा विशेष में अग्रसर होता रहता है।

(४) प्रत्येक ध्वनि-परिवर्तन प्रारम्भिक काल में एक प्रवृत्ति के रूप में रहता है, जब प्रवृत्ति स्थायी हो जाती है, तो वह ध्वनि-नियम बन जाती है; उदाहरणार्थ, पहले 'मूल भारोपीय' भाषा के 'स्' को ईरानी भाषा में 'ह्' के रूप में उच्चारण करने की प्रवृत्ति रही होगी, तथा बाद में इस प्रवृत्ति के स्थायी हो जाने पर इसे ध्वनि-नियम कहा जाने लगा होगा।

(५) प्रत्येक ध्वनि-नियम अवस्था-विशेष को दृष्टि में रखकर बनाया जाता है; अर्थात् वह अपने आस-पास की ध्वनियों से नियन्त्रित रहता है, उससे भिन्न परिस्थि-तियों में वह काम नहीं करता है। उदाहरण के लिये ग्रिम-नियम असंयुक्त ध्वनियों से ही सम्बन्ध रखता है, संयुक्त ध्वनियों से नहीं।

(६) प्रत्येक ध्वनि-नियम का सम्बन्ध कालविशेष से होता है, उससे भिन्न काल की ध्वनियों पर वह सार्थक नहीं होता है।

(७) प्रत्येक ध्वनि-नियम देश-विशेष से सम्बन्ध रखता है, उससे बाहर की भाषा-ध्वनियों पर वह लागू नहीं होता है।

संक्षेप में, प्रत्येक ध्वनि-नियम किसी भाषा की भूतकाल की ध्वनियों से सम्बन्ध रखता है, पहले वह प्रवृत्ति के रूप में रहता है, धीरे-धीरे स्थायी बन जाने पर प्रवृत्ति, नियम का रूप ले लेती है। प्रत्येक ध्वनि-नियम, भाषा-विशेष की, काल-विशेष की विशिष्ट ध्वनियों से ही सम्बद्ध होता है और वह सीमित क्षेत्र में सीमित परिस्थितियों में ही काम करता है।

अतः, किसी भी ध्वनि-नियम को भौतिक विज्ञान आदि के नियमों की भाँति सुनिश्चित तथा सार्वदेशिक-सार्वकालिक नहीं माना जा सकता है। इस दृष्टि से उसे 'नियम' कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता है, किन्तु यदि उसकी सीमाओं का निर्देश कर दिया जाय, तो वह एक सुनिश्चित वैज्ञानिक नियम की भाँति ही कार्य करता है। इसी दृष्टि से हम ध्वन्यात्मक परिवर्तन को ध्वनि-नियम कह सकते हैं और ध्वनि-विज्ञान को एक विज्ञान।

कुछ प्रसिद्ध ध्वनि-नियम

भाषाविज्ञान में ध्वनि-नियम से तात्पर्य है—मानवी भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों के परिवर्तन से सम्बन्ध रखने वाला नियम। ऐसे नियमों में जर्मन विद्वान् याकोब

ग्रिम (Jacob Grimm) का बनाया हुआ 'ग्रिम-नियम' (Grimm-law) सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ध्वनि-नियम के प्रसंग में ग्रिम के साथ-साथ, ग्रासमैन (Hermann Grassmann) तथा वर्नर (Karl Adolf Verner) के नाम भी प्रसिद्ध हैं। इन दोनों विद्वानों ने 'ग्रिम-नियम' की कुछ त्रुटियाँ दूर कर उसके सम्बन्ध में अपने संशोधन प्रस्तुत किये हैं।

ग्रिम-नियम के अतिरिक्त कुछ अन्य ध्वनि-नियम भी माने जाते हैं; जैसे—तालव्य नियम (Palatal-law) मूर्धन्य-नियम (Cerebral law), ग्रीक-नियम, लैटिन नियम आदि। इस प्रकार कुल मिलाकर चर्चित, प्रसिद्ध ध्वनि-नियमों की संख्या अधिक नहीं है। उन्हें क्रमशः, इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१. ग्रिम-नियम (Grimm-law) तथा तत्सम्बन्धी संशोधन; जैसे :—

(क) ग्रिम-उपनियम

(ख) ग्रासमैन-उपनियम

(ग) वर्नर-उपनियम

(घ) सादृश्य-उपनियम

२. तालव्य-नियम, ३. मूर्धन्य-नियम, ४. ग्रीक-नियम

५. लैटिन-नियम, ६. फ़ारसी-नियम, ७. प्राकृत-नियम आदि।

उपर्युक्त ध्वनि-नियमों का परिचय क्रमशः, इस प्रकार है :—

ग्रिम-नियम

ध्वनि-नियमों में सबसे प्रसिद्ध 'ग्रिम-नियम' है। इसका उल्लेख जर्मन विद्वान् याकोब ग्रिम ने, सन् १८८२ ई० के लगभग, अपने "जर्मन भाषा का व्याकरण" ग्रन्थ में किया था। उनका यह ध्वनि-नियम दो भागों में विभक्त हैं; जिन्हें क्रमशः—

१—प्रथम वर्ण-परिवर्तन, तथा

२—द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

के नाम से जाना जाता है। यद्यपि आजकल केवल 'प्रथम वर्ण-परिवर्तन' को ही 'ग्रिम-नियम माना जाता है तथा द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का क्षेत्र सीमित होने के कारण उसे ग्रिम-नियम के अन्तर्गत नहीं माना जाता; तथापि परम्परा के अनुसार यहाँ दोनों ही वर्ण-परिवर्तनों का परिचय दिया जा रहा है।

प्रथम वर्ण परिवर्तन अथवा ग्रिमनियम

जैसा पहले लिखा जा चुका है, यह प्रथम वर्ण-परिवर्तन ही वस्तुतः 'ग्रिम-नियम' है। इसका सम्बन्ध मूल भारोपीय भाषा की—घ्, ध्, भ्; ग्, द्, ब्; क्, त्; प्,—इन नौ स्पर्श ध्वनियों (व्यञ्जनों) से ही है।

इस प्रथम वर्ण-परिवर्तन या ग्रिम-नियम का उद्देश्य यह बतलाना है कि प्रागैतिहासिक काल में ही, जब 'मूलभारोपीय भाषा' से "भारोपीय भाषाओं" का विकास हुआ, तो 'मूलभारोपीय भाषा' की उपर्युक्त नौ ध्वनियाँ—घ्, ध्, भ्; ग्, द्,

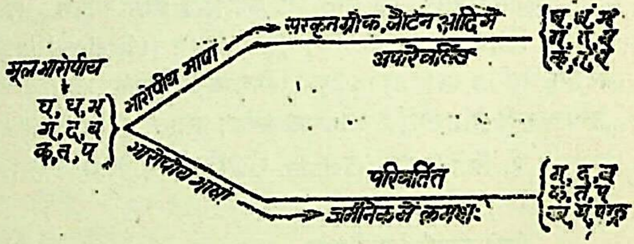
व्; क्, त्, प्—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि कुछ भारोपीय भाषाओं में तो उसी रूप में, अर्थात् अपरिवर्तित रहीं, किन्तु जर्मनिक या ट्यूटॉनिक शाखा में—

वे ध्वनियाँ—घ्, ध्, भ्; ग्, द्, ब्; क्, त्, प्—क्रमशः

V V V V V V V V V

इन ध्वनियों—ग्, द्, ब्; क्, त्, प्; ख्, थ्, फ्,—में परिवर्तित हो गयीं।

अर्थात्



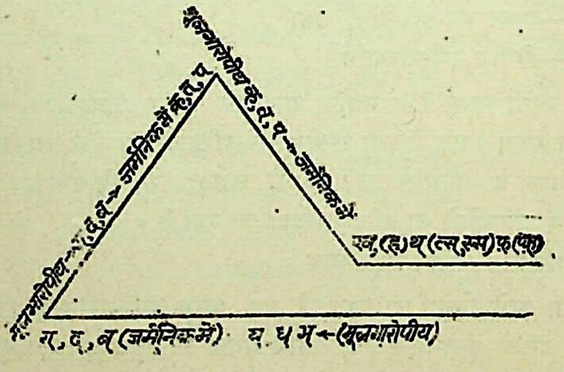
इसी बात को यदि ध्वनियों के स्थान तथा प्रयत्न की दृष्टि से कहें, तो—

मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियाँ > भारोपीय जर्मनिक भाषा में

सघोष महाप्राणस्पर्श (घ् द्, भ्) ध्वनियाँ > सघोष अल्पप्राणस्पर्श (ग् द्, व्) ध्वनियों में,
सघोष अल्पप्राणस्पर्श (ग् द् ब्) ध्वनियाँ > अघोष अल्पप्राणस्पर्श (क् त् प्) ध्वनियो में,
अघोष अल्पप्राणस्पर्श (क् त् प्) ध्वनियाँ > अघोष महाप्राणस्पर्श ख् (ह्) थ् (त्स् त्स्) तथा फ (त्फ्)

ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं, जबकि भारोपीय संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन आदि भाषाओं में ये ध्वनियाँ, उसी रूप में, अपरिवर्तित होती रहती हैं।

ग्रिम-नियम को रेखाकृति के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:—



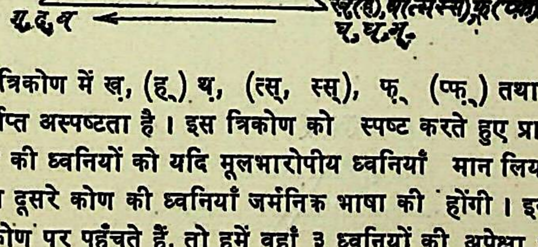
---

*उपर्युक्त रेखाकृति प्रायः सभी ग्रन्थों में त्रिकोणाकृति के रूप में दी गई है— देखिये पृष्ठ १६७ की पाद टिप्पणी।

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त ग्रिम-नियम को उन शब्दों के द्वारा भी सोदाहरण स्पष्ट किया जाता है, जिनमें ग्रिम-नियम से संबन्धित–घ्, ध्, भ्; ग, द्, ब्; क, त्, प-इन नौ ध्वनियों का प्रयोग हुआ है। शब्दों के आधार पर हम, ग्रिम-नियम' को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

क्रम	मूलभारोपीय भाषा की प्रतिनिधि-संस्कृत भाषा	परिवर्तित–मूलध्वनि	जर्मनिक (ट्यूटॉनिक) की प्रतिनिधि अंग्रेजी भाषा	परिवर्तित ध्वनि	हिन्दी अर्थ
१.	घन (मूल भा० घन्स् से संस्कृत हंस	घ्	Goose = गूज	ग्	हंस (पक्षी)
२.	विधवा	ध्	Widow = विडो	द्(ड्)	विधवा
३.	भ्रातृ	भ्	Brother = ब्रादर	ब्	भाई
४.	गो	ग्	Cow = काउ	क्	गाय
५.	दशं	द्	Ten = टेन (अं० t = सं० हि० त्)	त्	दश
६.	बाधन्	ब्	Pain = पेन	प्	पीड़ा
७.	कः	क्	Who = हू (who का मूलरूप ख्वो था)	ह(ख्)	कौन
८.	त्रि	त्	Three = थ्री	थ्	तीन
९.	पितृ	प्	Father = फादर	फ्	पिता

पाद-टिप्पणी—



इस त्रिकोण में ख, (ह्) थ, (त्स्, स्स्), फ् (प्फ्) तथा घ, ध्, भ्, वाले कोण पर पर्याप्त अस्पष्टता है। इस त्रिकोण को स्पष्ट करते हुए प्रायः कहा जाता है कि एक कोण की ध्वनियों को यदि मूलभारोपीय ध्वनियाँ मान लिया जाय, तो बाण द्वारा संकेतित दूसरे कोण की ध्वनियाँ जर्मनिक भाषा की होंगी। इसके अनुसार जब हम दाहिने कोण पर पहुँचते हैं, तो हमें वहाँ ३ ध्वनियों की अपेक्षा ६ ध्वनियाँ दिखलायी पड़ती हैं। अतः, हमें स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि यहाँ से ख्, थ्, फ्, को लेकर ग्, द, ब्, में परिवर्तित मानें या घ् घ् भ को लेकर ग् द् ब् में परिवर्तित मानें।

अतः, प्रस्तुत ग्रन्थ में त्रिकोणाकृति को नये रूप में दिया गया है। यह आकृति ध्, ध, भ् वाले कोण से प्रारम्भ होकर ख्, थ्, फ् वाले कोण पर समाप्त होती है। 'ग्रिम-नियम' को समझने में प्रस्तुत रेखाकृति में किसी अतिरिक्त स्पष्टीकरण की भी आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि मूल भारोपीय भाषा तथा उससे विकसित संस्कृत की तालिका में संस्कृत भाषा को मूल भारोपीय भाषा तथा ग्रीक, लैटिन आदि का प्रतिनिधि माना गया है। घ्, ध्, भ्,; ग्, द्, व्,; क्, त्, प्, (ये नौ) ध्वनियाँ जर्मेनिक (ट्यूटानिक) वर्ग की (अंग्रेजी आदि) भाषाओं में, क्रमशः ग्, द्, व्, क्, त्, प्, ख्., (ह्.) थ्, (त्स् स्स्) फ्. (प्फ्,) में परिवर्तित हो गयी हैं।

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का सम्बन्ध केवल जर्मन भाषा से है। यह वर्ण-परिवर्तन, ७वीं शताब्दी ईस्वी के लगभग, उस समय घटित हुआ था, जब ऐंग्लो-सैक्शन जाति के लोग उत्तरीय जर्मन जाति के लोगों से पृथक् हुए थे।

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का उद्देश्य केवल यह प्रदर्शित करना है कि उच्च जर्मन भाषा, निम्न जर्मन भाषा से किस प्रकार भिन्न हुई है। यही कारण है कि इस द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का उल्लेख केवल जर्मन भाषा के व्याकरणों में ही मिलता है। इस प्रकार इसका क्षेत्र बहुत ही सीमित होने के कारण अब इसे 'ग्रिम-नियम" के अन्तर्गत नहीं माना जाता है।

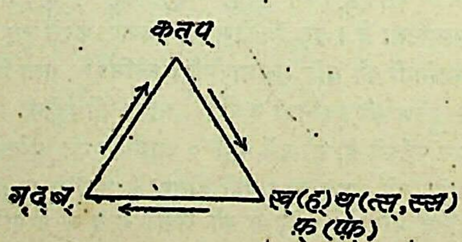
द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का सम्बन्ध भी निम्न जर्मन भाषा की ९ स्पर्श ध्वनियों से ही है तथा वे ध्वनियाँ हैं—ख्., थ्., फ्.,; ग्, द्, ब्; क्, त्, प्,।

इस वर्ण-परिवर्तन में बतलाया गया है कि निम्न जर्मन की—

ये ध्वनियाँ →	ख्.,	थ्.	फ्.	ग्	द्	व्	क्	ट्	प्
उच्चजर्मन में क्रमशः	V	V	V	V	V	V	V	V	V
इन ध्वनियों →	ग्	द्	ब्	क्	त्	प्	ख्.(ह्.)	थ (स्स् स्स्,)	फ्, प्फ्

में परिवर्तित हो जाती हैं।

द्वितीय वर्ण परिवर्तन को इस त्रिकोण द्वारा भी स्पष्टता से समझाया जा सकता है—



*प्रथम वर्ण परिवर्तन की घ्, ध्, भ्; ध्वनियों से इनका अन्तर ध्यान में रखिए।

यहाँ किसी भी कोण की निम्न जर्मन की ध्वनियाँ, बाण के अनुसार किसी भी दूसरे कोण की उच्च जर्मन की ध्वनियों में बदल जाती हैं।

(टिप्पणी—इस त्रिकोण में प्रथम वर्ण-परिवर्तन वाले कोण की भाँति अस्पष्टता नहीं हैं, क्योंकि यहाँ परिवर्तनशील तथा परिवर्तित ध्वनियाँ वही हैं।)

स्वयं ग्रिम महोदय तथा अन्य विद्वानों ने भी उपर्युक्त दोनों वर्ण-परिवर्तनों में इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है—

मूल भारोपीय		निम्न जर्मन		उच्च जर्मन
घ् ध् भ्	>	ग् द् व्	>	×, त्, ×
ग् द् व्	>	क् त् प्	>	×, थ् (त्स स्स), फ,(प्फ,)
क् त् प्	>	ख् (ह्) थ् फ्	>	×, द् (स्त्) ×

(× चिह्न उदाहरण न मिलने का सूचक है।)

इस प्रकार उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि उच्च जर्मन में सभी परिवर्तित ध्वनियों के उदाहरण नहीं मिलते हैं।*

अतः, विद्वानों का निष्कर्ष है कि प्रथम वर्ण-परिवर्तन ही वस्तुतः ग्रिम-नियम है, क्योंकि उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है और उसके सभी उदाहरण उपलब्ध हैं।

ग्रिम-नियम में किये गये संशोधन अथवा ग्रिम-नियम-सम्बन्धी उपनियम

ग्रिम-नियम अर्थात् प्रथम वर्ण-परिवर्तन के प्रकाश में आने के थोड़े दिन बाद ही कुछ ऐसे उदाहरण मिलने लगे, जिन पर ग्रिम-नियम लागू नहीं होता था। ऐसे सब उदाहरणों को पहले 'ग्रिम-नियम का अपवाद' कहा गया, किन्तु थोड़े समय बाद स्वयं ग्रिम, ग्रासमैन तथा वर्नर ने ग्रिम-नियम में कुछ संशोधन प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया, कि उन तथाकथित अपवादों का कारण वस्तुतः यह था कि ग्रिम ने अपने ध्वनि-नियम की सीमाएँ निश्चित नहीं कीं थीं, जैसा कि किसी भी ध्वनि-नियम के विषय में अनिवार्य है।

---

*भारोपीय परिवार की जर्मनिक शाखा आगे तीन प्रमुख शाखाओं में विकसित हुई :— (१) पूर्वी जर्मनिक (गाथी)।
(२) उत्तरी ,, (नार्वेजी, स्वीडिश, डेनी, आइसलैण्डी)
(३) पश्चिमी ,,

ईसा की ७वीं शताब्दी के आसपास पश्चिमी जर्मनिक पुनः दो उपशाखाओं में विभक्त हो गयी :—(१) निम्न जर्मन (अंग्रेजी, डच आदि)।
(२) उच्च जर्मन (जर्मन देश की वर्तमान राष्ट्रभाषा)।

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का सम्बन्ध इन—निम्न-जर्मन तथा उच्च जर्मन भाषाओं से ही है।

ग्रिम-नियम पर प्रस्तुत संशोधन या ग्रिम-नियम की सीमाएँ इस प्रकार हैं—

(क) स्वयं ग्रिम द्वारा प्रस्तुत संशोधन

ग्रिम-नियम अर्थात् प्रथम वर्ण-परिवर्तन केवल असंयुक्त ध्वनियों पर ही लागू होता है, संयुक्त पर नहीं। तदनुसार मूलभारोपीय शब्दों में संयुक्त रूप से प्रयुक्त क्, त्, प्, ध्वनियाँ जर्मनिक में भी अपरिवर्तित ही रही हैं; यथा—

मूल भारपीय शब्द		(जर्मनिक ट्यूटानिक) शब्द
पिस्केस	=	फिस्कस् क > ख़ नहीं हुआ।
अस्ति	=	इस्त् त् > थ् नहीं हुआ।
स्पश	=	स्पेहोन प् > फ़् नहीं हुआ।
अक्तौ	=	अख्तौ त् > थ् नहीं हुआ।
नप्ता	=	ख़फ्तस् त् > थ् नहीं हुआ।
वित्त	=	उइस्स त् > थ् नहीं हुआ।

यहाँ क् त् प् और त् ध्वनियाँ अपरिवर्तित ही रहती हैं।

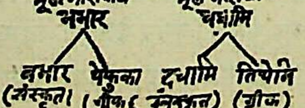
(ख) ग्रासमैन द्वारा प्रस्तुत संशोधन या ग्रासमैन-नियम

जर्मनिक (गाथी) के 'बिउदान्' (Biudan) या बिन्दान् (Bindan) तथा दाब्ज् (Daubs) आदि शब्दों में ब् तथा द् ध्वनियाँ ग्रिम-नियम के अनुसार (मूलभारोपीय भ् तथा ध् से) परिवर्तित ही हैं।

ग्रसमैन का संशोधन, वस्तुतः संशोधन न होकर भ्रम का निवारण मात्र ही है। भ्रम यह था कि विद्वानों ने संस्कृत, ग्रीक आदि के रूपों को मूलभारोपीय भाषा का सच्चा प्रतिनिधि माना हुआ था। तदनुसार संस्कृत की 'ब्', 'द्' ध्वनियाँ गाथी में प्, त् के रूप में मिलनी चाहिए थीं, किन्तु कुछ स्थानों पर ऐसा नहीं मिला है, जैसे—निम्न शब्दों में दोनों भाषाओं में 'ब' और 'द' ही मिलता है :—

संस्कृत		गाथी
बोधति	=	बिउदान् या बिन्दान्
दभ्	=	दाब्ज्

बाद में, जब ग्रासमैन ने संस्कृत के 'बभार', दधामि' जैसे रूपों की तुलना ग्रीक के 'पेफुका', 'तिथेमि' आदि रूपों से की, तो यह स्पष्ट हुआ कि मूलभारोपीय भाषा के-भभार, धधामि रूपों से ही संस्कृत-ग्रीक भाषा के बभार, पेफुका और दधामि, तिथेमि—जैसे रूपों का विकास हुआ है, यथा—



परिणामस्वरूप—

(१) यह भ्रम दूर हो गया कि संस्कृत, ग्रीक आदि के रूप मूलभारोपीय भाषा का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि मूलभारोपीय में जो भभार है, संस्कृत में वह बभार है तथा ग्रीक में वही पेफुका है, आदि-आदि।

(२) यह ज्ञात हो गया कि संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं के जिन शब्दों में अब एक महाप्राण ध्वनि मिलती हैं, उन शब्दों में मूलभारोपीय भाषा में दो महाप्राण ध्वनियाँ थीं। अर्थात् संस्कृत 'दधामि', 'बभार', आदि का मूलरूप मूलभारोपीय भाषा में 'धधामि', 'भभार' आदि था।

इस प्रकार ग्रासमैन ने यह सिद्ध कर दिया कि गाथी (जर्मनिक) के 'बिउदान्'; 'दाब्ज्' आदि रूपों की 'ब्' तथा 'द्' ध्वनियाँ मूलभारोपीय में क्रमशः 'भ्' तथा 'ध्' थीं और आगे चलकर, गाथी (जर्मनिक) में उनका 'ब्' तथा 'द्' में परिवर्तन ग्रिमनियम के अनुसार ही है। इसे ही ग्रासमैन-नियम कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जब ग्रासमैन महोदय ने गाथी में प्राप्त 'ब्' 'द्' ध्वनि-सम्बन्धी भ्रम का निवारण किया, तो 'ग्रिम-नियम' के सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो गया कि ग्रीक, संस्कृत आदि क्लासिकल भाषाओं की ग्, द्, ब् ध्वनियों के स्थान पर जहाँ निम्न जर्मन (गाथी) में भी ग्, द्, ब् ध्वनियाँ ही मिलती हैं, वहाँ मूल भारोपीय भाषा में घ्, ध्, भ् ध्वनियाँ थीं। अर्थात् ऐसे स्थलों पर मूलभारोपीय घ्, ध्, भ् ध्वनियों का परिवर्तन या विकास निम्न जर्मन (गाथी) की ग्, द्, ब् ध्वनियों में ग्रिमनियम के अनुसार ही समझना चाहिए तथा ऐसे स्थलों पर संस्कृत, ग्रीक आदि क्लासिकल भाषाओं की ध्वनियों को मूलभारोपीय भाषा का प्रतिनिधि न मानकर वास्तविक मूलभारोपीय ध्वनियों को खोजना चाहिये, जो निश्चय ही सघोष महाप्राण अर्थात् घ्, ध्, भ् थीं। मूलभारोपीय सघोष महाप्राण घ्, ध्, भ् ध्वनियाँ निम्नजर्मन में ग्रिम-नियमानुसार सदैव सघोष अल्पप्राण ग्, द्, ब् ध्वनियों में ही परिवर्तित होती हैं, न कि अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् ध्वनियों में। अतः, गाथी के बिउदान, दाब्ज आदि में ब् द् ध्वनियाँ ग्रिम-नियम के अनुसार ही हैं।

(ग) वर्नर द्वारा प्रस्तुत संशोधन—मूलभारोपीय क्, त्, प् ध्वनियाँ मूल-भारोपीय शब्द के प्रारम्भ में या उदात्त स्वर के तत्काल बाद आने पर ही गाथी (निम्नजर्मन) में ग्रिम-नियमानुसार ख़् (ह्) थ़् फ़् में बदलती हैं, जैसे—

मूलभारोपीय का स्थानापन्न संस्कृत शब्द		गाथी
भ्राता	>	brother

यहाँ 'त्' से तत्काल पहले 'भ्राता' में 'ा' उदात्त स्वर है, अतः गाथी में 'त्' का विकास 'थ' में ग्रिम-नियम के अनुसार हो गया है।

अन्यथा—

मूलभारोपीय के स्थानापन्न संस्कृत शब्द		गाथी
शतम्	>	खुन्द (hund)
सप्तन्	>	सिवुन् (Sibun)

यहाँ त्, प् के ठीक पूर्व उदात्त न होने के कारण 'त्' तथा प्' ध्वनियाँ 'थ्' तथा 'फ्' में परिवर्तित नहीं हुई हैं अपितु द्, व् में परिवर्तित हुई हैं।

इस प्रकार वर्नर के संशोधन या उपनियम के अनुसार मूलभारोपीय 'क्' 'त्' 'प्' ध्वनियाँ, गाथी में ख्, थ् तथा फ् में, ग्रिम-नियमानुसार तभी परिवर्तित होती हैं जब या तो वे मूलभारोपीय भाषा के शब्दों के बिल्कुल आदि में हों या फिर उनके ठीक पहले उदात्त स्वर हो, अन्यथा ये ध्वनियाँ जर्मनिक (गाथी) में ग्, द्, ब् में, एक पग और आगे परिवर्तित हो जाती हैं।

ऐसा ही मूलभारोपीय-ध्वनि 'स्' के विषय में भी समझना चाहिए। अर्थात् यदि मूलभारोपीय-ध्वनि 'स्' से ठीक पहले उदात्त स्वर (स्वराघात) हो, तभी वह गाथी में 'स्' रहेगी, अन्यथा उसका विकास गाथी में 'र्' के रूप में हो जायेगा। जैसे,

मूलभारोपीय स्थानापन्न संस्कृत शब्द		गाथी (अंग्रेजी)
स्नुषा	=	स्नोरु

यहाँ स्वराघात (उदात्त स्वर) ष् के बाद आने वाले 'ा' पर है, अतः ष् (स्); गाथी में 'स्' न रहकर 'र्' हो गया है।

(घ) सादृश्य—ग्रिम-नियम में अन्तिम संशोधन सादृश्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है अर्थात् जहाँ ग्रिम-नियम से भिन्न प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वहाँ उस अपवाद का कारण 'सादृश्य'[1] को मानना चाहिए। उदाहरणार्थ—

मूलभारोपीय स्थानापन्न संस्कृत शब्द		गाथी (अंग्रेजी)
पिता	>	फाथर father
माता	>	माथर mather

यहाँ 'त्' से ठीक पहले स्वराघात (उदात्त स्वर) नहीं है, अतः 'त्' का विकास गाथी (अंग्रेजी) में 'थ्' में नहीं होना चाहिए। किन्तु—

मूलभारोपीय स्थानापन्न संस्कृत शब्द		गाथी (अंग्रेजी)
भ्राता	>	ब्राथर brother

में 'त्' से ठीक पहले 'ा' उदात्त स्वर होने के कारण 'त्' ध्वनि गाथी (अंग्रेजी) में 'थ्' में परिवर्तित हुई है। अतः—

'भ्राता' से विकसित 'ब्राथर' के सादृश्य पर 'पिता' तथा 'माता' से भी 'फाथर' तथा 'माथर' का विकास हो गया है।

इस प्रकार ग्रिम-नियम के शेष अपवादों का समाधान सादृश्य-उपनियम के आधार पर किया गया है।

---

१. देखिए परिशिष्ट।

संक्षेप में, ग्रिम-नियम में दिखलाई पड़ने वाले कुछ अपवादों का समाधान बाद में स्वयं (i) ग्रिम महोदय, (ii) ग्रासमैन, और (iii) वर्नर द्वारा किया गया तथा शेष अपवादों का समाधान (iv) सादृश्य के आधार पर प्राप्त किया गया है। इस प्रकार 'ग्रिम-नियम' एक पूर्ण ध्वनि-नियम के स्वरूप को प्राप्त हो गया है।

२. तालव्य-नियम (Palatal law)

इस नियम का आविष्कार सन् १८७५ ई० के लगभग थॉम्सन (V. Thomson) तथा कॉलित्ज़ (Collitz) आदि विद्वानों द्वारा किया गया था। इस नियम में स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार मूलभारोपीय भाषा की कण्ठोष्ठ्य तथा शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा में कहीं तो चवर्ग ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं और कहीं कवर्ग ही बनी रहती हैं।

नियम—मूलभारोपीय भाषा की कण्ठोष्ठ्य तथा शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ (क्व्, ग्व् आदि तथा क् ग् आदि) अपने तत्काल बाद इ या ए, स्वर के आने पर भारत-ईरानी शाखा में चवर्ग (तालव्य) ध्वनियों (च्, ज् आदि) में परिवर्तित हो जाती हैं अन्यथा कवर्ग ही बनी रहती हैं, उदाहरणार्थ—

मूलभारोपीय शब्द		भारत (संस्कृत)	ईरानी (अवेस्ता)
किद्	>	चिद्	चित्
क्वे	>	च	च
अन्यथा—			
क्वोस्	>	कः	को
युगोम्	>	युगम्	×

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मूलभारोपीय क् या क्व् ध्वनि, अपने बाद में 'इ' या 'ए' स्वर आने के कारण तालव्य ध्वनि 'च्' (चवर्गीय) में परिवर्तित हो गयी हैं, अन्यथा 'क्' (कवर्गीय) ही रही है।

३. मूर्धन्य-नियम (Cerebral Law)

मूर्धन्य ध्वनियाँ संस्कृत की बहुत बड़ी विशेषता है। संस्कृत में इनका विकास जिस प्रकार से हुआ है, उसका संकेत 'पाणिनि' ने अपनी अष्टाध्यायी में किया है।[1] पाणिनि-व्याकरण के अनुसार अनेक शब्दों में दन्त्य 'स्' तथा 'न्' को क्रमशः 'ष्' तथा 'ण्' होता है। एक प्रमुख नियम के अनुसार इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ओ स्वर के बाद आने वाला दन्त्य 'स्', 'ष्' हो जाता है; जैसे—नदीषु, गुरुषु, भ्रातृषु तथा रामेषु इत्यादि में दृष्टिगोचर होता है।

इसी प्रकार के संकेतों के आधार पर 'पूट' (Poot) तथा फॉरटुनेटोव (For-

१. देखिए—अष्टाध्यायी, अध्याय ८, पाद ३ तथा ४ में 'षत्वविधि' तथा 'णत्वविधि'—सम्बन्धी सूत्र।

tunatov) नामक विद्वानों ने मूर्धन्य-नियम बनाया है। इस नियम के अनुसार ऋ, र्, तथा ल् के बाद आने वाली दन्त्य-ध्वनियाँ संस्कृत में मूर्धन्य हो जाती हैं; उदाहरणार्थ—

(१) कृत से कट (चटाई)
(२) विकृत से विकट
(३) संस्कृत से संकट
(४) वैदिक कर्त से काट (गहराई)
(५) वैदिक ऋध् से आढच आदि।

फॉरटुनेटोव के नाम पर इसे 'फॉरटुनेटोव-नियम' भी कहा जाता है।

किन्तु 'ब्रुगमैन', 'वार्थोलोमे' तथा 'वाकरनागल' आदि विद्वानों ने अनेक अपवादों के मिलने के कारण इस नियम को स्वीकार नहीं किया है। संस्कृत में ही मृदु, गर्दभ आदि शब्दों में यह नियम काम करता दिखलाई नहीं पड़ता है। इस प्रकार 'मूर्धन्य-नियम' कुछ अंशों में ही नियम माना जाता है, पूर्णरूप से नहीं।

(४) ग्रीक-नियम—मूलभारोपीय भाषा के शब्दों में दो स्वरों के मध्य आने वाली 'स्' ध्वनि ग्रीक में पहले ह् हो जाती है तथा बाद में लुप्त हो जाती है। उदाहरण—

मूलभारोपीय भाषा	ग्रीक भाषा
Genesos	genehos (h) > geneos (×)

(५) लैटिन-नियम—मूलभारोपीय भाषा के शब्दों में दो स्वरों के मध्य आने वाली 'स्' ध्वनि लटिन में 'र्' हो जाती है।

मूलभारोपीय भाषा	लैटिन
Genesos	generos

(६) फारसी नियम—संस्कृत की 'स्' तथा 'ज्' ध्वनियाँ फारसी में क्रमशः 'ह्' तथा 'ज़्' के रूप में मिलती हैं। उदाहरण—

संस्कृत		फारसी
सप्त	>	हफ्त
दश	>	दह
जातः (पुत्र)	>	ज़ादह

(७) प्राकृत नियम—संस्कृत की व्, य् आदि ध्वनियाँ प्राकृत में ब्, ज् आदि हो जाती हैं।

इसी प्रकार ओष्ठ्य नियम आदि अन्य अनेक ध्वनि-नियमों की भी चर्चा विद्वानों ने की है।

स्वनिम-विज्ञान या ध्वनिग्राम-विज्ञान

(Phonemics)

प्रस्तावना—स्वनिम-विज्ञान या ध्वनिग्राम-विज्ञान, ध्वनिविज्ञान की एक शाखा है तथा आधुनिक भाषाविज्ञान-सम्बन्धी अध्ययन का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। किसी भाषा में प्रयुक्त स्वनिमों (ध्वनिग्रामों) तथा भाषा-ध्वनियों (संध्वनियों) का ज्ञान इसी के द्वारा होता है। अंग्रेजी में स्वनिम या ध्वनिग्राम को Phoneme तथा संध्वनि (या केवल ध्वनि) Allophone को कहा जाता है।

महत्त्व—भाषा में 'स्वनिम्' का महत्त्व ही सर्वोपरि है। कारण, भाषा का मूल आधार 'स्वनिम्' (ध्वनिग्राम) ही है। परिणामस्वरूप, भाषाविज्ञान में भी स्वनिम-विज्ञान का महत्त्व सर्वोपरि हो जाता है। पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान तथा अर्थ विज्ञान आदि उसी पर आधारित हैं। साथ ही, भाषा-विशेष के स्वमिनों का ज्ञान होने पर ही उस भाषा का उच्चारण शुद्ध रूप में किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी भाषा की लिपि बनाने के लिए भी उसके स्वनिमों का ज्ञान अनिवार्य है। बिना स्वनिम-ज्ञान के लिपि-चिह्नों का निर्धारण भी ठीक-ठीक नहीं हो सकता है। अच्छी लिपि वही होती है, जिसमें एक स्वनिम के लिए एक ही लिपि-चिह्न हो। यह तभी हो सकता है जब पहले भाषा में स्वनिमों का निर्धारण ठीक-ठीक हो जाय। अतः स्वनिम-विज्ञान का बहुत महत्त्व है।

नामकरण[1]—स्वनिम-विज्ञान या ध्वनिग्राम-विज्ञान के लिए अनेक नाम प्रकाश में आये हैं। हिन्दी में इसे स्वनग्रामिकी, स्वानिमी, ध्वनितत्त्वविज्ञान, ध्वनि-ग्रामिकी आदि अनेक नाम दिये गये हैं। अंग्रेजी में इसे Phonology, Phonetics या Functional Phonetics कहा गया है। आजकल इसका सर्वाधिक प्रचलित एवं मान्य नाम, अंग्रेजी में फोनेमिक्स (Phonemics) तथा हिन्दी में स्वनिम-विज्ञान है। यहाँ प्रयुक्त यह 'स्वनिम' शब्द संस्कृत के 'स्वन्' धातु से निष्पन्न है तथा अंग्रेजी के Phoneme शब्द का ही अनुवाद है। अतः, भाषा में प्रयुक्त स्वनिमों से सम्बन्धित विज्ञान को 'स्वनिम-विज्ञान' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भी इसे 'स्वनिम-सिद्धान्त' ही कहा है तथा 'ध्वनिग्राम-विज्ञान' की तुलना में अधिक ग्राह्य माना है।[2]

---

१. इस अध्याय में Phoneme (फोनीम) के लिए 'स्वनिम' एवं 'ध्वनिग्राम' शब्दों का तथा Allophone के लिए 'संध्वनि' एवं 'संस्वन' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

२. भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० २२४।

इतिहास—स्वनिम विज्ञान को, यद्यपि अत्याधुनिक माना जाता है; किन्तु भारत में अतिप्राचीनकाल में ही, 'शिक्षा' वेदाङ्ग के रूप में इसका अस्तित्व विद्यमान था। यहा सर्वप्रथम ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण पर ही बल दिया जाता था और यह तभी सम्भव है, जब भाषा में ध्वनियों का निश्चय भली-भाँति हो चुका हो। सामान्यतया संस्कृत-वैयाकरण 'पाणिनि' को इसका आदि प्रवर्तक माना जाता है। किन्तु, उन्होंने संस्कृत-भाषा की ध्वनियों को जो व्यवस्था एवं विन्यास दिया है, संस्कृत-ध्वनियों को जितने वैज्ञानिक रूप में वर्गीकृत किया है, उससे यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि इस प्रकार के विवेचन का सूत्रपात भारत में 'पाणिनि' से भी पूर्व, निश्चय ही, हो चुका था। संक्षेप में, उपलब्ध तथ्यों के आधार पर 'पाणिनि' को तो आज भी इस क्षेत्र का प्राचीनतम आचार्य माना ही जाता है। वस्तुतः, ध्वनियों अथवा स्वनिमों का उच्चारण-स्थान एवं प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण करके, उन्हें भ्रान्तिरहित लिपिसंकेत देने का कार्य भी, सर्वप्रथम, भारत में ही हुआ था; विश्व के अन्य देश तो अभी तक भी इस क्षेत्र में भारत से पीछे ही हैं।

भारत की बात छोड़कर शेष संसार में भी स्वनिम (Phoneme) का अस्तित्व उतना पुराना तो है ही, जितनी पुरानी की वर्ण-लिपि है। कारण, बिना स्वनिमों के निश्चय हुए उनके लिए लिपि-संकेतों का निर्धारण असम्भव ही है। सामान्यतया वर्णलिपि का आविष्कार लगभग १२ वीं शताब्दी से माना जाता है। वैसे सन् १८७० ई० में प्रोफेसर 'कुर्तने' को 'ध्वनिग्राम' की धारणा से परिचित बतलाया जाता है, किन्तु जहाँ तक 'फोनीम' (Phoneme) शब्द के अस्तित्व का प्रश्न है, इसका निर्माण सर्वप्रथम सन् १८७६ ई० में 'हैवेट' नामक विद्वान् ने किया था। किन्तु अपने आधुनिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग, आगे चलकर सन् १८७९ ई० में 'क्रुशेव्स्की' (Kruszewski) ने अपने एक निबन्ध में किया था। उन्हीं दिनों 'हैनरी स्वीट' तथा 'पालपासी' ने ध्वन्यात्मक लिपि के अन्तगत 'स्थूल लेखन' के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया था, जिससे ज्ञात होता है कि ये दोनों विद्वान् भी 'फोनीम' शब्द के आशय से पूर्णतया परिचित थे।

२० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सन् १९२१ ई० के लगभग 'सास्यूर' तथा 'सापिर' नामक यूरोपीय विद्वानों ने फोनीम के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'सास्यूर' भाषाविज्ञान के 'जेनवा स्कूल' से और 'सापिर' 'अमेरिकी स्कूल' से सम्बन्धित थे। 'सास्यूर' की अपेक्षा भी 'सापिर' का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

इसके पश्चात् फोनीम-सम्बन्धी कार्य का विकास यूरोप में चार विशिष्ट केन्द्रों पर हुआ, और वे हैं 'प्राग', 'लन्दन', 'अमेरिका' एवं 'कोपेनहैगेन'।

उपर्युक्त केन्द्रों से सम्बन्धित विद्वानों में 'हेमस्लेव', 'ब्लूमफील्ड', ट्रूबेजकॉय, डैनियल जोन्स, रोमन याकोब्सन, आन्द्रे मार्तेन, एच० ए० 'ग्लीसन' तथा 'के० एल० पाइक' आदि के नाम इस क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'पाइक' द्वारा लिखी गयी 'फोनीमिक्स' नामक कृति इस विषय की स्वतन्त्र रचना है। 'याकोब्सन' ने

सन् १९२९ ई० में लिखे अपने लेख में फोनीम सम्बन्धी विचारधारा के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया है तथा 'आन्द्रे मार्तिन' ने फोनीम में ध्वन्यात्मक परिवर्तन का कारण 'प्रयत्नलाघव' को माना है।

विषयक्षेत्र—स्वनिमविज्ञान या ध्वनिग्रामविज्ञान का विषय है–भाषा में प्रयुक्त स्वनिमों या ध्वनिग्रामों का अध्ययन। किसी भाषा का मूल आधार उसका स्वनिम (ध्वनिग्राम)-समूह ही हुआ करता है। लेखन की दृष्टि से स्वनिम-समूह के लिए निश्चित लिपि-चिह्न ही उस भाषा की वर्णमाला कहलाते हैं। किन्तु, यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'स्वनिम' का सम्बन्ध केवल उच्चारण से होता है, लेखन से उसका सम्बन्ध नहीं होता है।

स्वनिम, प्रत्येक भाषा के स्वतन्त्र होते हैं। अर्थात् एक भाषा के स्वनिम अन्य भाषाओं से नितान्त पृथक् होते हैं और उसमें किसी प्रकार की भी समानता नहीं होती है। यदि ऐसी समानता कहीं प्रतीत भी हो, तो उसे केवल भ्रम ही समझना चाहिए।

अब तक विश्व की जितनी भाषाओं का अध्ययन हो चुका है उसके आधार पर भाषाविज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संसार की सभी भाषाओं में मूलभूत स्वनिमों की संख्या १५ से लेकर ५० तक है। ऐसी कोई भी भाषा नहीं है जिसमें १५ से कम या ५२ से अधिक स्वनिम पाये जाते हों।

स्वनिमविज्ञान या ध्वनिग्रामविज्ञान का विषय किसी भाषा में प्रयुक्त इन्हीं मूलभूत स्वनिमों (ध्वनिग्रामों) का अध्ययन-विश्लेषण है अर्थात् स्वनिम-विज्ञान के द्वारा यह ज्ञात किया जाता है कि किसी विशिष्ट भाषा में मूलभूत स्वनिमों (ध्वनिग्रामों या ध्वनियों) की संख्या कितनी है ?

स्वनिम क्या है ?—डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने 'स्वनिम' को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'स्वनिम उच्चरित भाषा का वह न्यूनतम अंश है, जो दो ध्वनियों का अन्तर प्रदर्शित करता है।"[1]

इस कथन की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं—

संस्कृत अथवा हिन्दी के ध्वनि-समूह में जितनी ध्वनियाँ हैं, वे परस्पर एक दूसरी से भिन्न हैं, उनमें कोई भी एक-जैसी नहीं है। अर्थात् क्, च्, त्, ट्, और प् आदि सभी ध्वनियाँ एक-दूसरी से भिन्न हैं। इस उपर्युक्त कथन के अनुसार इन ध्वनियों की भिन्नता का कारण यही है, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न स्वनिम हैं। अर्थात् अपनी श्रवण-सम्बन्धी विशेषता के कारण ये एक-दूसरी से भिन्न सुनाई पड़ती हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्वनिम ही उच्चरित भाषा का वह छोटे से छोटा अंश है, जो दो या अधिक ध्वनियों के अन्तर को स्पष्ट करता है।

'स्वनिम' की उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट होता है कि ध्वनियों में अन्तर का अभाव होने पर उन्हें भिन्न स्वनिम स्वीकार नहीं किया जाता है। यहाँ 'अन्तर' शब्द

१. भाषाविज्ञान की भूमिका, पृष्ठ २२५,

का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। अन्तर से यहाँ तात्पर्य है, उच्चारण में इतना स्थूल अन्तर, जिससे कि शब्द के अर्थ में भी अन्तर हो जाये। उदाहरण के लिए 'चाट' और 'चाप' शब्दों में 'ट्' और 'प्' ध्वनियों में इतना स्थूल अन्तर है कि उससे इनके अर्थों में भी स्पष्ट अन्तर हो गया है। अतः 'ट्' और 'प्' भिन्न स्वनिम है।

इसके विपरीत 'चाट' और चाप' में च् को एक ही स्वनिम माना जायगा, क्योंकि उच्चारण में सूक्ष्म अन्तर होने पर भी यह 'च्' यहाँ अर्थभेद का कारण नहीं है।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि स्वनिम उच्चरित भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का भेदक वह लघुतम अंश है, जिससे शब्दों के अर्थों में भी भेद हो जाता है।

ऊपर ध्वनियों के स्थूल एवं सूक्ष्म अन्तर का उल्लेख हुआ है, उसका कुछ अधिक स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है।

ध्वनियों में स्थूल एवं सूक्ष्म अन्तर

भाषा के व्यवहार में, सामान्यतया हम यह अनुभव करते हैं कि भाषा में ध्वनियों का उच्चारण प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक बार एक-सा ही करता है। किन्तु, स्थूल एवं व्यावहारिक दृष्टि से यह अनुभव जितना सत्य है, सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक दृष्टि से यह उतना ही असत्य भी है। कारण निम्नलिखित हैं—

(१) वैज्ञानिक परीक्षणों से, यन्त्रों द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि एक व्यक्ति भी यदि किसी एक ध्वनि (क् या च् या प् आदि) का उच्चारण एक से अधिक बार करता है, तो उसका प्रत्येक उच्चारण भी एक-दूसरे से भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक ही व्यक्ति 'च्' ध्वनि का उच्चारण दस बार करता है, तो वाग्यन्त्र में श्वासवायु के कम या अधिक होने, स्वरतन्त्रियों में कम्पन के कम या अधिक होने, मुखविवर में तालुस्थान पर जिह्वा (करण) के थोड़ा आगे या पीछे स्पर्श करने, स्पर्श के थोड़ा-सा कम या अधिक होने आदि के कारण उसकी प्रत्येक 'च्' ध्वनि 'दूसरी 'च्' ध्वनि से भिन्न होगी। परिणामस्वरूप, उसके द्वारा दस बार उच्चारित 'च्' ध्वनि भी दस प्रकार की हो जायगी।

(२) इसी प्रकार एक व्यक्ति के द्वारा उच्चरित 'च्' ध्वनि भी, दूसरे व्यक्ति द्वारा उच्चरित 'च्' ध्वनि से भिन्न होती है। क्योंकि दो व्यक्तियों का वाग्यन्त्र सर्वथा एक-सा न होने के कारण, उनके वाग्यन्त्र से उच्चरित ध्वनि भी एक-सी नहीं हो सकती। यही कारण है कि हम किसी व्यक्ति को विना देखे भी, उसकी आवाज से ही उसे पहिचान लेते हैं।

(३) इसी प्रकार, एक शब्द में उच्चरित ध्वनि का ही उच्चारण जब दूसरे शब्द में किया जाता है, तो यह एक ही ध्वनि अपने आसपास की ध्वनियों के प्रभाव से, उच्चारण की दृष्टि से भिन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ—'च्', 'चा', 'ची', 'चू', 'चे' और 'चो' आदि में प्रत्येक 'च्' ध्वनि अपने साथ आने वाले स्वरों के प्रभाव से दूसरी 'च्' ध्वनियों से भिन्नरूप हो

रही है। इसी प्रकार अचल, चपल, वचन आदि शब्दों में सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक 'च' दूसरी 'च' ध्वनि से भिन्न है। क्योंकि अपने आसपास की दन्त्य, ओष्ठ्य एवं अनुनासिक आदि ध्वनियों के प्रभाव से उसमें भी दन्त्यता, ओष्ठ्यता एवं अनुनासिकता आदि विशेषता आ जाती है।

अतः पुनरावृत्ति, व्यक्तिभेद, और पार्श्ववर्ती स्वर अथवा व्यञ्जन ध्वनियों के प्रभाव से एक ही ध्वनि भिन्नरूप हो जाती है। किन्तु, इतनी सूक्ष्म भिन्नता को स्वीकार करने पर तो एक ही भाषा में असंख्य ध्वनियाँ माननी पड़ेंगी, जो व्यावहारिक नहीं है। अतः ध्वनियों के इतने सूक्ष्म अन्तर को भाषा में महत्त्व नहीं दिया जाता तथा इन सभी मिलती-जुलती ध्वनियों को संस्वन या संध्वनियाँ कहा जाता है तथा ये सभी एक ही स्वानिम या ध्वनिग्राम का अंग होती हैं।

किन्तु, स्थूल दृष्टि से उपर्युक्त सभी 'च' ध्वनियाँ एक ही 'च' मानी जाती हैं। साथ ही, यह 'च' ध्वनि 'क', 'त' और 'प' आदि ध्वनियों से स्थूल दृष्टि से भी भिन्न हैं। कारण, 'चार', 'कार', 'तार', और 'पार' आदि शब्दों में (ा) और 'र' ध्वनियों के समान होने पर भी कार, तार, और 'पार' आदि शब्दों का अर्थ वही नहीं है, जो कि 'चार' का है। अतः, ये ध्वनियाँ स्थूल दृष्टि से भी भिन्न-भिन्न ही हैं।

स्वनिम और संस्वन या ध्वनिग्राम और संध्वनि

अतः, किस ध्वनि को भिन्न मानें और किस को नहीं, इसी का निर्धारण करने के लिए भाषा-विज्ञानयों ने स्वनिम (ध्वनिग्राम) एवं संस्वन (संध्वनि) शब्दों का आविष्कार किया है। तदनुसार यह मान लिया गया है कि जहाँ उच्चारण-भेद होने पर भी अर्थ में कोई भेद नहीं होता है, वहाँ उसे ध्वनि का सूक्ष्म भेद माना जायगा और ऐसी एक ही ध्वनि के भिन्न-भिन्न उच्चारण अनेक संस्वन या संध्वनियाँ कहलायेंगे तथा सभी भिन्न-भिन्न उच्चारणों का प्रतिनिधित्व करने वाली एक ध्वनि 'स्वनिम' या 'ध्वनिग्राम' कहलायेगी। इस प्रकार 'स्वनिम' तो भाषा में एक ही होगा, किन्तु उस स्वनिम की संस्वन (संध्वनियाँ) अनेक हो सकती हैं, जो उसी एक स्वनिम के अन्तर्गत मानी जायेंगी।

निष्कर्ष यह है कि सूक्ष्म दृष्टि से 'च' ध्वनि भिन्न-भिन्न होने पर भी, जिस कारण 'च' ही मानी जाती है तथा उसे 'क', 'त', और 'प' आदि ध्वनियों से भिन्न माना जाता है, वही कारण है कि यह 'च' स्वनिम या ध्वनिग्राम है तथा 'क' 'त' और 'प' आदि अन्य स्वनिमों की सत्ता से इसकी सत्ता भिन्न है।

स्वनिम की परिभाषा

स्वनिम की परिभाषा करना यद्यपि कठिन है, तथापि स्वनिम सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करते हुए विभिन्न, भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने स्वनिम को परिभाषित करने का प्रयास किया है। तदनुसार, कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

१. "स्वनिम अर्थ-भेद का साधक ध्वनि-भेद है।"

—डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका

2. "A Phoneme is a family of sounds, in a given language, which are related in character and used in such a way that no one member ever occurs in a word in the same phonetic context as any other member."

—Daniel Jones, An Outline of English Phonetics

3. "Phoneme···a minimum unit of distinctive sound feature."

—L. Bloomfield, Language.

4. "A phoneme in a given language is difined only in terms of its differences from the other phonemes of same language."

—हाकेट, A Course in Modern Linguistics.

5. "We may define a phoneme as a minimuni feature of the expression system of a spoken language by which one thing that may be said is distinguished from any other thing which might have been said."

—H. A. Gleason, Inroduction to Descriptive Linguisitics.

6. "A phoneme is a class of phonetically similar sounds contrasting and mutually exclusive with all similar classes in the language."

—B. Bloch & G. L. Trager, An Outline of Linguistic Analysis

7. "A phoneme is a group of phonetypes which are phonetically similar and either in complementary distribution or in free language."

—W. Nelson Francis, The Structure of American English.

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्वनिम के विषय में जो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ ज्ञात होती हैं, उन्हें हम सूत्ररूप में निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं:—

(१) स्वनिम का सम्बन्ध उच्चरित भाषा से है—अर्थात् भाषा का व्यवहार करते समय हम ध्वनि का उच्चारण जिस रूप में करते हैं, वही स्वनिम है। कभी-कभी उच्चारण और लेखन में अन्तर हो जाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी भाषा में Knight शब्द के उच्चारण में ना, इ, और ट—ये तीन स्वनिम हैं, किन्तु लेखन में K, n, i, g, h, और t—ये छह लेखिम हैं। अतः, ऐसे उदाहरणों में स्वनिम और लेखिम (ध्वनि और लिपिचिह्न) के अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए। पारिभाषिक

शब्दावली में एक झटके में उच्चरित एवं श्रुत ध्वनि-इकाई को स्वनिम तथा लिपि-चिह्न की इकाई को लेखिम कहा जाता है।

(२) **स्वनिम लघुतम ध्वनि-भेद है**—अर्थात् भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों में स्वनिम ही वह लघु से लघु सार्थक इकाई है, जिसका विश्लेषण किया जा सकता है। स्वनिम से पद बनते हैं, पद से वाक्य बनते हैं और तब वाक्य से अर्थ का ज्ञान होता है। अतः भाषा का आधार स्वनिम ही है।

(३) **स्वनिम मिलती-जुलती ध्वनियों का समूह या परिवार है**—जैसा पहले बतलाया जा चुका है। भाषा में प्रयुक्त किसी भी एक ध्वनि का उच्चारण सदैव एक-सा नहीं होता है। अतः, ध्वनियों के उच्चारण और श्रवण में सूक्ष्म अन्तर को महत्त्व न देते हुए, उन सभी उच्चारणों को एक माना जाता है। इस प्रकार 'क्' ध्वनि के विभिन्न उच्चारण एक ही 'क्' स्वनिम के अन्तर्गत रहते हैं और इस प्रकार एक ही 'क्' स्वनिम अनेक मिलती-जुलती ध्वनियों का समूह या परिवार होता है।

(४) **प्रत्येक भाषा के अपने स्वनिम होते हैं**—यह ध्यान रखने योग्य है, कि स्वनिम-विचार भाषा-विशेष के सन्दर्भ में ही किया जाता है, सर्वसामान्य स्वनिम-जैसी कोई वस्तु नहीं होती है। अतः, प्रत्येक भाषा के स्वनिम अपने पृथक् होते हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न भाषाओं के स्वनिम भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

(५) **एक स्वनिम दूसरे स्वनिम से भिन्न होता है**—जिस प्रकार 'क' ध्वनि के उच्चारण में सूक्ष्म अन्तर रखने वाले भेद 'क' स्वनिम के ही अन्तर्गत आते हैं, उसी प्रकार 'ख' के विभिन्न उच्चारण भी 'ख' स्वनिम के अन्तर्गत आयेंगे। इस प्रकार भाषा में एक-सी ध्वनियों का प्रतिनिधित्व एक ही स्वनिम करता है, दो या अधिक नहीं। अतः, भाषा में सभी स्वनिम एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, तथा एक-जैसी ध्वनियाँ केवल एक ही स्वनिम के अन्तर्गत आती हैं। उदाहरणार्थ—'क', 'त', 'प' आदि।

(६) **शब्द में स्वनिम-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है**—उदाहरण 'कल' शब्द में 'क' स्वनिम के स्थान पर यदि 'त' या 'प' स्वनिम का प्रयोग कर दिया जाय तो इस का अर्थ भी बदल जाता है।

(७) **एक स्वनिम की संस्वन अर्थ-भेदक नहीं होती हैं**—पहले उच्चारण में सूक्ष्म अन्तर का उल्लेख हो चुका है। एक ही ध्वनि का उच्चारण व्यक्ति-भेद अथवा ध्वन्यात्मक सन्दर्भ (आसपास की ध्वनियों का प्रभाव) भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। एक ही ध्वनि के सूक्ष्म अन्तर रखने वाले ये उच्चारण संस्वन (संध्वनियाँ) कहलाते हैं। इस सूक्ष्म उच्चारण-भेद से शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है। अतः, कहा गया है कि संस्वन अर्थ-भेदक नहीं होती हैं।

(८) **स्वनिम का ज्ञान अन्य स्वनिमों के ज्ञान पर निर्भर करता है**—अर्थात् 'क' स्वनिम को हम 'क्' स्वनिम इसीलिए कहते हैं, चूँकि हमें इससे भिन्न 'त्' और 'प्' आदि स्वनिमों का ज्ञान होता है। 'क्' की तुलना 'त्' और 'प्' आदि से

करने पर ही हमें यह ज्ञात होता है कि यह 'क्' स्वनिम है, 'त्' या 'प्' नहीं है। अतः, स्वनिम के ज्ञान को तुलनात्मक कहा गया है।

भाषाविशेष में स्वनिमों एवं संस्वनों का अध्ययन

स्वनिम-विज्ञान का लक्ष्य भाषाविशेष के स्वनिमों एवं संस्वनों का अध्ययन-विश्लेषण एवं पृथक्करण होता है। अतः, यहाँ उस अध्ययन की प्रक्रिया को संक्षेप में प्रस्तुत करना उपयोगी है।

(१) **सूचक एवं सामग्री**—भाषाविशेष में स्वनिमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम, उस भाषा के शब्दों को एकत्र किया जाता है। स्वनिम चूँकि उच्चरित भाषा की विशेषता है, अतः उस भाषा को अधिकाधिक प्रकृत रूप में बोलने वाले किसी व्यक्ति से सुनकर सामग्री संकलित की जाती है। जिससे भाषा को सुना जाता है, वह व्यक्ति पारिभाषिक शब्दावली में सूचक कहा जाता है।

(२) **ध्वन्यात्मक लिपि का प्रयोग**—संकलित सामग्री को सामान्य लिपि में न लिख कर ध्वन्यात्मक लिपि में इस प्रकार लिखा जाता है कि जिससे भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक ध्वनि की सूक्ष्म से सूक्ष्म भी विशेषता प्रकट हो जाय। ऐसा करते समय प्रत्येक स्वर ध्वनि को इस प्रकार लिखा जाता है कि उसके विषय में यह पूर्णतया माना जा सके कि वह स्वर ध्वनि—

(१) घोष है या अघोष है या अर्द्धघोष (मर्मर) है,
(२) ह्रस्व है या दीर्घ है या प्लुत है,
(३) संवृत है या विवृत है,
(४) वृत्तमुखी है या अवृत्तमुखी है,
(५) अग्र है, मध्य है या पश्च है,
(६) अनुनासिक है या अननुनासिक है,
(७) सुर अथवा बलाघात से युक्त है या रहित है,
(८) अनाक्षरिक है या नहीं यदि अनाक्षरिक है तो कितनी मात्रा में हैं।

आदि-आदि विशेषताओं को पूर्णतया सूक्ष्म लेखन द्वारा प्रकट किया जाता है।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यंजन ध्वनि को भी इस प्रकार लिखा जाता है कि जिससे उसके विषय में भी यह पूर्णतया जाना जा सके, कि वह व्यंजन ध्वनि—

(१) स्थान की दृष्टि से कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य आदि में से कौन-सी है तथा अपने प्रकृत स्थान से ही उच्चरित होती है या कुछ आगे-पीछे से।

(२) प्रयत्न की दृष्टि से स्पर्श है, संघर्षी है या अन्य कोई ; यदि स्पर्श है तो स्फोटित है या अस्फोटित, पूर्ण स्पर्श है या अपूर्ण स्पर्श है।

(४) अनुनासिक है या अननुनासिक है,
(४) आक्षरिक है या नहीं है।

आदि-आदि सूक्ष्म विशेषताओं को सावधानीपूर्वक प्रकट किया जाता है।

ध्वनि-चार्ट—उपर्युक्त रीति से भाषा में प्रयुक्त शब्दों को ध्वन्यात्मक लिपि

में सूक्ष्मता से लिख लेने के उपरान्त ध्वनियों का चार्ट बनाया जाता है। स्वरों तथा व्यञ्जनों को पृथक्-पृथक् चार्ट में रक्खा जाता है। स्वरों का चार्ट बनाते समय स्वरों की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर उन्हें घोष-अघोष, अग्र-पश्च, विवृत संवृत आदि दिखलाया जाता है। इसी प्रकार व्यञ्जनों को भी स्थान एवं प्रयत्न आदि की दृष्टि से प्रदर्शित किया जाता है।

(३) स्वनिम एवं संस्वन का निर्धारण—स्वनिमविज्ञान का उद्देश्य, चूँकि, भाषा-विशेष में प्रयुक्त स्वनिमों एवं संस्वनों को पृथक् करना है, अतः भाषाविशेष में प्रयुक्त ध्वनियों का चार्ट बन जाने पर, उनकी गणना करके यह सहज ही जाना जा सकता है कि उस भाषा में कितनी ध्वनियाँ हैं। उन सभी ध्वनियों को भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में संस्वन (संध्वनियाँ) कहा जाता है। पुनः, संस्वनों (संध्वनियों) का अध्ययन-विश्लेषण एवं वर्गीकरण करके यह निर्धारित किया जाता है कि विवेच्य भाषा में कितनी संस्वन (संध्वनियाँ) तथा कितने स्वनिम (ध्वनिग्राम) हैं। उदाहरणार्थ—यदि विवेच्य भाषा में—सरस, साहित्य, रसिक, सुन्दर—ये चार ही शब्द हैं, तो इन चारों शब्दों का विश्लेषण करने पर व्यञ्जन ध्वनियों में से—

स् ध्वनि = ५ बार प्रयुक्त है,
र् " = ३ " "
ह् " = १ " "
त् " = १ " "
य् " = १ " "
क् " = १ " "
न् " = १ " "
द् " = १ " "
—
१४
=

इसी प्रकार स्वर ध्वनियों में से—

अ ध्वनि = ८ बार प्रयुक्त है (स, र, स, य, र, क और र में)।
आ " = १ " "
इ " = २ " "
उ " = १ " "
—
१२
=

इस प्रकार गणना करने पर उपर्युक्त भाषा में ध्वनियों की कुल संख्या १४ व्यञ्जन + १२ स्वर = २६ है। किन्तु, किसी भी भाषा में शब्दों की संख्या बहुत

अधिक होती है। अतः, यदि प्रत्येक ध्वनि को इसी प्रकार पृथक्-पृथक् गिना जाय और प्रत्येक ध्वनि के लिए पृथक्-पृथक् लिपि-चिह्न बनाया जाये; तो भाषा को व्यवहार में लाना ही असम्भव-सा हो जायेगा। इसलिए स्वनिमविज्ञान के द्वारा उपर्युक्त विवेच्य भाषा की कुल २६ ध्वनियों को लेकर यह विचार किया जायेगा कि उनमें से कितनी स्वनिम (ध्वनिग्राम) हैं और कितनी संस्वन (संध्वनियाँ) हैं। जिससे स्वनिमों की गणना पृथक्-पृथक् की जा सके तथा संस्वनों को उन्हीं स्वनिमों का अङ्ग माना जा सके। और, लिपिचिह्न बनाते समय भी उन्ही का प्रयोग किया जाय।

उपर्युक्त विवेच्य भाषा को देखने पर ज्ञात होता है कि उसमें 'स्' ध्वनि ५ वार प्रयुक्त हुई है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो निश्चय ही ये पाँचों 'स्' ध्वनियाँ पृथक्-पृथक् हैं, क्योंकि अपने आसपास की ध्वनियों से प्रभावित होने के कारण उनमें से प्रत्येक का उच्चारण भिन्न होता है, तथापि व्यवहार में उन्हें एक ही स्वनिम माना जाता है। अर्थात् ५ 'स्' ध्वनियों में से, अधिक स्थानों पर प्रयुक्त होने वाली 'स्' ध्वनि स्वनिम होगी, तथा उस 'स्' ध्वनि के भिन्न-भिन्न उच्चारण उसके संस्वन होंगे।

स्वनिम तथा संस्वन को प्रदर्शित करने के लिए स्वनिमविज्ञान में एक विशेष पद्धति का सहारा लिया जाता है। स्वनिम को दो खड़ी रेखाओं के मध्य तथा संस्वन को कोष्ठकों में प्रदर्शित किया जाता है। अर्थात् उपर्युक्त विवेच्य भाषा के स्वनिमों को इस प्रकार दिखलाया जायेगा—

स्वनिम	संस्वन	
।स्। = १	[स्^{1}] [स्^{2}] [स्^{3}] [स्^{4}] [स्^{5}]	= ५
।र्। = १	[र्^{1}] [र्^{2}] [र्^{3}]	= ३
।ह्। = १	[ह्]	= १
।त्। = १	[त्]	= १
।य्। = १	[य्]	= १
।क्। = १	[क्]	= १
।व्। = १	[व्]	= १
।द्। = १	[द्]	= १
।अ। = १	[अ^1] [अ^2] [अ^3] [अ^4] [अ^5] [अ^6] [अ^7] [अ^8]	= ८
।आ। = १	[आ]	= १
।इ। = १	[इ^1] [इ^2]	= २
।उ। = १	[उ]	= १
१२		२६

इस प्रकार निर्णय किया जायगा, कि उपर्युक्त भाषा में २६ ध्वनियाँ हैं (यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग सामान्य भाषा ध्वनि के अर्थ में है), १२ स्वनिम हैं, तथा 'स्' स्वनिम की ५ एवं र् स्वनिम की ३ एवं 'अ' स्वनिम की ८ संस्वन हैं। इसी प्रकार अन्य स्वनिम और उनकी संस्वनों को भी बतलाया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेच्य भाषा के 'सरस', साहित्य, रसिक और 'सुन्दर' शब्दों में ।अ। स्वनिम की ८ संस्वन बतलायी गयी हैं। यह बहुत ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन, विषय को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। वस्तुतः यहाँ सरस और 'रसिक' के 'र' में 'अ' ध्वनि बिलकुल एक-सी ही है। अतः, ऐसी दशा में यहाँ ८ संस्वन के स्थान पर ७ संस्वन मानी जायेंगी। परिणामस्वरूप, यह समझना भ्रम होगा, कि भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक ध्वनि, निश्चय ही, पृथक् संस्वन गिनी जानी चाहिए।

(४) वितरण— भाषाविशेष की ध्वनियों का चार्ट बन जाने पर, उसमें प्राप्त मिलती-जुलती दो या अधिक ध्वनियों के विषय में यह सन्देह हो सकता है, कि वे भिन्न-भिन्न स्वनिम हैं या एक ही स्वनिम की संस्वन हैं। इस सन्देह का निवारण वितरण के आधार पर किया जाता है। अंग्रेजी में इसे Disribution कहा जाता है। भाषाविज्ञान में यह एक पारिभाषिक शब्द है, जिसके तीन भेद हैं—(i) विरोधी या व्यतिरेकी वितरण (Contrasting distribution), (ii) परिपूरक वितरण (Complementary distribution) और (iii) मुक्त वितरण या परिवर्तन (Free distribution or Variation)।

(i) विरोधी वितरण—विवेच्य भाषा की ध्वनियों के चार्ट में मिलती जुलती ध्वनियों के विषय में सन्देह होने पर उनके युग्म बनाये जाते हैं तथा उन्हें सन्दिग्ध युग्म कहा जाता है। उदाहरणार्थ—विवेच्य भाषा में 'म' और 'न' इन दो ध्वनियों के विषय में सन्देह होने पर इन्हें (म न) इस प्रकार युग्म बनाया जायेगा। फिर उस भाषा में प्राप्त उन सभी शब्दों पर विचार किया जायगा, जिनमें इन ध्वनियों का प्रयोग हुआ है। यदि ये दोनों ध्वनि समान परिस्थिति या वातावरण में प्रयुक्त होती हैं तथा इनसे शब्द के अर्थ में भेद हो जाता है, तो इन्हें विरोधी वितरण के आधार पर भिन्न-भिन्न स्वनिम माना जायेगा। उदाहरण के लिए—'शाम' और 'शान' शब्दों में या 'काम' और 'कान' शब्दों में 'म' और 'न' ध्वनियों का प्रयोग क्रमशः 'शा' और 'का' के बाद है, अतः इनका वातावरण एकसा ही है, किन्तु 'म' और 'न' से इन शब्दों में ध्वन्यात्मक अन्तर के साथ ही साथ अर्थ में भी अन्तर हो रहा है। अतः 'म' और 'न' भिन्न-भिन्न स्वनिम माने जायेंगे। स्वनिम की परिभाषा में इसीलिये 'स्वनिम' को अर्थभेद का द्योतक ध्वनिभेद कहा गया है।

(ii) परिपूरक वितरण—जब ध्वनि-चार्ट में मिलती-जुलती दो या अधिक ध्वनियाँ, इस प्रकार प्रयुक्त होती हैं, कि उनमें से प्रत्येक की परिस्थिति या वातावरण दूसरी ध्वनि से भिन्न होता है, तथा उस ध्वनि के कारण शब्द के अर्थ में भेद नहीं होता है, तो इसको परिपूरक वितरण कहा जाता है। अर्थात् भाषा में सभी ध्वनियाँ एक-दूसरे की पूरक होती हैं। भाषा इन सबको स्वीकार करके ही पूर्ण होती है।

ये ध्वनियाँ एक परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्यों की भाँति ही अपने-अपने क्षेत्र में व्यवहृत होती हैं। परिपूरक वितरण के आधार पर इनमें से सर्वाधिक स्थानों पर प्रयुक्त ध्वनि को स्वनिम तथा अन्य ध्वनियों को उसका संस्वन माना जाता है। उदाहरणार्थ—पढ़ना, पतङ्ग, पानी तथा आप्, चाप् और जाप्—शब्दों में 'प्' ध्वनि दो प्रकार की है। पढ़ना, पतङ्ग और पानी में स्फोटित तथा आप्, चाप् और जाप् आदि में अस्फोटित। इन दोनों का वातावरण पृथक्-पृथक् है—स्फोटित का प्रयोग शब्द के प्रारम्भ में तथा अस्फोटित का शब्द के अन्त में है। अतः, ये एक-दूसरे की परिपूरक हैं। इनमें से सर्वाधिक स्थानों पर प्रयुक्त होने वाली 'प' ध्वनि को स्वनिम तथा 'प' और 'प्' को उसका संस्वन माना जायगा, और इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जायगा—

।प। = [प्] [प्]

ध्यान रहे कि स्वनिम पृथक् रहने के साथ ही साथ संस्वनों में भी गिना जाता है।

संक्षेप में, परस्पर विरोध न रखने वाली तथा परिपूरक वितरण में रहने वाली दो या अधिक ध्वनियाँ संस्वन (संध्वनियाँ) कहलाती हैं, तथा उन्हीं में से सर्वाधिक स्थानों पर प्रयुक्त एक संस्वन (संध्वनि) स्वनिम (ध्वनिग्राम) मान ली जाती है तथा शेष अन्य उसकी संस्वन (संध्वनियाँ) मानी जाती हैं।

(iii) मुक्त वितरण या परिवर्तन—इसे स्वच्छन्द परिवर्तन भी कहा जाता है। यदि विवेच्य भाषा में दो या अधिक ध्वनियाँ, बिना अर्थ परिवर्तन किये ही, एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होती रहती हैं, तो इसे मुक्त वितरण या परिवर्तन कहा जाता है। ऐसा प्रायः अशुद्ध उच्चारण या बोलने की असामर्थ्य के कारण होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति 'आशा' शब्द में 'श' के स्थान पर 'स' ध्वनि का प्रयोग करता है, किन्तु श्रोता उसका अर्थ 'आशा' ही ग्रहण करता है, तो ऐसी दशा में 'स' को भी 'श' का ही संस्वन माना जाता है, भिन्न स्वनिम नहीं। कारण, स्वनिम की भिन्नता के लिए अर्थ की भिन्नता होना अनिवार्य है।

ऊपर भाषा में प्रयुक्त स्वरों या व्यंजनों को स्वनिम कहा गया है। किन्तु केवल स्वर और व्यजन ही स्वनिम होते हैं, ऐसी बात नहीं है। स्वरों और व्यंजनों के साथ ही साथ भाषा का प्रत्येक बाह्य सार्थक उपकरण स्वनिम होता है, क्योंकि उससे भी शब्द के अर्थ में भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ—आधी और आँधी में अनुनासिकता स्वनिम है; बचा और बच्चा में मात्रा स्वनिम है (यहाँ 'च्च' व्यंजन दीर्घमात्रिक है)। इसी प्रकार चीनी आदि अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में 'सुर' भी स्वनिम होता है। हिन्दी में चलन और चल-न में संगम को भी अर्थ-भेदक होने के कारण स्वनिम माना गया है। इस प्रकार स्वर, व्यंजन, अनुनासिकता, मात्रा, सुर, बलाघात (अंग्रेजी भाषा में विशेषतः) तथा संगम आदि भाषा का प्रत्येक बाह्य सार्थक उपकरण स्वनिम होता है।

[अध्याय ९]

रूपविज्ञान
एवं
रूपग्राम-विज्ञान

१. शब्द तथा पद में अन्तर
२. अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व
३. सम्बन्धतत्त्व के प्रकार
४. अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व का संयोग
५. संस्कृत तथा हिन्दी में सम्बन्धतत्त्व के प्रकार
६. सम्बन्धतत्त्व के कार्य
७. पद-विभाग
८. रूपपरिवर्तन की दिशाएँ
९. रूपपरिवर्तन के कारण
१०. शब्दों का आगम, लोप तथा विपर्यय
११. रूपग्राम (रूपिम)-विज्ञान
१२. रूपध्वनिग्राम-विज्ञान

[अध्याय ६]

रूपविज्ञान

[Morphology)

भाषाविज्ञान के अङ्गों की चर्चा में रूपविज्ञान या पदविज्ञान को उसका प्रमुख अङ्ग माना गया है। यहाँ उसी पर विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा।

अपने विचारों को प्रकट करने के लिए मनुष्य जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह भाषा छोटे-बड़े अनेक वाक्यों का समूह होती है। प्रायः, एक विचार के लिए भाषा में एक वाक्य का प्रयोग होता है। इसीलिए वाक्य को भाषा की इकाई माना गया है। वाक्य का विश्लेषण हम पदों में कर सकते हैं। पदविज्ञान या रूपविज्ञान के अन्तर्गत इन्हीं पदों पर विचार किया जाता है। इस प्रकरण में 'पद' और 'रूप' दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। शब्द में तथा पद में भेद है। सार्थक ध्वनि-समूह को शब्द कहते हैं तथा शब्द का वाक्य में प्रयोगार्ह रूप पद कहलाता है। शब्द जिस प्रकार पद बनता है, यह आगे स्पष्ट किया जायगा।

१. शब्द तथा पद में अन्तर

सामान्यतया, शब्द तथा पद में अन्तर नहीं किया जाता तथा बोलचाल में दोनों के लिये 'शब्द' का व्यवहार कर लिया जाता है, किन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है। इस अन्तर को संस्कृत के वैयाकरणों ने सदैव ध्यान में रक्खा है। पाणिनि के अनुसार सुबन्त तथा तिङन्त को पद कहते हैं।*

पाणिनिकृत पद की उपर्युक्त परिभाषा को समझने के लिए यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि संस्कृत-वैयकरणों के अनुसार शब्द का शुद्ध रूप 'प्रातिपदिक' कहा जाता है। इसे हम मूलशब्द भी कह सकते हैं। संस्कृत-छात्र प्रायः कहा करता है कि "राम के रूप मुझे याद हैं।" इस वाक्य में 'राम' मूल शब्द या प्रातिपादिक है तथा 'रूप' शब्द, पद का प्रतिनिधि है। यदि ऐसे किसी छात्र से 'राम' के रूप सुने जायें, तो वह सुनाना प्रारम्भ करेगा:—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा विभक्ति	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया विभक्ति	रामम्	रामौ	रामान्, इत्यादि।

अर्थात् 'राम' मूल शब्द हुआ और "राम" से लेकर सप्तमी विभक्ति, बहुवचन

*सुप्तिङन्तं पदम्—अष्टाध्यायी १/४/१३
येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः भवति। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।
—महाभाष्य, प्रथमाह्निक

तक राम के २१ रूप हुए, जो 'राम' मूलशब्द के अन्त में 'सुप्' प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं और 'सुबन्त' (अर्थात् सुप् प्रत्यय हैं अन्त में जिनके) कहलाते हैं ।

इसी प्रकार संस्कृत में क्रियापद के मूलरूप को 'धातु' कहा जाता है । 'पठ्', 'गम्' आदि धातु हैं, जिनके अन्त में 'तिङ्' आदि प्रत्यय जोड़कर—

प्रथम पुरुष =पठति पठतः पठन्ति । इत्यादि ।

रूप बनाये जाते है ।

संस्कृत में इसीलिए मूल शब्द को 'प्रातिपादिक' कहते हैं, क्योंकि यह उस मूल शब्द से बनने वाले प्रति (प्रत्येक) पद में विद्यमान रहता है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा में 'शब्द' तथा 'पद' में स्पष्ट अन्तर माना जाता है तथा विना 'पद' या 'रूप' बनाये किसी भी मूल शब्द (प्रातिपादिक या धातु) का वाक्य में प्रयोग नहीं किया जाता है । इसके लिए संस्कृत वैयाकरणों ने स्पष्ट निर्देश दिया है—

"नाविभक्तिकं पदं प्रयुञ्जीत ।"

अर्थात् विभक्ति-रहित पद का प्रयोग भाषा में नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार—

"नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या,
नापि केवलः प्रत्ययः ।" —पतञ्जलि ।

अर्थात् न तो केवल प्रकृति (मूलशब्द-प्रातिपादिक या धातु) का प्रयोग करना चाहिये और न ही केवल प्रत्यय (सुप्, तिङ् आदि) का ।

संस्कृत के अतिरिक्त; हिन्दी आदि भाषाओं में भी मूल शब्द तथा वाक्य-प्रयुक्त शब्द में अन्तर रहता है । मूल शब्द अपने शुद्ध रूप में रहता है; जैसा कि कोश आदि में-(१) घोड़ा, (२) घास, (३) खाना आदि । किन्तु वाक्य-प्रयुक्त शब्द के साथ सम्बन्धतत्त्व भी जुड़ा रहता है; जैसे—"घोड़े ने घास को खाया ।" यहाँ 'ने' 'को' 'ा' आदि सम्बन्धतत्त्व अर्थात् विभक्तियाँ ही हैं । यह वाक्य-प्रयुक्त सम्बन्धतत्त्वयुक्त पद ही वस्तुतः पद होता है, जिसे गौणरूप से शब्द भी कह दिया जाता है ।

कभी-कभी मूलशब्द तथा वाक्य-प्रयुक्त पद या रूप में कोई स्वरूपगत भेद दिखलाई नहीं पड़ता है । ऐसे स्थलों पर सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि शब्द वाक्य में प्रयुक्त है और उसका अन्वय ठीक हो रहा है तो वह 'पद' ही है, शब्द नहीं; क्योंकि, मुख्य नियम यही है कि विना पद बने किसी भी मूलशब्द का वाक्य में प्रयोग हो ही नहीं सकता है । यही बात अयोगात्मक भाषाओं के सम्बन्ध में भी जान लेनी चाहिए—क्योंकि वहाँ पर शब्द को पद बनाने के लिये पृथक् रूप से किसी सम्बन्ध तत्त्व को नहीं जोड़ा जाता है; अपितु मूल शब्द, वाक्य में अपने स्थान आदि के कारण ही पदत्व को प्राप्त हो जाता है ।

२. अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मूलशब्द, प्रकृति, धातु या प्रातिपादिक

तथा पद में यह अन्तर है कि मूलशब्द में वाक्य में प्रयुक्त होने की योग्यता नहीं होती तथा पद में सम्बन्धतत्त्व के जुड़ने से यह योग्यता आ जाती है । इस प्रकार ज्ञात होता है कि—

मूलशब्द + सम्बन्धतत्त्व = पद होता है ।

भाषाविज्ञान में इस मूलशब्द को ही अर्थतत्त्व या अर्थमात्र तथा सम्बन्धतत्त्व को रूपमात्र भी कहा जाता है। अर्थतत्त्व से उस पद के अर्थ का ज्ञान होता है तथा रूपमात्र या सम्बन्धतत्त्व से, वाक्य में अन्य पदों से उस पद के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए—

बालकः पुस्तकं पठति ।

संस्कृत के इस वाक्य में अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व की स्थिति इस प्रकार है—

	अर्थतत्त्व	+	सम्बन्धतत्त्व	= पद
(१)	बालक	+	सु (:)	= बालकः
(२)	पुस्तक	+	अम्	= पुस्तकम्
(३)	पठ् (अ)	+	ति	= पठति

अर्थात् यहाँ 'बालक', 'पुस्तक' तथा 'पठ्' अर्थतत्त्व से क्रमशः 'बालक', 'पुस्तक' संज्ञाओं तथा 'पठ्' क्रियारूप अर्थ का ज्ञान हो रहा है, जबकि 'सु (:)' बालक के कर्तृत्व को, 'अम्' पुस्तक के कर्मत्व को तथा 'ति' क्रिया के वर्तमानकालादि को प्रकट कर रहा है। वाक्य में कहीं भी प्रयुक्त होने पर अर्थतत्त्व तो सदा यही रहेगा; किन्तु सम्बन्धतत्त्व प्रयोग के अनुसार वदल सकता है। जैसे, बालक कर्तारूप के अतिरिक्त कर्मरूप, करणरूप, सम्प्रदानरूप आदि अन्य रूपों में भी प्रयुक्त हो सकता है। इसी प्रकार पुस्तक भी अन्य कारकों में प्रयुक्त हो सकता है। पठ् क्रिया का प्रयोग भी भूतकाल और भविष्यत्काल में किया जा सकता है।

इसी प्रकार हिन्दी में:—

"राम ने मोहन को डण्डे से पीटा।"

इस वाक्य में 'राम', 'मोहन', 'डण्डा' तथा 'पीटना' अर्थतत्त्व हैं। वाक्य में कहीं भी प्रयुक्त होने पर इनका अर्थ यही रहेगा। 'ने', 'को', 'से' तथा 'ा' यहाँ सम्बन्धतत्त्व हैं, जो अपने-अपने अर्थतत्त्व का सम्बन्ध वाक्य के दूसरे पदों से बतला रहे हैं। 'ने' बतला रहा है कि 'राम' पीटने वाला है, 'को' बतला रहा है कि मोहन पिटने वाला है, 'सें' वतला रहा है कि पीटने का साधन (करण) डण्डा है तथा पीटा (पीटना + ा) में 'ा' बतला रहा है कि पीटने की क्रिया भूतकाल में हुई है।

इसके विपरीत यदि सम्बन्धतत्त्व को हटाकर केवल अर्थतत्त्व का प्रयोग किया जायगा तो वाक्य का कोई भी स्पष्ट अर्थ नहीं निकलेगा। अतः, अर्थतत्त्व के साथ सम्बन्धतत्त्व को जोड़कर ही पद वनाये जाते हैं तथा वाक्य में पदों का ही प्रयोग होता है।

३. सम्बन्धतत्त्व के प्रकार

ऊपर कहा जा चुका है कि 'मूलशब्द', सम्बन्धतत्त्व के साथ जुड़कर वाक्य में प्रयोग किये जाने के योग्य बन जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी भाषाओं में सम्बन्धतत्त्वों का प्रयोग होता है। विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त सम्बन्धतत्त्वों के जितने भेद हैं, अथवा किसी एक ही भाषा में ज़िस-जिस प्रकार के सम्बन्धतत्त्वों का प्रयोग होता है, उन सबका परिचय यहाँ दिया जायेगा। संक्षेप में, सम्बन्धतत्त्वों के निम्नलिखित प्रकार हैं—

(१) शब्द का स्थान

चीनी आदि अयोगात्मक भाषाओं में, वाक्य में शब्द के स्थान से ही सम्बन्धतत्त्व का प्रकाशन हो जाता है। उदाहरणार्थ—

न्गो ता नी = मैं तुझे मारता हूँ। (कर्ता)

नी ता न्गो = तू मुझे मारता है। (कर्म)

यहाँ 'न्गो' शब्द वाक्य में अपने स्थान से ही क्रमशः 'कर्ता' तथा 'कर्म' बन रहा है।

यद्यपि प्रधान रूप से यह विशेषता अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में ही मिलती है तथापि हिन्दी, अंग्रजी आदि योगात्मक वर्ग की भाषाओं में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं।

नीचे के वाक्यों में 'लड्डू' तथा 'राम' शब्द द्रष्टव्य हैं—

हिन्दी :—लड्डू बन रहा है। (कर्ता)
मैं लड्डू खाता हूँ। (कर्म)
अंग्रेजी:—Ram killed Raj. (कर्ता)
Raj killed Ram. (कर्म)

संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के कुछ समासयुक्त पदों में भी स्थान के कारण सम्बन्धतत्त्व के प्रकट होने से शब्दों का विशिष्ट अर्थ होता है, जो उनके स्थान को बदल देने पर नहीं रहता; उदाहरणार्थ—

संस्कृत:— ग्राममल्लः = ग्राम का मल्ल (पहलवान)।
मल्लग्रामः = मल्लों (पहलवानों) का ग्राम।
हिन्दी:— कार्यगृह = कार्य का घर (स्थान)।
गृहकार्य = घर का कार्य।
अंग्रेजी:—Gold medal = सोने का तमगा।
medal-Gold = तमगे का सोना।

उपर्युक्त सभी समस्त पदों में शब्दों का स्थान बदल देने से उनका अर्थ भी बदल जाता है।

(२) शून्य सम्बन्धतत्त्व

कभी-कभी कोई शब्द अपने मूलरूप में ही वाक्य में प्रयुक्त दिखलायी पड़ता

है। संस्कृत में, प्रथमा विभक्ति, एकवचन में प्रयुक्त सरित्, मरुत्, नदी, स्त्री, वारि आदि संज्ञा शब्द अपने मूल रूप में (प्रातिपादिक) ही दिखलायी पड़ते हैं। संस्कृत में इन्हें पदत्व प्रदान करने के लिए सु प्रत्यय तो होता है, क्योंकि बिना विभक्ति के शब्द का संस्कृत में प्रयोग नहीं हो सकता, किन्तु उपर्युक्त प्रयोगों में 'सु' प्रत्यय का लोप कर दिया जाता है। अतः, ऐसे स्थलों में भाषावैज्ञानिक शून्य विभक्ति या शून्य सम्बन्ध-तत्त्व मानते हैं।

हिन्दी में 'पढ़', 'लिख', 'हंस', 'रो', 'गा' आदि क्रियाओं के आज्ञासूचक रूप भी ऐसे ही हैं।

अंग्रेजी में go, do आदि का प्रयोग I, you, we आदि के साथ बिना किसी सम्बन्धतत्त्व के ही होता है।

(३) स्वतन्त्र शब्द

अनेक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व का काम स्वतन्त्र शब्दों से लिया जाता है।

(i) संस्कृत के - 'इति', 'एव', 'च', 'अर्थ' आदि अव्यय शब्द;

(ii) हिन्दी के परसर्ग—ने, की, से, के लिए, से (अपादान), का, में आदि।

(iii) चीनी के रिक्त शब्द—त्सि (=का), यु (=को), त्सुंग (=से) और लि (=पर) आदि;

(iv) अंग्रेजी के—to, from, on, in आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

(४) ध्वनि-प्रतिस्थापन

ध्वनि-प्रतिस्थापन भी ३ रूपों में मिलता है—

(i) स्वर-प्रतिस्थापन या अपश्रुति

कभी-कभी शब्द में केवल स्वर-परिवर्तन के द्वारा ही सम्बन्धतत्त्व को प्रकट किया जाता है—

संस्कृत के देव से दैव, पुत्र से पौत्र, दशरथ से दाशरथि आदि; हिन्दी में—लिख से लिखा, पढ़ से पढ़ा, मर से मरा आदि; अंग्रेजी में (Sing से Sang और Sung, Come से Came, tooth से teeth आदि, ऐसे ही उदाहरण हैं।

अरबी आदि अन्तर्मुखी विभक्तिप्रधान भाषाएँ इसका प्रमुख उदाहरण हैं। उनमें आन्तरिक स्वर के परिवर्तन से ही सम्बन्धतत्त्व को प्रकट किया जाता है। जैसे—क़तल, क़ातिल, क़ित्ल, क़ुतिल; किताब, कातिब, कुतुब आदि।

(ii) व्यंजन-प्रतिस्थापन

अंग्रेजी में Advice से Advise तथा Send से Sent आदि इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

(iii) स्वर तथा व्यंजन प्रतिस्थापन

संस्कृत में पच् से अपाक्त (लुङ्); हिन्दी में 'जा' से 'गया', अंग्रेजी में Go से Went आदि उदाहरण इसी कोटि के हैं।

(५) ध्वनि-द्विरावृत्ति

मूल शब्द में, मध्य या अन्त में, कुछ ध्वनियों की द्विरावृत्ति से भी यदा-कदा

सम्बन्धतत्त्व का काम लिया जाता है। एक अफ्रीकी भाषा का यह उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है—Irik (इरिक)=चलना। किन्तु—

Irikrik (इरिकरिक)=वह चलता है।

संस्कृत तथा ग्रीक में भी ऐसे कुछ उदाहरण मिलते हैं। वैदिक भाषा में—'द्यविद्यवि=प्रतिदिन; यहाँ द्यवि की द्विरावृत्ति से 'प्रति' का भाव प्रकट किया गया है।

(६) ध्वनि-वियोजन

इसी को ध्वनि-न्यूनन भी कहा जा सकता है। कुछ भाषाओं में सम्वन्धतत्त्व को प्रकट करने के लिए मूलशब्द की कुछ ध्वनियों को निकाल दिया जाता है। फ्राँसीसी भाषा में ऐसे उदाहरण मिलते हैं—

स्त्रीलिंग लिखितरूप—Petite
" उच्चरित रूप—Ptit
पुंल्लिग लिखितरूप—Petit
" उच्चरित रूप—Pti
} =छोटा है।

(७) उपसर्ग, पूर्वसर्ग आदिसर्ग या पूर्वप्रत्यय (Prefix)

कुछ भाषाओं में मूलशब्द के आदि (पूर्व) में कुछ जोड़कर सम्वन्धतत्त्व का काम लिया जाता है। जैसे, संस्कृत में भूतकाल में क्रिया के पूर्व 'अ' जोड़ा जाता है–अगच्छत्=गया। अपठत्=पढ़ा।

अफ्रीकी बन्तू परिवार की काफ़िरी भाषा में यह विशेपता प्रमुख रूप से मिलती है—कु=सम्प्रदान कारक का चिह्न।

कुति=हमको (ति=हम)

कुनि=उनको (नि=उन)

(८) मध्यसर्ग, मध्यप्रत्यय (Infix)

मूलशब्द के मध्य में सम्बन्धतत्त्व-सूचक प्रत्यय जोड़ दिया जाता है। मुण्डा परिवार की भाषा, संथाली में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं—

दल =मारना।
दपल =पेरस्पर मारना।
मंझि =मुखिया
मपंझि=अनेक मुखिया।
} 'प' से वहुबचन को सूचित किया जाता है।

(९) अन्तर्सर्ग, अन्त्य प्रत्यय, विभक्ति या प्रत्यय

यह सम्वन्धतत्त्वों में सर्वाधिक प्रचलित है। संस्कृत में 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्यय अन्त में ही लगते हैं, तथा उनसे ही अधिकाँश पद बनते हैं। संस्कृत में—

बालक+: (सु) =बालकः (कर्ता, एकवचन)

बालक+ अम् =बालकम् (कर्म, एकवचन)

पठ् + ति (+ प्) = पठति, इत्यादि ।

हिन्दी में—हो + ता या गा = होता या होगा आदि ।

अंग्रेजी में—Love + ing या ly = loving या lovely आदि ।

(१०) ध्वनिगुण

यह मात्रा, सुर तथा बलाघात—इन तीन रूपों में मिलता है ।

मात्रा—जैसे हिन्दी में—मिटना से मिटाना } यहाँ ह्रस्व अ के स्थान पर दीर्घ
मरना से मारना } 'आ' होने से अर्थ बदल गया है ।

सुर—'सुर' द्वारा सम्बन्धतत्त्व को प्रकट करने के लिये 'चीनी' आदि अयोगात्मक भाषाएँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं । वैदिक तथा ग्रीक भाषाओं में भी यह विशेषता विद्यमान थी । 'इन्द्रशत्रुः' उदाहरण में वैदिक भाषा की यही विशेषता ज्ञात होती है । शब्द में 'सुर' का स्थान बदल जाने से यहाँ उसके सम्बन्धतत्त्व में भी परिवर्तन हो जाता है । परिणामस्वरूप, अर्थ भी भिन्न हो जाता है ।

बलाघात—संस्कृत आदि भाषाओं में पहले इसका महत्त्व रहा है । आजकल अंग्रेजी में—

Conduct = o पर बलाघात से संज्ञापद तथा

Conduct = u ,, ,, क्रियापद माना जाता है ।

संक्षेप में, ऊपर सम्बन्धतत्त्व के दस भिन्न-भिन्न रूपों का परिचय दिया गया है । किन्तु, खोजने पर कुछ अन्य रूपो के प्राप्त होने की सम्भावना से भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता । कभी-कभी एक ही भाषा या पद में सम्बन्धतत्त्व के एक से अधिक रूप भी उपलब्ध हो जाते हैं । इस प्रकार, सम्बन्धतत्त्वों के अनेक प्रकार विश्व की भाषाओं में प्रचलित हैं ।

४. अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व का संयोग

सम्बन्धतत्त्वों के अनेक प्रकारों को देखने से विदित होता है कि वे सभी, अर्थतत्त्व के साथ, एक ही प्रकार से संयुक्त नहीं होते हैं । अतः, अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व के संयोग के विभिन्न रूपों पर भी दृष्टिपात करना उपयोगी है । संक्षेप में, इनके संयोग के निम्नलिखित रूप प्राप्त होते हैं—

१. पूर्ण संयोग—कहीं-कहीं अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता । सुरप्रधान तथा विभक्तिप्रधान भाषाओं में यही विशेषता होती है । उदाहरण के लिए—

संस्कृत—बालक > बालकः, बालकम् आदि ।

अरबी—क् त् ल् > क़त्ल, क़ातिल, क़ुतिल आदि ।

अंग्रेजी—Sing > Sang, Sung आदि ।

उपर्युक्त शब्दों में अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व का पूर्ण संयोग है । भारोपीय तथा सामी परिवार की भाषाओं में इनका संयोग प्रायः पूर्णरूप में ही मिलता है ।

२. अपूर्ण संयोग—जहाँ संयोग तो होता है, किन्तु वह इस रूप में होता है

कि दोनों को तिल-तण्डुलवत् पृथक्-पृथक् पहचाना तथा पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—

संस्कृत—बालक + वत् = बालकवत्,
सुन्दर + ता = सुन्दरता, आदि-आदि ।
अंग्रेजी—Kill + ed = Killed,
Ask + ed = asked. आदि—आदि ।

प्रत्ययसंयोगी भाषाओं में अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व का संयोग इसी रूप में मिलता है । यहाँ सम्बन्धतत्त्व प्रमुखतः उपसर्ग या प्रत्यय के रूप में होता है ।

३. दोनों स्वतन्त्र—कहीं-कहीं दोनों स्वतन्त्ररूप से अपना-अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखते हैं । इनमें दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं:—

(i) जहाँ सम्बन्धतत्त्व, अर्थतत्त्व से पृथक्, स्वतन्त्र रहता हुआ भी, उसके साथ (समीप) ही रहता है जैसे—चीनी भाषा में सम्बन्धतत्त्व के रूप में प्रयुक्त रिक्त शब्द—

वो (मैं) ती (का) युतत्सु (लड़का) = अर्थात् मेरा लड़का । यहाँ पर 'ती' सम्बन्धसूचक रिक्त शब्द है, जो 'वो' अर्थतत्त्व से स्वतन्त्र रहते हुए भी उसके साथ ही प्रयुक्त है ।

इसी प्रकार संस्कृत—'इति', 'अथ', 'च' आदि अव्यय शब्द,
हिन्दी में—ने, को, से, में आदि, तथा
अंग्रेजी में—to, from, in, on आदि सम्बन्धतत्त्व भी अपने अर्थतत्त्व के साथ स्वतन्त्ररूप में ही रहते हैं ।

(ii) जहाँ सम्बन्धतत्त्व स्वतन्त्र रहने के साथ ही साथ अर्थतत्त्व से अपनी दूरी भी रखता है । जैसे—

चिनूक भाषा (अमरीका चक्र) में सभी सम्बन्धतत्त्व वाक्य में पहले रक्खे जाते हैं तथा सभी अर्थतत्त्व बाद में इकट्ठे रक्खे जाते हैं । उदाहरणार्थ—हिन्दी में अनूदित एक वाक्य यहाँ प्रस्तुत हैं—

वाक्य का पूर्वांश सम्बन्धतत्त्व	वाक्य का उत्तरांश अर्थतत्त्व
वह, उसने, वह, से	मारना, आदमी, औरत, लाठी ।

अर्थात्—उस आदमी ने उस औरत को लाठी से मारा ।

४. प्रत्येक अर्थतत्त्व के साथ सम्बन्धतत्त्व—कुछ भाषाओं की रचनाशैली इस प्रकार की है कि उनमें स्पष्टता के लिए प्रत्येक अर्थतत्त्व के साथ सम्बन्धतत्त्व का प्रयोग किया जाता है । उदाहरण के लिए—

अफ्रीकी वन्तू परिवार की सोबिया भाषा में—
मु = एकवचनसूचक सम्बन्धतत्त्व है,
न्तु = आदमी, अर्थतत्त्व है,
लोट्टु = सुन्दर, यह भी अर्थतत्त्व है ।

अब यदि 'एक सुन्दर आदमी' कहना है, तो कहा जायगा—

मु अन्तु मु लोट्टु=एक आदमी एक सुन्दर अर्थात् एक सुन्दर आदमी।

यहाँ 'मु' सम्बन्धतत्त्व प्रत्येक अर्थतत्त्व के साथ आया है। संस्कृत में भी कभी-कभी इस प्रकार की रचना देखी जाती है;—उदाहरणार्थ—"सुन्दरस्य निर्धनस्य बालकस्य इदं पुस्तकम्।"

यहाँ 'स्य' (ङस् प्रत्यय) सम्बन्धतत्त्व का प्रयोग बालक तथा उसके सभी विशेषणों के साथ हुआ है।

५. संस्कृत के सम्बन्धतत्त्व

(१) संस्कृत में सम्बन्धतत्त्व का प्रमुख रूप प्रत्यय (विभक्ति) के रूप में मिलता है। सुप् तथा तिङ् प्रत्ययों से ही प्रायः सभी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रियापद बनाये जाते हैं।

(२) उपसर्ग के रूप में भी संस्कृत में सम्बन्धतत्त्व का व्यवहार होता है। जैसे—आहार, विहार, संहार आदि में आ, वि तथा सम्।

(३) मध्यप्रत्यय के रूप में शप् (अ) श्यन् (य) श्ना (ना), भाववाच्य में 'य' (भूयते आदि) अनेक विकरणों का प्रयोग संस्कृत में मिलता है।

(४) मात्रा तथा सुर के रूप में भी सम्बन्धतत्त्व का प्रयोग संस्कृत में मिलता है। इनके क्रमशः उदाहरण हैं—'देव' से 'दैव' तथा 'इन्द्रशत्रुः' आदि।

६. हिन्दी में सम्बन्धतत्त्वों के विभिन्न प्रकार—

हिन्दी में प्रमुख रूप से तो स्वतन्त्र शब्दों तथा स्थान से ही सम्बन्धतत्त्वों का काम लिया जाता है किन्तु गौणरूप से इनसे भिन्न प्रकार के सम्बन्धतत्त्वों का व्यवहार भी यदाकदा होता रहता है। उदाहरण के लिए—

(१) हिन्दी में 'ने', 'को', 'से', 'में' आदि सम्बन्धतत्त्व स्वतन्त्र शब्दों के रूप में ही मिलते हैं—राम ने रावण को बाण से मारा।

(२) स्वर-प्रतिस्थापन-रूप सम्बन्धतत्त्व का उदाहरण उपर्युक्त वाक्य में 'मारा' शब्द है जो 'मर' से बना है।

(३) शब्दस्थान-रूप सम्बन्धतत्त्व हिन्दी में कर्त्ता, कर्म, क्रिया आदि के स्थानों के निश्चित होने में दिखलायी पड़ता है।

(४) बोलचाल में स्वराघात-रूप सम्बन्धतत्त्व के भी अनेक उदाहरण 'काकु', 'वक्रोक्ति', 'व्यंग्य' आदि के रूप में मिल जाते हैं।

(५) स्वर तथा व्यञ्जन-प्रतिस्थापन के उदाहरण—'कर' से 'किया', 'जा' से 'गया' आदि में मिलते हैं।

(६) 'अधर्म' से 'अधर्मी', 'घोड़ा' से 'घोड़ी', 'जाता' से 'जाती' आदि अपश्रुति के उदाहरण है।

इस प्रकार हिन्दी भाषा में सम्बन्धतत्त्व अनेक रूपों में मिलते हैं।

७. सम्बन्धतत्त्व के कार्य

भाषा में, सम्बन्धतत्त्व के द्वारा अर्थतत्त्व के लिङ्ग, वचन, कारक, काल तथा अर्थ (भाव) आदि को प्रकट किया जाता है। सम्बन्धतत्त्व के द्वारा इन्हें किस प्रकार प्रकट किया जाता है, यहाँ संक्षेप में, उल्लेख किया जा रहा है।

लिङ्ग

प्राय: देखने में आता है कि भाषा में प्रयुक्त अर्थतत्त्वों के प्राकृतिक तथा व्यावहारिक लिङ्ग, अनेक बार भिन्न-भिन्न होते हैं। 'दारा' तथा 'कलत्र' शब्द प्राकृतिक रूप से स्त्रीलिंग होते हुए भी, संस्कृत में क्रमशः पुल्लिग तथा नपुंसकलिंग हैं। इसी प्रकार अनेक उदाहरण प्रत्येक भाषा में मिल सकते हैं। अतः, यह माना जाता है कि भाषा में प्रयुक्त लिङ्ग प्राय: कल्पित होते हैं, जिन्हें भाषा में प्रत्ययों या स्वतन्त्र शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है।

(i) प्रत्ययों के द्वारा—जैसे संस्कृत में 'नद' से 'नदी', श्रीमान् से श्रीमती, 'गीत' से 'गीता' आदि 'ई' या 'आ' (ङीप्, ङीष्, टाप्) आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं।

हिन्दी में—शेर से शेरनी, नाई से नाइन, पण्डित से पण्डिताइन आदि भी (नी, इन, आइन आदि) प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं।

अंग्रेजी में—Prince (पुल्लिग) से Princess (स्त्रीलिंग), यहाँ ess प्रत्यय जुड़ा है।

(ii) स्वतन्त्र शब्दों के द्वारा—जैसे अंग्रेजी में he goat, she goat, washerman, washerwoman आदि में he, she, man तथा woman आदि।

उपर्युक्त उदाहरणों में लिंगद्योतन के लिए सम्बन्धतत्त्वों का प्रयोग हुआ है।

वचन

अधिकांश भाषाओं में दो, तथा कुछ में तीन वचन भी मिलते हैं। वचन का विचार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया तथा कुछ भाषाओं में विशेषण में भी किया जाता है। वचन को प्रकट करने के लिये संस्कृत में एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन के सूचक प्रत्ययों को मूलशब्द (प्रकृति) में जोड़ा जाता है। उदाहरणार्थ—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
संज्ञापद—	राम + :(सु) = रामः,	राम + औ = रामौ,	राम + जस् = रामाः आदि
क्रियापद—	पठ् + ति = पठति,	पठ् + तस् = पठतः,	पठ् + झि = पठन्ति आदि

कुछ स्वतन्त्र शब्दों से भी बहुवचन का ज्ञान कराया जाता है; जैसे—कार्यं, (एकवचन), कार्यजातम् (बहुवचन)। इसी प्रकार हिन्दी में ए (लड़के), ओं (लड़कों) या यों (लड़कियों) प्रत्यय जोड़ कर तथा अंग्रेजी में s (books) या es (fishes) जोड़कर बहुवचन बनाया जाता है।

पुरुष

पुरुष सभी भाषाओं में तीन होते हैं—प्रथम (अन्य), मध्यम तथा उत्तम।

पुरुषों के अनुसार क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है। इसके लिए भी संस्कृत में प्रत्ययों से काम लिया जाता है। इतना ही नहीं; पुरुषों में एकवचन, द्विवचन, तथा बहुवचन के अनुसार प्रत्यय जोड़े जाते हैं। जैसे—'पठ्' धातु में ति (तिप्), तः (तस्) आदि।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	पठति	पठतः	पठन्ति
मध्यम पुरुष	पठसि	पठथः	पठथ
उत्तम पुरुष	पठामि	पठावः	पठामः

हिन्दी में स्वर-व्यञ्जनों में कुछ परिवर्तन करके ही पुरुष का ज्ञान करा दिया जाता है; जैसे—

मैं जाऊँगा; तू जायेगा, वह जायेगा आदि।

(i) अंग्रेजी में कहीं एक रूप से; जैसे—

I go, you go. आदि;

(ii) कहीं भिन्न रूप द्वारा; जैसे—

He is going, you are going, I am going.

(iii) कहीं प्रत्यय जोड़कर; जैसे—

I go से he goes आदि में, पुरुष का ज्ञान कराया जाता है।

इस प्रकार सम्बन्धतत्त्वों से पुरुषद्योतन का काम भी लिया जाता है।

कारक

विभिन्न कारकों को प्रकट करने के लिए भी सम्बन्धतत्त्वों का प्रयोग होता है। संस्कृत में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण आदि कारकों के लिए संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण शब्दों के आठ (सम्बोधन को मिलाकर) विभक्तियों में २४ रूप बनते हैं। इसके लिए मूलशब्दों में सुप् प्रत्यय जोड़े जाते हैं।*

काल

काल तीन हैं—भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्। इनमें भी क्रिया की पूर्णता-अपूर्णता तथा भाव या अर्थ (Mood) के आधार पर काल के अन्य सूक्ष्म भेद हो जाते हैं। संस्कृत में भूतकाल के ही तीन भेद हैं—अद्यतन, अनद्यतन तथा परोक्ष। इसी प्रकार भविष्यत् के भी दो भेद हैं—अनद्यतन तथा सामान्य। इन सब सूक्ष्म भेदों को, क्रिया में विभिन्न सम्बन्धतत्त्व जोड़कर ही प्रकट किया जाता है। संस्कृत में भूतकाल के लिए क्रिया के पूर्व 'अ' जोड़ा जाता है, जैसे—अभवत्, अभूत् आदि में। परोक्षभूत में धातु को द्वित्व हो जाता है, जैसे—'बभूव' आदि में।

हिन्दी में 'जाना' से भूतकाल में 'गया' बनने पर अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व

---

*कारकों की संख्या के विषय में बहुत मतभेद है। विभिन्न भाषाओं में २ से लेकर २३ तक कारक माने जाते हैं। अंग्रेजी में कारक २ हैं तथा ज्यार्जी भाषा में २३ हैं—ऐसा माना जाता है। संस्कृत में कोई ४, कोई ६ तथा कोई ८ कारक मानते हैं।

दोनों इस प्रकार मिल जाते हैं कि उनका पृथक्-पृथक् ज्ञान ही नहीं होता। हिन्दी में 'गा', 'गी', 'गे' आदि भविष्यत्काल के सूचक सम्बन्धतत्त्व हैं।

अंग्रेजी में भूतकाल के लिये प्रायः ed तथा भविष्यकाल के लिये Shall या Will सम्बन्धतत्त्व जोड़ा जाता है।

इसी प्रकार आज्ञा, विधि आदि के लिए भी क्रिया में भिन्न-भिन्न सम्बन्धतत्त्वों को जोड़ा जाता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत में क्रियाओं के परस्मैपद, आत्मनेपद, इच्छार्थक, प्रेरणार्थक, भृशार्थक सम्बन्धतत्त्व भी मिलते हैं। साथ ही, संज्ञा से विशेषण, संज्ञा या विशेषण से क्रियाविशेषण बनाने के लिए और निषेध तथा बाहुल्य प्रकट करने के लिये भी सम्बन्धतत्त्व काम में आते हैं।

९. पद-विभाग

ऊपर अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व के योग से निष्पन्न पदों की सामान्य चर्चा की गयी है, जिसमें इस तथ्य पर बल दिया गया है कि अर्थतत्त्व (मूलशब्द) में सम्बन्धतत्त्व को जोड़कर ही पद बनाये जाते हैं तथा उन्हीं पदों को वाक्य में प्रयुक्त करके, उनसे विभिन्न अर्थों को अभिव्यक्त किया जाता है। वाक्य में प्रयोग के योग्य उपर्युक्त पदों के कितने भेद होते हैं, अब इसका विचार किया जा रहा है।

यास्क-कृत पदविभाग

भारतीय भाषाओं के पदविभाग की दृष्टि से, यहाँ आचार्य यास्क का नाम सर्वप्रथम उल्लेख्य है। अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' में उन्होंने संस्कृत पदों के चार विभाग किये हैं—

१. नाम,
२. आख्यात,
३. उपसर्ग तथा
४. निपात[1]

(१) नाम से तात्पर्य है संज्ञापद, अर्थात् राम, मोहन, बालक, अश्व, वृक्ष, पुस्तक, नदी, पर्वत आदि। यास्क ने संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण—इन सभी को नाम के अन्तर्गत माना है। यद्यपि आजकल इनका विभाजन पृथक्-पृथक् किया जाता है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। नाम से ही सर्वनाम शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है सबके लिए जिसका प्रयोग हो सकता है। वस्तुतः सर्वनाम शब्द 'यह', 'वह', 'मैं', 'तू' आदि हैं भी ऐसे ही। 'मैं' का प्रयोग, मैं आप और वह-सभी कर सकते हैं। इस प्रकार व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष नाम है तथा व्यक्ति-सामान्य या वस्तुसामान्य सर्वनाम है। अतः, सर्वनाम को नाम (संज्ञा) से भिन्न मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार विशेषण को भी नाम से भिन्न नहीं मानना चाहिए; क्योंकि, विशेषण केवल संज्ञा की विशेषता ही नहीं बतलाता, अपितु अनेक

१. "चत्वारि पदजातानि नामाख्याते उपसर्गनिपाताश्च।"—निरुक्त, १/१/१

बार उसका संज्ञारूप में प्रयोग भी होता है। संज्ञापद से विशेषणपद तथा विशेषणपद से संज्ञापद तो प्रायः बनाये ही गये हैं। उदाहरणार्थ—'धर्म' से 'धार्मिक', 'समाज' से 'सामाजिक', आदि विशेषण पद संज्ञा से ही बने हैं। इसी प्रकार 'सुन्दर' से 'सौन्दर्य' या 'सुन्दरता', 'नीरव' से 'नीरवता', 'धीर' से धीरता आदि विशेषण से संज्ञा बनाने के उदाहरण हैं। संक्षेप में, विशेषण भी संज्ञा या नाम ही है, उससे भिन्न नहीं हैं।

इस प्रकार यास्क-कृत पदों का प्रथम विभाग-नाम है, जो महत्त्व की दृष्टि से भी पदों में सर्वप्रथम स्थान का ही अधिकारी है।

(२) आख्यात—से तात्पर्य है 'क्रिया'। क्रिया में व्यापार की प्रधानता होती है, जबकि नाम सत्त्वप्रधान होता।[1] प्रत्येक क्रिया सिद्ध हो जाने पर 'सत्त्व' (नाम) बन जाती है। किन्तु, क्रिया की साध्यावस्था व्यापारप्रधान (आख्यात) ही है। सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए साध्यावस्था होती है। यही कारण है कि महत्त्व की दृष्टि से 'नाम' के बाद ही 'आख्यात' का क्रम है।

(३) उपसर्ग—पदों का तृतीय विभाग उपसर्ग है। 'प्र', 'परा', 'अप', 'सम्', 'अनु' आदि उपसर्ग, नाम तथा आख्यात के साथ जुड़कर उनके अर्थों में एक विशेषता उत्पन्न करते हैं। पृथक् या स्वतन्त्र रूप से ये अपने अर्थ को कहने में समर्थ नहीं हैं। वस्तुतः, नाम या आख्यात के अर्थ में इनके जुड़ने से जो विशेषता आ जाती है, वही इनका अपना अर्थ है; किन्तु, उसे ये पृथक् रहकर कदापि प्रकट नहीं कर सकते।[2] यही कारण है कि बाद के वैयाकरणों ने उपसर्गों को अर्थ का द्योतक माना है, वाचक नहीं।

इन उपसर्गों की दूसरी विशेषता है, इनका अव्यय होना। अव्यय से तात्पर्य है कि इनके रूप में कभी कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता है।

उपसर्गों को निर्बद्ध अव्यय कहा जाता है। निर्बद्ध इसलिए क्योंकि, इनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता है तथा अव्यय इसलिये क्योंकि इनके रूप में कोई विकार नहीं होता है।[3]

(४) निपात—'च', 'वा' 'इव' आदि निपात कहलाते हैं। ये भी वस्तुतः अव्यय ही हैं क्योंकि इनका रूप भी सदा अविकृत ही रहता है।

अव्यय की दृष्टि से उपसर्गों में तथा निपातों में यह अन्तर है कि उपसर्गों का तो स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता; किन्तु निपातों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से हो सकता है।

यास्ककृत पदों के चार विभागों के स्थान पर पाणिनि ने शब्दों के केवल दो विभाग, सुबन्त तथा तिङन्त ही माने हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषा हिन्दी में पदों का विभाजन आठ भागों में

---

१. "भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि"।—निरुक्त १/१/१.
२. "न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरीति शाकटायनः"।—निरुक्त १/१/४.
३. दे० भाषाविज्ञान की भूमिका, देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० २३७. २३८.

किया गया है—(१) संज्ञा, (२) सर्वनाम, (३) विशेषण, (४) क्रिया; (५) क्रिया-विशेषण, (६) सम्बन्धसूचक, (७) समुच्चयबोधक, तथा (८) विस्मयादिबोधक।

हिन्दी के पदविभाग को देखने से ज्ञात होता है कि इस पर अंग्रेजी के पद-विभाग का स्पष्ट प्रभाव है, जो स्वयं, लैटिन का अनुकरण होने से उचित नहीं है। वस्तुतः, यास्ककृत पदविभाग ही हिन्दी के लिए भी अनुकरणीय है। हिन्दी के संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण यास्क के 'नाम' वर्ग में तथा हिन्दी के क्रियाविशेषण (अब, तब, कब, यहाँ, वहाँ, कहाँ, आदि), सम्बन्धसूचक (ने, को, से, के लिए, में आदि), समुच्चय-बोधक (अथवा, और, वा आदि) तथा विस्मयादिबोधक (आह, ओह, वाह, छिः आदि) यास्क के 'निपात' (अव्यय) वर्ग में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। इन्हें पृथक्-पृथक् मानना न तो व्यावहारिक ही है और न ही सुविधाजनक है।

६. रूप-परिवर्तन (Morphological changes)

सार्थक ध्वनियों का समूह 'शब्द' कहलाता है, उसमें सम्बन्धतत्त्व के जुड़ जाने पर वह पद बनता है। इस प्रकार शब्द तथा पद ध्वनियों से ही बनते हैं। ध्वनि-परिवर्तन के अन्तर्गत पदों में प्रयुक्त ध्वनियों के परिवर्तन पर विचार किया जा चुका है, यहाँ केवल रूपपरिवर्तन या पदपरिवर्तन पर ही विचार किया जायगा।

ध्वनि-परिवर्तन तथा रूप-परिवर्तन में अन्तर

ध्वनिपरिवर्तन तथा रूपपरिवर्तन में अन्तर कर पाना कभी-कभी कठिन हो जाता है, किन्तु इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है—

(१) ध्वनिपरिवर्तन पद की केवल किसी विशिष्ट ध्वनि में होता है, किन्तु रूपपरिवर्तन से पूरा पद ही प्रभावित होता है। जैसे—

	संस्कृत	हिन्दी	
ध्वनिपरिवर्तन—	अतसी	> तीसी	= केवल आदिस्वर 'अ' का लोप हुआ है।
रूपपरिवर्तन—	गो	> गाय	= पूरा पद ही बदल गया है।

(२) ध्वनिपरिवर्तन का क्षेत्र विस्तृत तथा रूपपरिवर्तन का क्षेत्र संकुचित होता है। ध्वनिपरिवर्तन का सम्बन्ध, किसी भाषा की जिस विशिष्ट ध्वनि से होता है, उस भाषा के, उस विशिष्ट ध्वनि वाले सभी शब्दों (रूपों) को वह प्रभावित करता है। इस आधार पर ध्वनिनियम, नियम कहलाते हैं, क्योंकि वे उस प्रकार की स्थितियों में आने वाली सभी ध्वनियों को प्रभावित करते हैं, इसके विपरीत रूप-परिवर्तन का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध केवल रूप (पद) विशेष से होता है, अतः उस भाषा के कुछ ही पदों पर उसका प्रभाव होता है।

(३) ध्वनिपरिवर्तन के बाद पुराने रूपों का प्रचलन समाप्त हो जाता है, क्योंकि पुरानी ध्वनि को समाप्त करके ही नई ध्वनि आती है; जबकि रूपपरिवर्तन होने के बाद नये रूपों के साथ पुराने रूप भी चलते रहते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी भाषा में एक ही पद के अनेक रूप साथ-साथ मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—'पतञ्जलि'

ने 'महाभाष्य' में लिखा है कि संस्कृत 'गो' शब्द के साथ ही, उसके अपभ्रंश रूप में 'गावो', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिका' आदि पद भी, उनके समय में प्रचलित थे।

रूपपरिवर्तन की दिशाएँ

रूपपरिवर्तन की प्रमुख रूप से दो ही दिशाएँ हैं—

(१) पुरातन रूपों का नाश, तथा

(२) नवीन रूपों की उत्पत्ति।

(१) पुरातन रूपों का नाश

रूपपरिवर्तन या रूपविकास की प्रथम दिशा है, पुराने रूपों का नाश, लोप या परिवर्तन। मानव का यह स्वभाव है कि जब किसी भाषा में पुराने तथा नये, अनेक रूप एक साथ चलते रहते हैं, तो वह पुराने तथा अपवादरूप में प्राप्त रूपों को अपने मस्तिष्क के लिए भार समझने लगता है। परिणामस्वरूप पुरातन रूपों का धीरे-धीरे विनाश हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि वैदिक भाषा पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होता है कि उसमें शब्दरूपों तथा धातुरूपों में बहुत विविधता थी; अर्थात् एक ही अर्थ में अनेक रूप प्रचलित थे। आगे चलकर संस्कृत (लौकिक) में उपर्युक्त रूपों में, नियम द्वारा एकरूपता लायी गयी, जिससे अनेक वैदिक अपवाद रूपों का लोप हो गया है।

इसके पश्चात्, संस्कृत में अकारान्त शब्दों की संख्या अधिक थी, किन्तु इकारान्त, उकारान्त शब्द भी थे और इन अकारान्त, इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों के रूप भिन्न-भिन्न थे, किन्तु प्राकृतकाल में इस भिन्नता को भी समाप्त कर दिया गया तथा इकारान्त, उकारान्त शब्दों के रूप भी अकारान्त-जैसे ही होने लगे। इसके अतिरिक्त, संस्कृत में चतुर्थी विभक्ति एकवचन तथा षष्ठी विभक्ति एकवचन के रूपों में पर्याप्त विभिन्नता थी, किन्तु प्राकृतकाल में इन दोनों ही विभक्तियों में शब्दों के रूप बिलकुल ही समान हो गये; उदाहरणार्थ—

	संस्कृत		प्राकृत
	चतुर्थी एकवचन	षष्ठी एकवचन	चतुर्थी—षष्ठी एकवचन
अकारान्त	पुत्र = पुत्राय	पुत्रस्य >	पुत्त = पुत्तस्य
इकारान्त	अग्नि = अग्नये	अग्नेः >	अग्गि = अग्गिस्स
उकारान्त	वायु = वायवे	वायोः >	वाउ = वाउस्स

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में रूप-वैविध्य और भी कम हो गया है।

इसके आगे अपभ्रंशकाल तथा आधुनिककाल में भी यह प्रवृत्ति चलती रही। अपभ्रंश में पुराने (संस्कृत, प्राकृत) के आठ कारक रूपों के स्थान पर केवल तीन ही प्रकार के कारकरूप मिलते हैं। अर्थात्—

१. एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। —महाभाष्य १/१/१

पुरातन रूप–(१) कर्ता, (२) कर्म तथा (३) सम्बोधन	=१	अपभ्रंश =३
(४) करण तथा (५) अधिकरण	=१	
(६) सम्प्रदान, (७) अपादान तथा (८) सम्बन्ध	=१	

आगे चलकर हिन्दी में केवल दो ही विभक्तियाँ रह गयी हैं—

(१) अविकारी	(२) विकारी
मैं	मुझ, मुझे, मेरा, मेरे
हम	हमें, हमारा, हमारे
तू	तुझ, तुझे, तेरा, तेरे
वह	उस, उसे, उसका, उसके
वे	उन, उन्हें, उनका, उनके
लड़का	लड़के, लड़कों
लड़की	लड़कियाँ, लड़कियों आदि

उपर्युक्त भारतीय भाषाओं की भाँति ही अंग्रेजी में भी पहले की अपेक्षा रूपों में कमी हुई है। अंग्रेजी की बली (Strong) क्रियाओं के रूप, बिना किसी नियम के चलने के कारण, स्मरण रखने में कठिन होते हैं; जैसे—

go—went—gone

sing—sang—sung

बली क्रियाओं की तुलना में निर्बल (weak) क्रियाओं के रूप एक नियम से ed लगाकर चलते हैं। अतः; उन्हें स्मरण रखना सरल होता है; जैसे—

Call—called—called.

परिणामस्वरूप, अंग्रेजी में बली क्रियाओं के रूपों का स्थान निर्बल क्रिया के रूप लेते जा रहे हैं।

पुरातन तीन लिंगों के स्थान पर दो लिंग—पुल्लिग; स्त्रीलिंग तथा तीन वचनों के स्थान पर दो वचन—एकवचन तथा बहुवचन के प्रयोग के कारण भी अनेक रूपों का लोप हो गया है।

(२) नये रूपों की उत्पत्ति

रूपपरिवर्तन की दूसरी दिशा है—नये रूपों की उत्पत्ति या आगम। अन्य क्षेत्रों की भाँति भाषा में भी क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। रूपपरिवर्तन के क्षेत्र में भी जब रूपों में बहुत अधिक एकरूपता आ जाती है, तो रूपों के प्रयोग में भ्रम होने लगता है तथा अर्थ में भी अनिश्चितता तथा सन्देह उत्पन्न हो जाता है। तब, प्रतिक्रियास्वरूप रूपों की एकरूपता को समाप्त करके, उनमें अनेक-रूपता लाने का प्रयत्न होने लगता है। नवीनता का आकर्षण भी इसमें सहायक होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत में आकारान्त स्त्रीलिंग 'लता' शब्द के, एकवचन के रूप पञ्चमी तथा षष्ठी विभक्ति के अतिरिक्त शेष विभक्तियों में भिन्न-भिन्न थे, किन्तु पालि (प्राकृतकाल) में तृतीया विभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति तक सब रूप एक-जैसे ही हो गये:—

'लता' एकवचन

संस्कृत	पालि (प्राकृत)
तृतीया—लतया	लताय
चतुर्थी—लतायै	लताय
पञ्चमी—लतायाः	लताय
षष्ठी—लतायाः	लताय
सप्तमी—लतायाम्	लताय

उपर्युक्त 'पालि' के रूपों में से किसी एक को भाषा में प्रयुक्त हुआ देखकर यह समझना कठिन है कि वह कौनसी विभक्ति का रूप है तथा कौन-से कारक-सम्वन्ध को प्रकट कर रहा है। अतः, अर्थ की प्रतीति में कठिनाई का आना स्वाभाविक हो गया। पालि के बाद की प्राकृतों में तथा अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति का विकास और भी अधिक हुआ है।

ऐसी दशा में अस्पष्टता को दूर करने की दिशा में स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई तथा बाद के अपभ्रंशकाल में विभिन्न कारकों के अर्थ को प्रकट करने के लिए मूल शब्दों के साथ सहायक शब्दों (प्रत्ययों) का व्यवहार होने लगा। उदाहरण के लिए षष्ठी में—'लताय' के स्थान पर 'लताकेरक' तथा सप्तमी में—लताय के स्थान पर 'लतामज्झे' आदि प्रयोग चल पड़े। यही सहायक शब्द आधुनिक हिन्दी में 'परसर्गों' (ने, को, से, का, में) में विकसित हो गये हैं।

इसी प्रकार, क्रिया-रूपों में भी भ्रम उत्पन्न होने लगा था। 'पालि' में 'पच्' धातु के लुङ् लकार (सामान्य भूत) के एकवचन में, तीनों पुरुषों में एक-से ही रूपों—

प्रथम पुरुष—अपचि
मध्यम पुरुष—अपचि
उत्तम पुरुष—अपचि

को देखकर इनमें भेद करना कठिन है। अतः, इस भ्रम को दूर करने तथा स्पष्टता लाने के लिए 'तिङन्त' रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का व्यवहार होने लगा। आगे चलकर सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए कृदन्तों के साथ सहायक संयुक्त क्रियायें भी जोड़ी जाने लगीं।

संक्षेप में, रूपों में विद्यमान एकता के स्थान पर अनेकता तथा विविधता लाने के लिये भाषा में अनेक नवीन रूपों की उत्पत्ति हुई।

यद्यपि ऊपर भारतीय भाषाओं के प्रसंग में केवल नाम तथा क्रियारूपों के ही आधार पर रूपपरिवर्तन की दोनों दिशाओं को चरितार्थ किया गया है, तथापि सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण आदि सभी में उपर्युक्त प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें खोज लेना चाहिये।

रूपपरिवर्तन के कारण

ऊपर रूपपरिवर्तन की दिशाओं का उल्लेख हुआ है। उसी प्रसङ्ग में रूप-परिवर्तन के कारणों—सरलीकरण की प्रवृत्ति, सादृश्य तथा नवीनता का आग्रह आदि

कारणों की ओर भी संकेत किया गया है। यहाँ उन्हीं कारणों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला जायेगा। यद्यपि ध्वनि-परिवर्तन तथा रूपपरिवर्तन में अन्तर है, तथापि ध्वनि-परिवर्तन के कारणों में से अनेक कारण यहाँ भी कार्य करते हैं। संक्षेप में, रूपपरिवर्तन के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

( ) सरलता की प्रवृत्ति

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सरलता का आग्रह मनुष्यमात्र में दिखलाई पड़ता है। सरलता के लिये जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार रूपों में भी। भारतीय आर्यभाषा के विकास को देखने से प्रतीत होता है कि उसमें, प्राचीन काल में रूपों की इतनी विविधता थी कि उन्हें स्मरण रखने के लिये बड़ा श्रम करना पड़ता था। उनमें पर्याप्त जटिलता भी थी। धीरे-धीरे उनमें एकरूपता लाने का प्रयास किया गया, जिससे उन्हें सरलतापूर्वक स्मरण रक्खा जा सके। संस्कृत के तीन वचनों तथा तीन लिङ्गों के स्थान पर, परवर्ती विकसित भाषाओं में दो वचन तथा दो ही लिङ्ग रह गये। प्रारम्भ में, संस्कृत आदि में आठ कारक-विभक्तियों में चौबीस रूप बनते थे, हिन्दी में आते-आते विभक्ति रूप केवल दो ही रह गये—(i) अविकारी तथा (ii) विकारी।

इसी प्रकार, संस्कृत में धातुओं के दस गण थे। धीरे-धीरे गणभेद में कमी आती गयी। यहाँ तक कि आधुनिक भाषाओं में गणभेद समाप्त ही हो गया। आत्मनेपद-परस्मैपद का भेद भी प्रायः समाप्त हो गया है। संस्कृत की अपेक्षा बाद में लकारों की संख्या भी कम हो गयी है।

स्वयं संस्कृत में भी, सरलता की प्रवृत्ति ने रूपभेदों को कम किया है। यही कारण है कि इकारान्त 'हरि' आदि तथा नकारान्त (इन्) 'करिन्' आदि शब्दों के रूप तृतीया विभक्ति एकवचन में 'हरिणा', 'करिणा' आदि के रूप में समान ही हो गये, जबकि इन्हें वस्तुतः भिन्न-भिन्न होना चाहिए था।

उपर्युक्त विविधता के स्थान पर एकरूपता लाने में सरलता की प्रवृत्ति के अतिरिक्त कोई अन्य तर्कसंगत कारण नहीं है। इस प्रवृत्ति में और भी अधिक तीव्रता उस समय आती है, जब किसी एक जाति या वर्ग को परिस्थितिवश किसी दूसरी जाति या वर्ग की भाषा को सीखना पड़ता है।

(२) नवीनता की प्रवृत्ति

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव नवीनता-प्रेमी दिखलाई पड़ता है। खान-पान, वेश-भूषा आदि में सदैव, परिवर्तन मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। मानव की यह प्रवृत्ति भाषा के क्षेत्र में भी काम करती है। जब परम्परागत शब्दरूपों का प्रयोग करते-करते मानव-मन ऊब जाता है, तो वह नये-नये रूपों की खोज में प्रवृत्त होता है। उदाहरण के लिए 'सुन्दरता', 'प्रचुरता', 'प्रखरता' आदि शब्दरूप भाषा में पहले से प्रचलित थे, किन्तु नवीनता के लिए इन्हीं अर्थों में 'सौन्दर्य', 'प्राचुर्य' 'मार्दव' 'प्राखर्य' आदि रूप भी चल पड़े। इसी प्रकार 'वस्तु' के लिए 'विषय-वस्तु' तथा

'व्यंजना' के लिए 'अभिव्यञ्जना' और फिर 'अभिव्यञ्जनापद्धति' आदि अनेक रूप एक हीं अर्थ में प्रचलित हैं। हिन्दी के कुछ आधुनिक लेखों में तो यह प्रवृत्ति क्लिष्टता तथा भाषा-आडम्बर की चरम-सीमा तक पहुँची हुई प्रतीत होती है।

एक ही पदार्थ के लिये अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

(३) स्पष्टता की आवश्यकता

भाषा में शब्दरूपों की अत्यधिक विविधता जहाँ तक मस्तिष्क के लिए भार होती है, वहाँ शब्दरूपों की अत्यधिक समानता से भी भाषा में अस्पष्टता आ जाती है। इस अस्पष्टता को दूर करने के लिए, पुनः भाषा के समान-रूपों में भेद उत्पन्न किया जाता है, तथा विशेष-विशेष अर्थों को प्रकट करने के लिये विशेष-विशेष प्रत्यय आदि जोड़े जाते हैं। उदाहरण के लिये—जब 'पालि' में तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियों के शब्दरूप बिलकुल ही समान हो गये, तो षष्ठी विभक्ति के लिए 'केरक' तथा सप्तमी विभक्ति के लिए 'मज्झे' आदि सहायक शब्दों का प्रयोग भाषा में चल पड़ा। इससे षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति के अर्थ में स्पष्टता आ गयी तथा उसे शेष विभक्तियों से पृथक् पहचाना जाने लगा।

(४) सादृश्य

भाषा-विकास में सादृश्य के महत्त्व को सभी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। रूपरचना की विविधता तथा व्याकरण-सम्बन्धी अनियमितताओं को कम करने में सादृश्य का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है।[1] ध्वनि-परिवर्तन में भी इस का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह मिलती-जुलती बातों को सरलता से स्मरण कर लेता है तथा बहुत समय तक स्मरण रख सकता है। 'करिणा' की समानता पर 'हरिणा' की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इसी प्रकार संस्कृत के अकारान्त शब्दरूपों के सादृश्य पर ही आगे चलकर 'पालि' में इकारान्त, उकारान्त शब्दों के रूप भी अकारान्त—जैसे ही बन गये; जैसे—पुत्तस्य, अग्गिस्स, वाउस्स आदि। 'क्त्वा' तथा 'ल्यप्' प्रत्ययों में से 'क्त्वा' के रूपों का अधिक प्रचलन होने के कारण, पालि में 'ल्यप्' का प्रयोग लगभग समाप्त ही हो गया; जैसे—'गन्त्वा', 'आगन्त्वा' आदि।

हिन्दी में 'तीन' से 'तीनों' तो बनना ठीक था, किन्तु 'दो' से न के अभाव में भी 'दोनों' बनने में वही सादृश्य का नियम काम कर रहा है, जो 'द्वादश' के सादृश्य पर 'एकादश' बनने में लागू होता है। इसी प्रकार 'आस' (संस्कृत 'आशा') के सादृश्य पर 'साँस' (संस्कृत 'श्वास पुं०) भी स्त्रीलिंग बन गया है।[2]

---

१. दे० डॉ० तारापुरवाला, एलिमेण्टस् आफ दी साइन्स आफ लैंग्वेज, पृ० ७६।
२. 'जब तक साँस तब तक आस'।

इस प्रकार रूपपरिवर्तन में सादृश्य का बहुत योगदान है। सरलीकरण की प्रवृत्ति तथा सादृश्य इन दोनों में समानता प्रतीत होते हुए भी यह अन्तर है कि सरलीकरण में जहाँ कुछ रूपों को नितान्त छोड़ दिया जाता है, वहाँ सादृश्य में उन्हें केवल समानरूपता दी जाती है।

(५) अज्ञानता

अज्ञानता के कारण भी भाषा में अनेक नये रूपों का जन्म तथा पुरातन रूपों में परिवर्तन हो जाता है। पतञ्जलि के महाभाष्य में 'गो' के अनेक अपभ्रंश रूपों का उल्लेख गावो, गोणी, तथा गोपोतलिका आदि के रूप में, मिलता है।

संस्कृत 'श्रेष्ठ' के साथ ही, आजकल श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम का भी प्रयोग हो रहा है। 'उपर्युक्त' के साथ 'उपरोक्त' भी व्यवहार में है। 'स्रष्टा' और 'सृष्टा' दोनों समान समझे जाते हैं। स्पष्ट ही, इन प्रयोगों का मूलकारण अज्ञान ही है।

इस प्रकार अज्ञानता के कारण भी अनेक रूपों में परिवर्तन हो जाता है।

(६) बल

किसी विशेष 'पद' पर बल देने के लिए भी रूपों में परिवर्तन हो जाता है। 'खालिस' के लिए 'निखालिस', 'सज्जन' के लिए 'सज्जन पुरुष', 'श्रेष्ठ' के लिए 'सर्वश्रेष्ठ' या 'श्रेष्ठतम' का प्रयोग, प्रायः इसीलिए चल पड़ा है कि इनमें से प्रथम रूप को निर्बल समझकर वक्ता अपनी बात को बल देने के लिए उपर्युक्त रूपों में कुछ अनावश्यक या अतिरिक्त ध्वनियाँ जोड़कर उन्हें सबल रूप प्रदान करना चाहता है।

संक्षेप में, रूपपरिवर्तन के उपर्युक्त छः कारणों के अतिरिक्त रूपपरिवर्तन के अन्य अनेक कारण भी हो सकते हैं; जैसे—अन्य संस्कृतियों का प्रभाव, विचारधारा में परिवर्तन तथा पुराने रीति-रिवाजों में परिवर्तन आदि; किन्तु यहाँ प्रमुख कारणों का उल्लेख ही पर्याप्त समझना चाहिए।

शब्दों का आगम, लोप तथा विपर्यय

शब्दरूपों में परिवर्तन के अतिरिक्त भाषाओं में नये शब्दों का आगम, पुराने शब्दों का लोप तथा, शब्दों का विपर्यय भी होता रहता है।

शब्दागम—यह प्रायः ३ रूपों में होता है—

(i) कभी-कभी किसी सार्थक शब्द के साथ निरर्थक ध्वनि-समूह को जोड़ दिया जाता है; जैसे, पानी-वानी, नौकर-वौकर, जाना-वाना, सोना-वोना आदि।

(ii) कभी-कभी एक शब्द के साथ, उसी अर्थ को देने वाला दूसरा शब्द रख दिया जाता है; जैसे, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, ओढ़ना-पहनना, कागज-पत्तर, साधु-महात्मा आदि।

(iii) राजनीतिक या सांस्कृतिक प्रभाव के कारण कभी-कभी विदेशी शब्द भी भाषा में अपना स्थान बना लेते हैं। उदाहरण के लिए—हिन्दी में अनेक अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी शब्द ऐसे ही हैं।

शब्द-लोप

बोलने में श्रम की कमी के उद्देश्य से प्रायः बड़े नामों को छोटा करके बोलने की प्रवृत्ति प्रत्येक भाषा में पायी जाती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' और 'पृथ्वीराजरासो' को क्रमशः 'शाकुन्तल' तथा 'रासो' ही कह दिया जाता है। 'राजकुमार' को 'राज', 'मनमोहन' को 'मोहन' कहने की प्रवृत्ति के कारण भी 'शब्दलोप' हो जाता है।

शब्द-विपर्यय

कभी-कभी देखा जाता है कि पुरातन शब्द के स्थान पर नितान्त नवीन शब्द आ जाता है। हमारे यहाँ पानी पीने के पात्र के लिए कोई पुरातन शब्द रहा होगा, किन्तु आजकल अंग्रेजी का गिलास (ग्लास) शब्द ही हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा है, यद्यपि अंग्रेजी में इसका अर्थ अब भी काँच ही है। इस प्रकार काँच को कहने वाले ग्लास शब्द का हिन्दी में पात्रविशेष के अर्थ में प्रयोग हो रहा है। इसी प्रकार कागजवाची 'पत्र' शब्द, आजकल चिट्ठी-पत्री के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है।

संक्षेप में, भाषा में शब्दों का आगम, लोप तथा विपर्यय भी उपर्युक्त प्रकार से होता रहता है, जिसका प्रभाव भाषा के शब्दकोश पर पड़ता है।

———

रूपग्राम-विज्ञान

(Morphemics)

स्वनिम के साम्य पर इसे 'रूपिम' भी कहा जाता है। यह रूप (पद)-विज्ञान की आधुनिकतम विकसित शाखा है। अपने नवीन रूप में यद्यपि यह शाखा अपनी किशोरावस्था में ही है, तथापि भारत में पाणिनीय व्याकरण इसका अत्यन्त विकसित एवं उत्कृष्ट उदाहरण है।

क्षेत्र—रूपग्राम-विज्ञान में भाषा-विशेष में प्रयुक्त रूपों या पदों के अध्ययन द्वारा रूपग्रामों (रूपिम) एवं संरूपों का निश्चय किया जाता है। इस निश्चय का आधार, वितरण एवं अर्थ होता है। कभी-कभी, जब दो या दो से अधिक रूपग्रामों का योग होता है और परिणामस्वरूप संयुक्त या मिश्रित रूपग्राम बनते हैं तो वहाँ संयुक्त या मिश्रित रूपग्राम में कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन भी होते हैं, जिसे ध्वनि-ग्रामीय परिवर्तन (Phonemic change) कहा जाता है। यह अध्ययन भी रूपग्राम-विज्ञान का ही विषय है। इस प्रकार रूपग्राम-विज्ञान का विषय है—

१. रूपग्राम या रूपिम (Morpheme)

२. संरूप (Allomorph) और

३. रूप-ध्वनिग्रामविज्ञान (Morpho-phonemics)

यहाँ इन तीनों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। किन्तु, इन तीनों के स्पष्टीकरण से पूर्व यहाँ शब्द (मूलशब्द) और पद को भी समझना आवश्यक है। कारण, इन तीनों का आधार पद ही है, जिसे यहाँ, इस प्रसंग में, रूप कहा गया है। वस्तुतः 'पद' और 'रूप' पर्यायवाची हैं।

पद—जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, 'मूल शब्द' या 'शब्द' और 'रूप' या 'पद' में अन्तर होता है। 'शब्द' सम्बन्ध-रहित, विभक्ति-रहित या प्रत्यय-रहित होता है। संस्कृत व्याकरण में इसे 'प्रातिपदिक' कहा गया है। 'शब्द' का प्रयोग वाक्य में नहीं हो सकता है। वाक्य में प्रयुक्त होने के लिए 'शब्द' को पद बनाना पड़ता है। बिना पद बने कोई भी शब्द वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य नहीं माना जाता है। 'अपदं न प्रयुञ्जीत'—संस्कृत वैयाकरणों का प्रमुख सिद्धान्त है।

'शब्द' को 'पद' बनाने के लिए उसमें सम्बन्ध की द्योतक विभक्ति या प्रत्यय जोड़ा जाता है। 'पाणिनि' के अनुसार 'पद' सुबन्त और तिङन्त होता है। अर्थात् 'शब्द' में 'सुप्' (सु, औ, जस् आदि प्रत्यय) और 'तिङ्' (तिप्, तस्, झि आदि प्रत्यय) जोड़ने से वह 'पद' बन जाता है।[1] शब्द में जुड़ने वाले इस प्रत्यय से ही यह ज्ञात

१. सुप्तिङन्तं पदम्—अष्टाध्यायी १/४/१४.

होता है कि किसी विशेष पद का वाक्य के अन्य पदों से क्या सम्बन्ध है; अर्थात् कोई पद क्रिया, कर्ता, कर्म, करण आदि में से क्या है ? इस सम्बन्ध को बतलाने के कारण ही यह प्रत्यय 'सम्बन्धतत्त्व' कहा जाता है। इस प्रत्यय से ही शब्द 'रूप' बनता है, अतः, इसी को रूपतत्त्व भी कहते हैं। उदाहरण के लिए 'रामः गीतां पठति'—संस्कृत के इस वाक्य में तीन पद हैं। प्रथम पद रामः में 'राम' मूल शब्द है तथा विसर्ग (:) प्रत्यय है, जो बतलाता है कि राम पुल्लिग, एकवचन और कर्ता है। द्वितीय पद गीताम् में 'गीता' मूल शब्द है तथा 'अम्' प्रत्यय है, जिससे ज्ञात होता है कि गीता स्त्रीलिंग, एकवचन तथा कर्म है। तृतीय पद 'पठति' है, यहाँ 'पठ' मूल धातु है तथा 'ति' प्रत्यय है, जिससे विदित होता है कि 'पठति' अन्य पुरुष, एकवचन वर्तमानकाल की क्रिया है। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य में 'राम' 'गीता' और 'पठ्' मूल शब्द हैं, और रामः, गीताम् और 'पठति' पद हैं। संक्षेप में, प्रत्येक भाषा में इसी प्रकार शब्द तथा पद में अन्तर होता है और वाक्य में पदों का ही प्रयोग होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि वाक्य में प्रयुक्त पद में कोई विभक्ति या प्रत्यय स्पष्ट रूप से दिखलायी नहीं पड़ता है, यद्यपि वहाँ भी प्रत्यय होता अनिवार्यरूप से है। अतः, ऐसे स्थानों पर भी भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। उदाहरणार्थ 'बालिका पठति।' यहाँ 'बालिका' में स्पष्टरूप में कोई प्रत्यय दिखलाई नहीं दे रहा है, फिर भी चूँकि 'पठति' से इसका कर्ता का सम्बन्ध है, अतः इसमें प्रत्यय अवश्य ही है। भाषा-विज्ञानियों ने ऐसे स्थलों पर 'शून्य' प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) को स्वीकार किया हुआ है। संक्षेप में, 'शब्द' और 'पद या रूप' में अन्तर होता है।

१. रूपग्राम या रूपिम (Morpheme)

पद या रूप को समझ लेने के उपरान्त रूपग्राम को समझना सरल हो गया है। वाक्य में पदों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसी के आधार पर कहा जा सकता है कि **वाक्य में प्रयुक्त छोटी से छोटी सार्थक इकाई रूपग्राम या रूपिम होती है।** अर्थात् 'रामः गीतां पठति।' वाक्य में तीन रूप या पद हैं तथा 'रामः' में राम[1] + :[2], 'गीताम्' में गीता[3] + अम्[4] और 'पठति' में पठ[5] + ति[6]—इस प्रकार छह रूपग्राम या रूपिम है। ये सभी छह रूपग्राम यहाँ सार्थक हैं तथा वाक्य की छोटी से छोटी इकाई हैं। इसके बाद भी यदि 'राम', गीता, और पठ् आदि को और भी छोटी इकाइयों; जैसे र + ा + म् + अ, ग + ई + त् + ा और प् + अ + ठ् + अ + त् + इ आदि में बाँटना चाहें तो, ये इकाइयाँ सार्थक नहीं होंगी, अतः इन्हें रूपग्राम नहीं कहा जा सकता। 'रूपग्राम' कहलाने के लिए छोटी से छोटी इकाई का सार्थक होना अनिवार्य है। इसी प्रकार हिन्दी वाक्य—"उसकी संस्कृत पुस्तक में चिह्न होगा।" में भी (१) उसकी, (२) संस्कृतपुस्तक, (३) में (४) चिह्न (५) होगा—ये पाँच रूप (या पद) हैं तथा (१) उस, (२) की, (३) संस्कृत, (४) पुस्तक, (५) में, (६) चिह्न, (७) हो, (८) ग, और (९) आ (ा)—ये नौ रूपग्राम हैं। 'होगा' में 'हो' (होना सूचक), ग (भविष्यत्काल-सूचक) और आ (ा) पुंल्लिग, एकवचन-सूचक होने से सार्थक हैं। इस प्रकार वाक्य के ये सभी लघु से लघु खण्ड हैं तथा सार्थक हैं। इसके और अधिक सार्थक खण्ड नहीं हो सकते।

उपर्युक्त रूपग्राम कई प्रकार का होता है—

(१) मुक्त रूपग्राम (Free-Morpheme)—वह रूपग्राम जो एकाकी प्रयोग में आता है, मुक्त रूपग्राम कहा जाता है। अंग्रेजी भाषा का From (फ्रॉम=से) (अपादान) रूपग्राम इसका अच्छा उदाहरण है। इसका प्रयोग कभी किसी अन्य रूपग्राम के साथ नहीं होता है। अयोगात्मक वर्ग की चीनी आदि भाषाओं में मुक्त रूपग्राम के उदाहरण अधिक मिलते हैं।

(२) बद्ध रूपग्राम (Bound Morpheme)—वह रूपग्राम जो सदैव किसी अन्य रूपग्राम के हाथ ही प्रयुक्त होता है, वद्ध रूपग्राम कहलाता है। हिन्दी में पुल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग वनाने वाले तथा भूतकाल को प्रकट करने वाले आदि सभी रूपग्राम इसी कोटि में आते हैं; जैसे लड़का से लड़की में ई, 'मर' से मरा में आ (ा) अंग्रेजी में भी works, working और worked में क्रमशः s, ing और ed बद्ध रूपग्राम ही है।

(३) मुक्त-बद्ध-रूपग्राम (Free-Bound-Morpheme) वह रूपग्राम, जो कभी मुक्त रहता हो और कभी वद्ध, मुक्त-वद्ध रूपग्राम कहलाता है। उदाहरण के लिए 'पुरुष' एकाकी अर्थात् मुक्त रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है, तथा राजपुरुष, भद्र-पुरुष आदि में बद्धरूप में भी प्रयुक्त होता है। इसी को वद्धमुक्त, अर्द्धवध रूपग्राम भी कहा जाता है।

ऊपर रचना और प्रयोग की दृष्टि से रूपग्राम के भेद दिये गये हैं। अर्थ की दृष्टि से भी रूपग्राम के मुक्त और बद्ध तथा मुक्तवद्ध भेद वनते हैं।

(४) संयुक्त रूपग्राम (Compound Morpheme)—यदि किसी पद में एक से अधिक रूपग्राम संयुक्त होते हों, किन्तु उनमें केवल एक ही अर्थतत्त्व हो, तो उसे संयुक्त रूपग्राम कहते हैं, जैसे घरों, नगरों आदि में घर और नगर एक-एक ही अर्थ-तत्त्व है। संस्कृत में वालकः, वालकाः आदि में भी वालक एक अर्थतत्त्व है।

(५) मिश्रित रूपग्राम (Complex Morpheme)—जहाँ एक से अधिक अर्थतत्त्व हों; जैसे संस्कृतपुस्तक या राजपुरुष आदि। यहाँ एक ही रूप में दो-दो अर्थतत्त्व एक साथ संयुक्त हैं।

(६) अर्थदर्शी रूपग्राम—इसी को अर्थतत्त्व भी कहा जाता है। यह रूपग्राम केवल अर्थ प्रकट करता है। भारत के प्राचीन वैयाकरणों ने इसे 'प्रातिपदिक' और 'धातु' नाम दिया है। प्रत्येक भाषा का आधार यही रूपग्राम होते हैं। अतः, भाषा में इन्हीं की संख्या सर्वाधिक होती है। राम, हरि, लता फल आदि प्रातिपदिक तथा पठ्, गम्, हस् आदि धातु इसके असंख्य उदाहरण हैं। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और क्रियाविशेषण आदि इसी अर्थदर्शी रूपग्राम के भेद हैं।

(७) सम्बन्ध-दर्शी-रूपग्राम—इस रूपग्राम का प्रमुख कार्य पदों के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करना होता है। इसे ही सम्बन्धतत्त्व भी कहा जाता है। वस्तुतः यह व्याकरण-तत्त्व है। संस्कृत के 'सुप्' और 'तिङ्', हिन्दी के परसर्ग (ने, से आदि)

तथा अन्य प्रत्यय इसी के अन्तर्गत हैं। (१) स्वतन्त्र शब्द (ने, से, From, to आदि), (२) शून्य (चल, कर आदि को जैसा का तैसा रहने देना), (३) ध्वनि-प्रतिस्थापन पुत्र से पौत्र, Sing से Sang, जा से गया Send से Sent आदि) (४) पुनरुक्ति या द्विरुक्ति (संस्कृत में स्मारम्-स्मारम्, (५) ध्वनि-वियोजन (फ्रांसीसी में स्त्रीलिंग 'सुल '(पी) का पुल्लिग रूप 'सु' (पीया), (६) उपसर्ग या पूर्वयोग (दक्षिण अफ्रीका की काफिरी भाषा में ति=हम, नि=वे, इसके पूर्व सम्प्रदानकारक का चिह्न 'कु' जोड़कर 'कुति'=हमको, कुनि उनको बनाया जाता है), (७) मध्य योग (मुण्डा भाषा में मंझि=मुखिया से बहुवचन मपंझि), (८) अन्तयोग (याँ, जैसे—लड़की से लड़कियाँ, एँ, जैसे—लता से लताएँ, आ, जैसे—मर से मरा; अंग्रेजी में ed, जैसे work से worked तथा संस्कृत के सुप् और तिङ् प्रत्यय आदि) चीनी आदि भाषाओं में (९) शब्द स्थान, (१०) सुर तथा अंग्रेजी में (११) बलाघात आदि के रूप में यह अनेक प्रकार का है।

बलाघात एवं सुर आदि ऐसे सम्बन्धदर्शी रूपग्राम है, जिन्हें तोड़कर अर्थतत्त्व से पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः इन्हें अखण्ड रूपग्राम (Segmental) भी कहते हैं। इसके विपरीत ऊपर के अन्य रूपग्रामों को अर्थतत्त्व से पृथक् करके खण्डित किया जा सकता है, अतः उन्हें खण्ड रूपग्राम (Supra segmental) कहा जाता है।

इस प्रकार रूपग्राम के अनेक भेद होते हैं।

२. संरूप Allomorph)

एक ही रूपग्राम (रूपिम) के एक से अधिक समानार्थी, किन्तु परिपूरक वितरण वाले, रूपों को संरूप कहा जाता है। संरूपों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे ध्वन्यात्मक दृष्टि से भी परस्पर समानता रखते हों, किन्तु एक ही अर्थ को प्रकट करना संरूपों के लिये अनिवार्य है। उदाहरण के लिये हिन्दी भाषा में, कर्ता कारक में प्रयुक्त संज्ञा शब्दों को एकवचन से बहुवचन में परिणत करने के लिये एँ, ए याँ, ँ (केवल अनुनासिक चिन्ह) तथा शून्य रूपों का प्रयोग किया जाता है। ये सभी भिन्न-भिन्न ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक परिस्थितियों में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ—

(१) एँ=हलन्त स्त्रीलिंग शब्द रात् से रातें, वात् से बातें, बहिन् से बहिनें भेड़ से भेड़ें आदि; अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द लता से लताएँ, कथा से कथाएँ, व्यथा से व्यथाएँ आदि; उकारान्त स्त्रीलिंग शब्द धातु से धातुएँ, वस्तु से वस्तुएँ आदि; ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्द, वहू से बहुएँ आदि; औकारान्त स्त्रीलिंग शब्द गौ से गौएँ आदि।

(२) ए=हलन्त, लिंगरहित शब्द लोट् से लोटे, लड़क् से लड़के आदि।

(३) याँ=इकारान्त स्त्रीलिंग शब्द शक्ति से शक्तियाँ, नीति से नीतियाँ आदि; ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्द धोती से धोतियाँ, रोटी से रोटियाँ आदि।

(४) ँ='या' से अन्त होने वाले शब्द गुड़िया से गुड़ियाँ, बुढ़िया से बुढ़ियाँ आदि।

(५) शून्य=हलन्त पुंल्लिग शब्द बाप्, नाम्, काम् आदि; इकारान्त पुं० हरि, कवि आदि, ईकारान्त पुं० भाई आदि, उकारान्त पुं० साधु, गुरु आदि, ऊकारान्त पुं० लड्डू, डाकू आदि; ओकारान्त पुं० रासो आदि, औकारान्द पुं० जी आदि में बहुवचन बनाने के लिये कोई भी रूप नहीं लगता है, अतः इन्हें शून्य रूप कहा गया है।

हिन्दी भाषा के कर्ताकारक में एकवचन से बहुवचन बनाने के लिये प्रयुक्त उपर्युक्त रूपों में एँ को रूपग्राम माना जाता है, क्योंकि अधिकांश में, बहुवचन बनाने के लिये इसी का प्रयोग होता है तथा ए, याँ, ँ, और शून्य रूपों को इसका संरूप माना जाता है, क्योंकि इनका प्रयोग भी, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में एकवचन से बहुवचन बनाने के लिये किया जाता है। ये सभी यहाँ परिपूरक वितरण में हैं, अर्थात् एक परिस्थिति में एक का प्रयोग होता है, तो उससे भिन्न परिस्थिति में दूसरे का, तीसरे का: चौथे का या पाँचवे का। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं, कि एँ रूपग्राम है तथा ए, याँ, ँ, तथा शून्य रूप उसके संरूप हैं :—

रूपग्राम		संरूप
।एँ।	=	[ए]; [याँ] [ँ] और [···] शून्य रूप।

इसी प्रकार संस्कृत भाषा में कर्मकारक (द्वितीया विभक्ति) में संज्ञा एवं विशेषण शब्दों के द्विवचन बनाने के लिये पुंल्लिग अकारान्त राम आदि शब्दों से 'औ' (रामौ), इकारान्त 'हरि' आदि शब्दों से 'ई' (हरी), उकारान्त 'गुरु' आदि शब्दों से 'ऊ' (गुरू); अकारान्त स्त्रीलिंग 'लता' आदि शब्दों से 'ए' तथा नपुंसकलिंग अकारान्त 'फल' आदि शब्दों से भी 'ए' रूपों का प्रयोग होता है। इन सबके प्रयोग की परिस्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः, प्रयोग या वितरण की दृष्टि से ये सभी पूरक वितरण में हैं। प्रयोगाधिक्य के कारण यहाँ 'औ' रूपग्राम या रूपिम है तथा 'ई' 'ऊ' और 'ए' उसके संरूप हैं।

रूपग्राम या रूपिम	संरूप
।औ।	[औ], [ई], [ऊ], [ए]।

अंग्रेजी भाषा में भी संज्ञा शब्दों के बहुवचन बनाने के लिये स (s-books) इज् (es-horses), इन (en-oxen), रिन (ren-children) तथा शून्य (sheep) रूपों का प्रयोग होता है। यहाँ भी स (s) रूपग्राम है तथा शेष उसके संरूप हैं।

रूपग्राम या रूपिम	संरूप
।स (s)।	[s], [es], [en], [ren], [···]।

३. रूप ध्वनि-ग्रामविज्ञान (Morphophonemics)

यह रूपग्राम या रूपिम विज्ञान की ही शाखा है। इसके अन्तर्गत उन ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है, जो दो या दो से अधिक रूपों अथवा रूपिमों के योग से होते हैं। उदाहरण के लिये व्याकरण द्वारा निष्पन्न रूपों—

उत् + गम = उद्गम में त् के स्थान पर द्,

जगत् + जननी = जगज्जननी में त् के स्थान पर ज्,

आदि-आदि में ध्वन्यात्मक परिवर्तनों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि बाद में घोष ध्वनि के कारण ही त् ध्वनि द, ज् ध्वनि में परिवर्तित हो गयी है। इस प्रकार के सभी ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का विचार करना रूप-ध्वनिग्रामविज्ञान का विषय है।

स्थूल रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि यह रूप-ध्वनिग्रामविज्ञान संस्कृत-व्याकरण के सन्धि-प्रकरण से समानता रखता है और इस प्रकार इस विज्ञान का भी पर्याप्त विकास भारत में प्राचीनकाल में ही हो गया था। किन्तु आधुनिक रूप-ध्वनिग्रामविज्ञान का क्षेत्र सन्धिप्रकरण के क्षेत्र से कुछ अधिक विस्तृत है। सन्धिप्रकरण में पदान्त और पदादि ध्वनियों के परिवर्तन पर ही विचार किया जाता है, जबकि रूपध्वनिग्रामविज्ञान में पदों में सभी स्थानों पर ध्वनि-परिवर्तन को विचार का विषय बनाया जाता है। उदाहरणार्थ—

मीठा + आई	=	मिठाई	(मीठा > मिठ्)
खट्टा + आई	=	खटाई	(ट्टा > ट्)
बाप + औती	=	बपौती	(बा > ब)।
घोड़ा + दौड़	=	घुड़दौड़	(घोड़ा > घुड़)।
भेड़ + चाल	=	भेड़ाचाल	(ड़ > ड़ा)। आदि-आदि।

यहाँ दोनों रूपों के मध्य होने वाले परिवर्तन के साथ ही अन्यत्र भी परिवर्तन हुआ है।

ऊपर के उदाहरणों में मिठाई में मी > मि ह्रस्वीकरण, का, ठा > ठ् मात्रा लोप का, भेड़ाचाल में ड़ > ड़ा दीर्घीकरण का उदाहरण हैं। इसी प्रकार रूपध्वनि-ग्रामविज्ञान में आगम, समीकरण, विषमीकरण तालव्यीकरण एवं मूर्धन्यीकरण आदि ध्वनिपरिवर्तन भी आते हैं।

साथ ही, कोई रूपग्राम अपने विभिन्न संरूपों में कौन-कौन से ध्वनिपरिवर्तन स्वीकार करता है तथा किसी रूपग्राम के विभिन्न संरूपों में से प्रमुख संरूप या प्रतिनिधि संरूप कौन-सा है, इसका निर्णय भी रूपध्वनिग्रामविज्ञान के द्वारा ही होता है।

संक्षेप में, रूपग्राम या रूपिम-विज्ञान के अन्तर्गत रूपों, रूपग्रामों या रूपिमों तथा संरूपों का सूक्ष्म विचार किया जाता है। रूपध्वनिग्रामविज्ञान भी इसी का अङ्ग होने के कारण रूपग्रामों एवं संरूपों में होने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तनों को स्पष्ट करके इनके पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार भाषा के वैज्ञानिक विवेचन में रूपग्रामविज्ञान से बड़ी सहायता मिलती है।

[अध्याय १०]

वाक्य-विज्ञान

१. वाक्य-विज्ञान के प्रकार
२. वाक्य की परिभाषा
३. वाक्य एवं पद का सम्बन्ध
४. वाक्य के आवश्यक तत्त्व
५. वाक्य के प्रकार
६. वाक्य-विश्लेषण या वाक्य-विभाजन
७. वाक्य के निकटस्थ अवयव
८. वाक्यपरिवर्तन की दिशाएँ
९. वाक्यपरिवर्तन के कारण

[अध्याय १०]

वाक्य-विज्ञान (Syntax)

पद-विज्ञान या रूप-विज्ञान के अन्तर्गत वाक्य का प्रसंग आ चुका है। यहाँ उस पर विशेषरूप से विचार किया जायगा।

वाक्य-विज्ञान का विषय

वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना, वाक्य के आवश्यक तत्त्व, वाक्य में पदों का क्रम, वाक्य में पदों की अन्विति, वाक्य के प्रकार, वाक्य में बलाघात, वाक्य के निकटस्थ अवयवों पर विचार करते हुए, इन सबसे सम्बद्ध सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है।

१. वाक्यविज्ञान के प्रकार

वाक्यविज्ञान के अध्ययन के ३ प्रकार हैं:—

(१) वर्णनात्मक वाक्यविज्ञान, जिसमें किसी भाषाविशेष के, कालविशेष में प्रयुक्त वाक्यों की रचना आदि पर विचार किया जाता है।

(२) ऐतिहासिक वाक्यविज्ञान, जिसमें किसी भाषाविशेष की वाक्यरचना का, प्रारम्भ से अन्त तक का, कालक्रम की दृष्टि से ऐतिहासिक या विकासात्मक अध्ययन किया जाता है।

(३) तुलनात्मक वाक्यविज्ञान, जिसमें दो या अधिक भाषाओं की वाक्यरचना आदि का, तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। यह तुलना वर्णनात्मक भी हो सकती है और ऐतिहासिक भी।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के उपरान्त अब वाक्यविज्ञान का परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वप्रथम वाक्य की परिभाषा पर विचार करना आवश्यक है।

२. वाक्य की परिभाषा

तात्त्विक तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसे हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

वाक्य की तात्त्विक परिभाषा

वाक्य की तात्त्विक परिभाषा अत्यधिक विवादास्पद विषय है। भारत के प्राचीन वैयाकरणों, नैयायिकों, मीमांसकों तथा साहित्यकारों का इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। प्राचीन वैयाकरण 'पतञ्जलि' —

"कारक, अव्यय, विशेषण, क्रियाविशेषण तथा क्रिया के एक साथ प्रयोग"[1] को या "मात्र क्रियापद के प्रयोग"[2] को या "कभी-कभी क्रियापदरहित एकमात्र 'तर्पणम्'

---

१. "आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। सक्रियाविशेषणञ्च। आख्यातं सविशेषणम्,"—महाभाष्य २/१/१

२. "एकतिङ्।"—महाभाष्य २/१/१

या "पिण्डीम्'—जैसे संज्ञापद"[1] को भी वाक्य मानते हैं; क्योंकि यह भी 'तर्पण करो' या 'ग्रास खाओ' जैसे पूर्ण अर्थ का द्योतक है।*

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन,[2] आचार्य जगदीश[3] तथा आचार्य विश्वनाथ[4] अपनी-अपनी शब्दावली में 'साकांक्ष पदसमूह' को ही वाक्य मानते हैं। 'भर्तृहरि' ने अपने ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' में अपने पूर्ववर्ती न्यायवादी आचार्यों के मतों को संकलित करते हुए उनके द्वारा मान्य वाक्य की निम्नलिखित आठ परिभाषाएँ दी हैं[5]—

(१) क्रियापद को वाक्य कहते हैं।
(२) क्रियापद-सहित कारकादि के समूह को वाक्य कहते हैं।
(३) क्रिया तथा कारकादि-समूह में रहने वाली 'जाति' को वाक्य कहते हैं।
(४) क्रियादि समूहरूप एक अखण्ड शब्द (स्फोट) को वाक्य कहते हैं।
(५) क्रियादि पदों के विशेष क्रम को वाक्य कहते हैं।
(६) क्रियादि के बुद्धिगत अखण्ड समन्वय को वाक्य कहते हैं।
(७) आकांक्षायुक्त प्रथम पद को ही वाक्य कहते हैं।
(७) आकांक्षायुक्त पृथक्-पृथक् सभी पदों को वाक्य कहते हैं।[6]

वस्तुतः, जैसा पूर्व भी संकेत किया गया है, वाक्य की तात्त्विक परिभाषा

---

१. महाभाष्य १।१।४४।

*पतञ्जलि के इस विचार की तुलना 'अरस्तू' के निम्नलिखित कथन से कीजिए—

"And a sentence is a composite significant sound, of which certain parts of themselves signify, something, for not every sentence is composed from nouns and verbs, but there may be a sentence without verb." —Poetics, chap XX, P. 450

अर्थात् यद्यपि वाक्य में प्रत्येक पद का महत्त्व होता है, तथापि बिना क्रियापद के भी वाक्य हो सकता है।

२. "पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ।"—मञ्जूषा, पृष्ठ १,

३. "मिथः साकांक्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यम्।"—शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक संख्या १.

४. "वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तिः पदोच्चयः।"—साहित्यदर्पण, २।१८

५. "आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसहृतिः॥
पदमाद्यं पृथक् सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥"—वाक्यपदीय, २।१-२.

६. प्रत्येक मत की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए—"वाक्यपदीय" का द्वितीय काण्ड, तथा डॉ० कपिलदेव द्विवेदी कृत "अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन", अध्याय ८।

करना बहुत ही कठिन है। यह विषय पूर्णतया दार्शनिक है। अतः, निदर्शनमात्र के लिए ही उपर्युक्त मतों का उल्लेख किया गया है। 'भाषाविज्ञान' के प्रारम्भिक पाठकों के लिए इस विषय को संक्षिप्त तथा सरल शैली में ही, आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारत के प्राचीन आचार्यों में से 'पतञ्जलि' (१५० ई० पू०) को, तथा पाश्चात्य आचार्यों में से 'डियोनिसियस थ्रॉक्स' (प्रथम शताब्दी ई० पू०) को इस विषय में प्रामाणिक मानते हुये वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है:—

पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द-समूह वाक्य है।

किन्तु, वाक्य की यह परिभाषा भी विवाद से परे नहीं है। इस परिभाषा के अनुसार वाक्य की दो विशेषताएँ हैं—

(क) "वाक्य, शब्दों का समूह" है। तथा;

(ख) "वाक्य, पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।

विचार करने पर वाक्य की इन दोनों ही विशेषताओं का खण्डन हो जाता है। वस्तुतः, न तो "वाक्य, शब्दों का समूह" ही है और न ही 'वाक्य, पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है"। इन दोनों विषयों पर यहाँ पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक है।

(क) "वाक्य शब्दों का समूह है"—'भाषा' के प्रसंग में यह कहा जा चुका है, कि भाषा का उद्देश्य भावों या विचारों की अभिव्यक्ति है। विचार या भाव का ही बाह्य रूप वाक्य है। इस दृष्टि से वाक्य ही भाषा की इकाई है, जिसे पदों या खण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता[1]। वाक्य का पदों में विश्लेषण या विभाजन तो कृत्रिम है, जो वैयाकरणों ने अपनी सुविधा के लिए किया है। वस्तुतः, हमारा विचारना-बोलना आदि सब वाक्य में ही होता है। हाँ, बोलचाल में हम अपने भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए आवश्यकतानुसार कभी तो अनेक पदों का प्रयोग करते हैं और कभी केवल एक ही पद का; उदाहरण के लिए—

(i) "मुझे पानी पिलाइये।" (अनेक पद)

(ii) "पानी।" (एक पद)

प्रकरण के अनुसार, उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के वाक्य हमारे भाव या विचार को प्रकट कर देते है।

यदि "शब्दों का समूह ही वाक्य" हो, तो एक पद वाले वाक्य से काम नहीं चलना चाहिए। इसके विपरीत, संवादों में प्रायः एक पद वाले वाक्यों से ही भाव को व्यक्त किया जाता है। "हाँ", "नहीं", "जाओ"।" "कल।", "परसों।"

---

१. 'भर्तृहरि' के अनुसार भी—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कदाचन॥

—वाक्यपदीय; ब्रह्मकाण्ड ७३।

"दिल्ली।" "घर।" आदि ऐसे अनेक वाक्यों का प्रयोग हम अपने प्रतिदिन के उत्तर-प्रत्युत्तर आदि में करते हैं।

वैयाकरण पतञ्जलि ने भी "तर्पणम्।", "पिण्डीम्।" "प्रविश।" इत्यादि। एक पद वाले वाक्यों का अस्तित्व स्वीकार किया है।[१]

इस प्रकार इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि "पदों का समूह वाक्य होता है।"

(ii) "वाक्य पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।"—विचार करने पर वाक्य इस कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता है। वस्तुतः, जिस विचार या भाव को व्यक्त करने के लिए 'वाक्य' का प्रयोग किया जाता है, वह विचार केवल एक वाक्यमात्र नहीं होता है। भाषा-व्यवहार में, जब कोई वक्ता अपना कोई विशेष विचार व्यक्त करता है, तो वह उसके लिए एक ही नहीं, अपितु अनेक वाक्यों का प्रयोग करता है। प्रायः, किसी निबन्ध, प्रबन्ध या लिखित रचना का मूल विचार तो एक ही होता है, किन्तु उसके लिए अनेक वाक्यों का ही नहीं, अपितु अनेक अनुच्छेदों, अध्यायों तथा खण्डों तक का प्रयोग होता है, फिर भी तात्त्विक दृष्टि से विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति असम्भव ही है।

सामान्यतया भी, जब कोई वक्ता बोलचाल में, किसी वाक्य का प्रयोग करता है, तो उसका विचार केवल उसी वाक्य तक सीमित नहीं होता है। उसके साथ अन्य अनेक विचार भी सम्बद्ध होते हैं, जिन्हें व्यक्त करना उस समय न तो सम्भव ही होता है और न ही आवश्यक। वस्तुतः, विचार और वाक्य का सम्बन्ध, वक्ता-व्यक्ति के स्वभाव, उसकी कथन-शैली और परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

इतना ही नहीं, दार्शनिक दृष्टि से तो विचार, 'ब्रह्म' के समान ही अखण्डनीय है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने 'शब्दब्रह्म' की कल्पना की है।

इस प्रकार "वाक्य द्वारा पूर्ण अर्थ की प्रतीति" का भी खण्डन हो जाता है।

वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा

यहाँ 'भाषाविज्ञान' की दृष्टि से वाक्य की कामचलाऊ या व्यावहारिक परिभाषा देना उपयोगी है। भाषा में जिस प्रकार हम 'वाक्य' का प्रयोग करते हैं, उसको ध्यान में रखते हुए वाक्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती हैः—

तात्कालिक विचाराभिव्यक्ति के लिए वाक्य भाषा का चरम अवयव है।

या व्यावहारिक दृष्टि से वाक्य भाषा का चरम अवयव है।

वाक्य की इस परिभाषा के अनुसार, हम वाक्य को ठीक वैसा ही मान सकते हैं, जैसा मानते हुए हम उसका व्यवहार भाषा में करते हैं। अतः, वाक्य में अनेक शब्द भी हो सकते हैं तथा वाक्य केवल एक शब्द का भी हो सकता है; उदाहरणार्थ—

(i) "तुम कहाँ जा रहे हो?"—(अनेक शब्द या शब्द-समूह)

(ii) "गाँव।"— (एक शब्द)

---

१. महाभाष्य—१/१/४४ तथा २/१/१

अभिप्राय को व्यक्त करने की दृष्टि से (i) तथा (ii), दोनों ही वाक्य हैं।*

३. वाक्य एवं पद का सम्बन्ध

वाक्य एवं पद के प्रसङ्ग में भारतीय विचारधारा में 'अभिहितान्यवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' का महत्त्व है। ये दोनों ही सिद्धान्त मीमांसकों के हैं तथा यह बतलाते हैं कि "वाक्यार्थ क्या है?" भट्ट कुमारिल तथा उनके अनुयायी 'अभिहितान्वयवादी' हैं तथा गुरु प्रभाकर तथा उनके अनुयायी 'अन्विताभिधानवादी' हैं। अभिहितान्वयवादियों के अनुसार वाक्य की अपेक्षा 'पद' का महत्त्व अधिक है। पद से ही, पहले पदार्थ का ज्ञान होता है, पुनः पदार्थों के अन्वय से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। अतः, पदों से मिलकर ही वाक्य बनता है। सरलता के लिए इस वाद को हम 'पदवाद' भी कह सकते हैं।

इसके विपरीत 'अन्विताभिधानवादियों' के अनुसार पद की अपेक्षा 'वाक्य' का महत्त्व अधिक है। उनके अनुसार वाक्य से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। अपनी सुविधा के लिए ही वैयाकरण वाक्य का विश्लेषण पदों में करते हैं। अतः, वाक्य को तोड़कर ही पदों को पृथक्-पृथक् किया जाता है। वस्तुतः, पदों का अपना स्वतन्त्र कोई महत्त्व नहीं हैं। सुविधा के लिए इस वाद को हम 'वाक्यवाद कह सकते हैं। इस दृष्टि से आधुनिक भाषाविज्ञान तथा अन्विताभिधानवाद में पर्याप्त समानता है।

४. वाक्य के आवश्यक तत्त्व

भारतीय विचारधारा में अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य में पदों का अन्वय आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के कारण होता है; अतः भारतीय मान्यता के अनुसार तो वाक्य के आवश्यक तत्त्व ये तीन ही हैं। किन्तु, आधुनिक भाषाविज्ञान वाक्य में पदों के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए निम्नलिखित छः तत्त्वों को आवश्यक मानता है—

(१) सार्थकता, (२) योग्यता, (३) आकांक्षा, (४) सन्निधि, (५) अन्वय तथा (६) क्रम।

इनकी व्याख्या क्रमशः इस प्रकार है—

---

*वाक्य की कुछ अन्य परिभाषाएँ—

१. डॉ० भोलानाथ तिवारीकृत परिभाषा—

"वाक्य, पूरी बात की तुलना में अपूर्ण होते हुए भी अपने आप में पूर्ण; लघुत्तम स्वतन्त्र भाषिक इकाई है।" या

"वाक्य लघुत्तम पूर्ण स्वतन्त्र भाषांश है।" या

"वाक्य भाषा का चरम अवयव है।"—भाषाविज्ञानकोश, पृ० ५६१.

२. डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' कृत परिभाषा—

"वाक्य भाषा की लघुत्तम पूर्ण स्वतन्त्र इकाई है, जो विचार की ध्वनिमयी सार्थक अभिव्यक्ति है। इस ध्वनिमयी सार्थक अभिव्यक्ति में शब्द-समूह भी हो सकता है और एक शब्द भी।—भाषाविज्ञान के सिद्धान्त, पृ० १४३. सम्पादक डॉ० रामेश्वर दयालु 'अग्रवाल'।

(३) डॉ० देवेन्द्रनाथशर्माकृत परिभाषा—"भाषा की न्यूनतम पूर्ण सार्थक इकाई वाक्य ही है।" —भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० २५३.

(१) सार्थकता—से तात्पर्य है कि वाक्य में प्रयुक्त पद सार्थक होने चाहिएँ। भाषा का अभिप्राय ही सार्थकता है, अतः उसकी इकाई, वाक्य में भी पदों का सार्थक होना अनिवार्य है। 'कमल सुन्दर है' में सभी पद सार्थक हैं, तथा 'मकल रसुन्द' आदि निरर्थक हैं। अतः, वाक्य में ऐसे निरर्थक पदों का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

(२) योग्यता—से तात्पर्य है कि पदों में, विवक्षित भाव को कहने की क्षमता होनी चाहिए; अर्थात् पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा नहीं होनी चाहिए। 'अग्निना सिञ्चति' या 'आग से सींचता है' वाक्य में 'अग्नि' या 'आग' पद सींचने की योग्यता वाला नहीं है। अतः, अयोग्य पदों का वाक्य में प्रयोग नहीं होना चाहिए।

(३) आकांक्षा—से तात्पर्य है—'श्रोता की जिज्ञासा'। वाक्य के एक पद को सुनकर श्रोता में जो जिज्ञासा होती है, वाक्य के अन्य पदों से उसकी पूर्ति होनी चाहिए। अतः, वाक्य में प्रयुक्त पद साकांक्ष होने चाहिएँ। इससे विपरीत 'आकांक्षा-शून्य 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' आदि या 'गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी, आदि पद-समूह वाक्य नहीं है; क्योंकि, इनमें से किसी भी एक पद को सुनकर श्रोता में दूसरे को सुनने की आकांक्षा नहीं होती है।

(४) सन्निधि—से तात्पर्य है पदों का अविलम्ब उच्चारण। वाक्य में प्रयुक्त पदों का उच्चारण, विना किसी विलम्ब के, एक साथ किया जाना चाहिए। बहुत विलम्ब से कहे गये—"राम" अच्छा ... लड़का ... है", आदि पद, वाक्य कहलाने के योग्य नहीं हैं।

(५) अन्वय या अन्विति—से तात्पर्य है कि पदों में व्याकरण की दृष्टि से लिङ्ग, पुरुष, वचन, कारक आदि का सामंजस्य होना चाहिए। प्रत्येक भाषा में अन्विति के लिये अपने स्वतन्त्र नियम होते हैं।

संस्कृत तथा हिन्दी में कर्तृवाच्य में कर्ता तथा क्रिया में, कर्मवाच्य में कर्म तथा क्रिया में अन्विति होती है। उदाहरणार्थ—

(i) संस्कृत में— "रामः पठन्ति।" या "बालकाः पठति"। या
"त्वं पठति। या "अहं पठति।" या
"ग्रन्थः पठितम्।" या "पुस्तकं पठितः।"

आदि वाक्यों में अन्विति नहीं है, अतः ये वाक्य नहीं हैं। इसी प्रकार

(ii) हिन्दी में—"राम जाती है।" "मैं आते हैं।"
"लड़की जाता है।" "वे आता हूँ।"
'रोटी खाया।' "हलुवा खायी।"

आदि वाक्य भी अन्विति के अभाव में वाक्य नहीं हैं।

(iii) अंग्रेजी में—"Ram go" या "I goes" आदि में क्रिया तथा कर्ता में पुरुष तथा वचन की दृष्टि से अन्विति नहीं है। अतः, ये भी वाक्य नहीं हैं।

(i) संस्कृत में विशेषण तथा विशेष्य में भी अन्विति का होना आवश्यक है। जैसे— "सुन्दरः बालकः।" "सुन्दरी बालिका।"
"सुन्दरं पुस्तकम्।" आदि।

(ii) हिन्दी में कुछ स्थानों पर विशेषण-विशेष्य में अन्विति का नियम है। जैसे— "अच्छा लड़का।" "अच्छी लड़की।"

कुछ स्थानों पर अन्विति का नियम नहीं है। जैसे—

"सुन्दर बालक।" "सुन्दर बालिका।"

(iii) अंग्रेज़ी में विशेषण-विशेष्य की अन्विति का नियम नहीं है।

अतः, प्रत्येक भाषा में अन्विति-सम्बन्धी जो भी नियम है, वाक्य में उनका पालन होना चाहिए।

(६) क्रम—से तात्पर्य है--पदक्रम। इस सम्बन्ध में भी प्रत्येक भाषा में अपने नियम होते हैं। उदाहरणार्थ—

(i) संस्कृत में, सामान्यतया वाक्य में पदों का क्रम निश्चित नहीं होता; जैसे— "रामः पुस्तकं पठति।" "पुस्तकं पठति रामः।" अथवा " पठति रामः पुस्तकम्।" आदि

(ii) हिन्दी में—वाक्य में—कर्ता, कर्म और क्रिया के क्रम से पदों को रक्खा जाता है, जैसे—"राम आम खाता है।" इस वाक्य में पदों का क्रम बदलने से— "आम राम खाता है।" यह वाक्य नहीं होगा।

(iii) अंग्रेजी में—वाक्य में– कर्ता, क्रिया और कर्म के क्रम से पदों को रक्खा जाता है, जैसे—"Ram goes to school."

अतः, पदक्रम का पालन भी वाक्य के लिए आवश्यक है। उपर्युक्त छः आवश्यक तत्त्वों के अतिरिक्त लघुत्तम को भी वाक्य का सातवाँ तत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। इसके अनुसार अर्थ की अधिकाधिक पूर्णता के साथ ही वाक्य को लघु से लघु भी होना चाहिए।

५. वाक्य के प्रकार

भाषा में प्रयुक्त वाक्यों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जा सकता है, जिनमें से निम्नलिखित ४ आधार प्रमुख हैं—

(क) आकृति का आधार,
(ख) रचना का आधार,
(ग) अर्थ या भाव का आधार, तथा
(घ) क्रिया के होने या न होने का आधार।

उपर्युक्त आधारों की व्याख्या तथा उनके आधार पर वाक्यों का वर्गीकरण निम्नलिखित है—

आकृति का आधार—आकृति से तात्पर्य है—रूपतत्त्व या सम्बन्धतत्त्व। भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण में भी इसी को ध्यान में रक्खा जाता है। आकृति के आधार पर वाक्यों के चार वर्ग हैं—

(१) अयोगात्मक वाक्य, (२) अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य, (३) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य, तथा (४) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य।

(क/१) अयोगात्मक वाक्य—यहाँ अयोग से तात्पर्य है—'प्रकृति' के साथ 'सम्बन्धतत्त्व' के योग का अभाव। ऐसे वाक्यों में पद पृथक्-पृथक् रहते हैं। चीनी आदि एकाक्षर परिवार की अयोगात्मक भाषाओं में वाक्य पूर्णतया इसी प्रकार के होते हैं। भारोपीय परिवार की, संस्कृत आदि से विकसित, आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओं में भी, बहुत कम मात्रा में इस प्रकार के वाक्य मिल जाते हैं। संक्षेप में, संयोगात्मक भाषाओं की अपेक्षा वियोगात्मक भाषाओं में इस प्रकार के वाक्य अधिक मिलते हैं। अयोगात्मक वाक्यों में पदक्रम या वाक्य में पद के स्थान का विशेष महत्त्व होता है; जैसे—

"न्गो ता नी" (मैं तुझे मारता हूँ)।
"नी ता न्गो" (तू मुझे मारता है)।

चीनी भाषा के इस वाक्य में पद के स्थान-परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। अयोगात्मक वाक्यों की यही प्रमुख विशेपता है।

(क/२) अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य—यहाँ अश्लिष्ट से तात्पर्य है—प्रकृति (मूलशब्द) के साथ, जुड़ने वाले प्रत्यय (रूपतत्त्व या सम्बन्धतत्त्व) का बहुत अधिक न मिलना—प्रकृति से पृथक् रहना। अश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों में प्रकृति और प्रत्यय इस प्रकार जुड़ते हैं, कि उन्हें पृथक्-पृथक् जाना जा सकता। 'तुर्की' आदि भाषाओं में इसी प्रकार के वाक्य होते हैं; जैसे,

सेव (प्रकृति) + एर-इम (प्रत्यय) = सेवेरिम = (मैं प्यार करता हूँ।)

(क/३) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य—इन वाक्यों में प्रकृति (मूलशब्द) तथा प्रत्यय परस्पर घनिष्ठता से जुड़े रहते हैं। वाक्यों में प्रत्यय को विभक्ति कहा जाता है। प्रत्यय की भाँति इन विभक्तियों को प्रकृति से पृथक् पहचानना कठिन होता है। इन वाक्यों में प्रकृति तथा प्रत्यय का अस्तित्त्व घुलमिल जाता है। भारोपीय परिवार की संस्कृत आदि भाषाओं के वाक्य इसी प्रकार के होते हैं; जैसे—

रामः पुस्तकं पठति = (राम पुस्तक पढ़ता है।)

यहाँ राम + स्, पुस्तक + अम्, पठ + ति; इन प्रकृति तथा प्रत्ययों का व्यक्तित्व घुलामिला है। विद्या + सु = विद्या, यहाँ तो प्रत्यय का कोई चिह्न ही नहीं रहता; अतः, उसे पहिचानना भी कठिन हो जाता है।

(क/४) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य—इन वाक्यों में प्रकृति तथा प्रत्यय इतनी प्रकर्षता (प्र) के साथ मिले रहते हैं, कि वाक्य में पदों को पृथक्-पृथक् करना या पहचानना ही कठिन हो जाता है। उत्तरीय अमरीका की 'चेरोकी' तथा 'एस्किमो' आदि भाषाओं में वाक्य इसी प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिये 'चेरोकी' भाषा का यह प्रसिद्ध वाक्य द्रष्टव्य है—नाधोलिनिन = (हमारे लिये नाव लाओ)।

यद्यपि इस वाक्य में—नातेन + अमोखोल + निन, इन तीन पदों की कल्पना की जाती है, किन्तु निश्चयात्मक रूप से यह कहना कठिन है, कि इसमें यही तीन पद हैं।

इस प्रकार (क) आकृति के आधार पर भाषाओं में प्रयुक्त वाक्यों को उपर्युक्त (क/१), (क/२), (क/३) तथा (क/४) भागों में विभाजित किया जाता है।

(ख) रचना का आधार—रचना या वाक्य-रचना या वाक्य-गठन से तात्पर्य है—वाक्य में उद्देश्य-विधेय आदि का प्रयोग। रचना के आधार पर वाक्यों के ३ प्रकार बनते हैं—

(१) साधारण वाक्य, (२) मिश्रित वाक्य तथा (३) संयुक्त वाक्य।

(ख/१) साधारण वाक्य (Simple Sentence)—साधारण या सरल वाक्य से तात्पर्य है—वह वाक्य, जिसमें एक उद्देश्य तथा एक विधेय हो।[1] यहाँ उद्देश्य-विधेय अकेले-अकेले भी हो सकते हैं और विस्तार-सहित भी, किन्तु न तो दो उद्देश्य हो सकते हैं और न ही दो विधेय; उदाहरणार्थ—

१. राम गया। (उद्देश्य तथा विधेय)
२. श्याम का भाई राम गया। (विस्तार सहित उद्देश्य तथा विधेय)
३. श्याम का भाई राम अपने घर गया। (विस्तार सहित उद्देश्य तथा विस्तार सहित विधेय)

उपर्युक्त तीनों ही वाक्य साधारण या सरल वाक्य हैं।

(ख/२) मिश्रित वाक्य (Complex Sentence)—मिश्रित या मिश्र या जटिल वाक्य उसे कहते हैं, जो अनेक उपवाक्यों से बनता है तथा जिसमें एक उपवाक्य प्रमुख होता है तथा शेष उपवाक्य आश्रित (गौण) होते हैं; उदाहरणार्थ—

"सीता ने कहा कि मैं अकेली नहीं रहूँगी।"

यहाँ दो उपवाक्य हैं—(१) सीता ने कहा, (२) मैं अकेली नहीं रहूँगी। इनमें से प्रथम उपवाक्य प्रमुख है तथा द्वितीय आश्रित।

आश्रित उपवाक्य संज्ञा भी हो सकता है, विशेषण भी हो सकता है और क्रियाविशेषण भी हो सकता है।

(ख/३) संयुक्त वाक्य (Compound Sentence)—वह वाक्य, जिसमें एक से अधिक प्रमुख उपवाक्य हों, चाहे आश्रित उपवाक्य हों, या न हों। जैसे—

"राम पढ़ रहा है और श्याम लिख रहा है।"

यहाँ दो उपवाक्य हैं—(१) "राम पढ़ रहा है।"
(२) "श्याम लिख रहा है।"

ये दोनों ही उपवाक्य यहाँ प्रमुख हैं। अतः यह संयुक्त वाक्य है।

---

१. जिसके विषय में कुछ कहा जाता है, वह उद्देश्य होता है तथा जो कहा जाता है, वह विधेय होता है। जैसे—राम (उद्देश्य), जाता है (विधेय)।

२. विस्तार—यहाँ विस्तार से तात्पर्य है, जो उद्देश्य या विधेय की विशेषता बतलाता है। जैसे, वाक्य ३ में 'राम' का विस्तार है— 'श्याम का भाई' तथा 'गया' का विस्तार है—'अपने घर'।

इस प्रकार रचना के आधार पर वाक्यों के ३ वर्ग बनते हैं–(ख/१) साधारण वाक्य, (ख/२) मिश्रित वाक्य तथा (ख/३) संयुक्त वाक्य।

(ग) अर्थ या भाव (Mood) का आधार—विधान, निषेध, आज्ञा आदि को ही अर्थ या भाव कहते हैं। इनके आधार पर वाक्यों के अनेक प्रकार सम्भव हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं —

(ग/१) विधानात्मक—मोहन जाता है।
(ग/२) निषेधात्मक—मोहन नहीं जाता है।
(ग/३) आदेशात्मक—मोहन, जाओ।
(ग/४) प्रश्नात्मक—आपका घर कहाँ हैं ?
(ग/५) विस्मयात्मक—इतनी बड़ी सफलता !
(ग/६) सम्भावनात्मक—वह चला गया होगा।
(ग/७) इच्छात्मक—तुम प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होओ।
(ग/८) संशयात्मक—वह आयेगा कि नहीं।
(ग/९) संकेतात्मक—यदि वह परिश्रम करता, तो उत्तीर्ण हो जाता।

इन उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त सुर (लहजा) के आधार पर भी विभिन्न अर्थों या भावों को व्यक्त किया जा सकता है।

(घ) क्रिया के होने या न होने का आधार—प्रायः तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से क्रिया सभी भाषाओं के वाक्यों में पायी जाती है, किन्तु संस्कृत, लैटिन आदि कुछ प्राचीन तथा रूसी, बंगला आदि कुछ नवीन भाषाओं में बिना क्रिया के वाक्य भी मिलते हैं। अतः इस आधार पर भी वाक्यों के दो प्रकार होते हैं:—

(घ/१) क्रियायुक्त वाक्य—प्रायः सभी वाक्य इसी कोटि के होते हैं।

(घ/२) क्रियारहित वाक्य—जैसे संस्कृत में 'तर्पणम्।' 'पिण्डीम्।' आदि। वैसे समाचारपत्रों के शीर्षकों, लोकोक्तियों, विज्ञापनों आदि में प्रायः क्रियाविहीन वाक्यों का ही प्रयोग होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ४ आधारों पर वाक्यों के अनेक प्रकार बनते हैं। 'साहित्य-शास्त्र' या 'काव्यशास्त्र' में कथन-शैली के आधार पर भी वाक्यों में भेद किया जाता है; किन्तु भाषाविज्ञान के क्षेत्र से वाहर होने के कारण उन पर यहाँ विचार करना आवश्यक नहीं है।

६. वाक्य-विश्लेषण या वाक्य का विभाजन

भाषा-वैज्ञानिकों को कोई ऐसा वाक्य-विभाजन अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है, जिसे विश्व की सभी भाषाओं पर लागू किया जा सके। अभी तक वाक्य-विभाजन का जो रूप प्रचलित है, उसके अनुसार वाक्य को दो भागों में विभक्त किया जाता—(१) अग्र तथा (२) पश्च। हिन्दी व्याकरणों में इन दोनों को क्रमशः 'उद्देश्य' तथा 'विधेय' कहा जाता है। एक वाक्य के उदाहरण से इन्हें स्पष्ट करना आवश्यक है।

वाक्य—"बालक पाठशाला गया"।

यहाँ 'बालक' उद्देश्य है तथा 'पाठशाला गया' विधेय है।

१. उद्देश्य—जिसके विषय में कुछ कहा जाता है। जैसे उपर्युक्त वाक्य में—'बालक'।

२. विधेय—जो कुछ कहा जाता है। जैसे उपर्युक्त वाक्य में—'पाठशाला गया'।

पुनः (क) उद्देश्य तथा (ख) विधेय का विभाजन भी किया जाता है।

उद्देश्य का विभाजन दो भागों में किया जाता है—(१) कर्त्ता, तथा (२) कर्त्ता का विस्तार।

विधेय के अनेक विभाग हैं—(१) कर्म (२) कर्म का विस्तार, (३) करण, (४) करण का विस्तार, (५) सम्प्रदान, (६) सम्प्रदान का विस्तार, (७) अपादान, (८) अपादान का विस्तार, (९) अधिकरण, (१०) अधिकरण का विस्तार, (११) सम्बोधन, (१२) सम्बोधन का विस्तार, (१३) क्रिया, (१४) क्रिया का विस्तार, (१५) पूरक तथा (१६) पूरक का विस्तार, (१७) पूर्वकालिक क्रिया आदि।

साधारण वाक्य का विश्लेषण

साधारण वाक्य—"वरिष्ठ अध्यापक कमरे में भाषाविज्ञान पर विद्वत्तापूर्वक भाषण दे रहा है।"

उद्देश्य = { अध्यापक—कर्ता।
वरिष्ठ—कर्ता का विस्तार।

विधेय = { भाषण—कर्म।
भाषाविज्ञान पर—कर्म का विस्तार।
कमरे में अधिकरण।
बड़े—अधिकरण का विस्तार।
दे रहा है—क्रिया।
विद्वत्तापूर्वक—क्रिया का विस्तार।

संयुक्त वाक्य का विश्लेषण—

जहाँ दो या दो से अधिक प्रमुख उपवाक्य होते हैं, उसे संयुक्त वाक्य कहते हैं। संयुक्त वाक्य में विद्यमान, प्रत्येक प्रमुख उपवाक्य का विश्लेषण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार साधारण वाक्य का होता है।

मिश्रित वाक्य का विश्लेषण

मिश्रित वाक्य में एक से अधिक उपवाक्य होते हैं तथा उनमें से एक वाक्य प्रमुख होता है, शेष वाक्य उस प्रमुख वाक्य के आश्रित होते हैं। ये आश्रित वाक्य ३ प्रकार के होते हैं—

(१) संज्ञा उपवाक्य।
(२) विशेषण उपवाक्य।
(३) क्रियाविशेषण उपवाक्य।

(१) **संज्ञा उपवाक्य**—वह उपवाक्य, जो संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है; जैसे—"सभी शिक्षित व्यक्ति जानते हैं कि भषाविज्ञान एक उपयोगी विषय है।

यहाँ "भाषाविज्ञान उपयोगी विषय है", यह संज्ञा उपवाक्य है, जो "सभी शिक्षित व्यक्ति जानते हैं", इस प्रमुख वाक्य का आश्रित है।

(२) **विशेषण उपवाक्य**—वह उपवाक्य, जो प्रमुख वाक्य में प्रयुक्त किसी संज्ञा या सर्वनाम की विशेषता बतलाता है; जैसे—

'ऐसा कौन भारतीय मनुष्य है, जिसने गाँधीजी का नाम नहीं सुना।

यहाँ "जिसने गाँधीजी का नाम नहीं सुना", यह विशेषण उपवाक्य है, जो "ऐसा कौन भारतीय मनुष्य है", इस प्रमुख वाक्य में प्रयुक्त 'मनुष्य' की विशेषता बतला रहा है।

(३) **क्रियाविशेषण उपवाक्य**—विशेषण वाक्य की ही भाँति जो उपवाक्य, प्रमुख वाक्य में प्रयुक्त क्रिया की विशेषता बतलाता है; जैसे—

"मैं उसी प्रकार आया हूँ, जैसे आप आये हैं।"

यहाँ "जैसे आप आये हैं", यह क्रियाविशेषण उपवाक्य हैं, जो "मैं उसी प्रकार आया हूँ", इस प्रमुख उपवाक्य में प्रयुक्त 'आया हूँ' क्रिया की विशेषता बतला रहा है।

इस प्रकार मिश्रित वाक्य का विभाजन पहले उपवाक्यों में किया जाता है, और बाद में, प्रत्येक उपवाक्य का विभाजन साधारण वाक्य की भाँति ही उद्देश्य-विधेय में कर लिया जाता है।

७. वाक्य के निकटस्थ अवयव (immediate constituent)

वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद ही वाक्य का अवयव या अङ्ग होता है। वाक्य में प्रयुक्त जिन पदों का, अर्थ की दृष्टि से (स्थान की दृष्टि से नहीं), निकट-सम्बन्ध होता है, वे ही निकटस्थ अवयव कहे जाते हैं; उदाहरणार्थ—

"वह पाठ, जो कल छूट गया था, आज पढ़ाया जायेगा।"

उपर्युक्त वाक्य में' 'पाठ' और 'पढ़ाया जायेगा' स्थान की दृष्टि से दूर होते हुए भी, अर्थ की दृष्टि से निकटस्थ अवयव हैं। इसके विपरीत 'छूट गया था' और 'आज' स्थान की दृष्टि से निकट होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से दूर हैं।

इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"The books of that writer, are published."

उपर्युक्त अंग्रेजी वाक्य में "books" तथा "are publisbed." स्थान की दृष्टि से दूर होते हुए भी, अर्थ की दृष्टि से निकटस्थ अवयव हैं, तथा 'writer' और 'are' स्थान की दृष्टि से निकट होने पर भी अर्थ की दृष्टि से दूर हैं।

वाक्य में, निकटस्थ अवयवों का ज्ञान तभी होता है, जब वक्ता तथा श्रोता उस भाषा की प्रकृति से भली-भाँति परिचित होते हैं। इसके लिए भाषा के विशेष प्रयोगों को भी ध्यान में रखना पड़ता है; जैसे—"मेरा सर चक्कर खा रहा है।"

इस वाक्य में जो व्यक्ति "चक्कर खाना" इस विशेष प्रयोग को नहीं जानता,

उसके लिए यह समझना कठिन है कि इस वाक्य में "मेरा सर" तथा 'चक्कर खा रहा हैं।' ये दो निकटस्थ अवयव-समूह हैं। न जानने पर वह इन्हें 'मेरा सर' 'चक्कर' तथा 'खा रहा है'—इस प्रकार ३ निकटस्थ अवयव-समूह मान सकता है। इस प्रकार अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

साथ हीं, निकटस्थ अवयव के ज्ञान के लिए कभी-कभी वक्ता के स्वभाव को भी जानना आवश्यक होता है। कई व्यक्तियों को, बात को उलटकर बोलने की आदत ही पड़ जाती हैं; । जैसे—"मैं रहा था जा, घर।"

निकटस्थ अवयवों के व्यवहार की दृष्टि से यह वाक्य अशुद्ध है। इसका शुद्ध-रूप होगा—"मैं घर जा रहा था।"

यहाँ वाक्य के सभी अवयव अर्थ की दृष्टि से निकट है, और अर्थ को समझना नितान्त सरल है।

कई बार परिस्थिति के अनुसार वाक्य के निकटस्थ अवयवों को स्वयं समझना पड़ता है। जैसे—

"सुन्दर लड़कियाँ और लड़के जा रहे थे।"

यहाँ 'सुन्दर' अवयव, केवल 'लड़कियाँ' का भी निकटस्थ अवयव हो सकता है तथा 'लड़कियाँ और लड़के" का भी। अतः, वक्ता के आशय के अनुसार ही उपर्युक्त वाक्य में निकटस्थ अवयवों का निर्णय करना पड़ेगा।

संक्षेप में, वाक्य में निकटस्थ अवयवों का ठीक-ठीक प्रयोग भी आवश्यक है। किसी भाषा के अध्ययन में हम तभी सफल हो सकते हैं, जब उनके वाक्यों के निकट-स्थ अवयवों का हमें ठीक-ठीक ज्ञान हो।

८. वाक्य परिवर्तन की दिशाएँ

भाषाओं में निरन्तर विकास होता रहता है। इस विकास का प्रभाव भाषाओं की वाक्य-रचना पर भी पड़ता है. अतः सभी भाषाओं में वाक्य-परिवर्तन भी देखा जाता है। वाक्य-परिवर्तन की कुछ दिशाएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) पद क्रम परिवर्तन—प्रत्येक भाषा के वाक्यों में पदों का एक विशेष क्रम होता है, जिसका पालन अनिवार्यरूप से किया जाता है, किन्तु नवीनता लाने के लिए, कुछ लेखक तथा वक्ता जानबूझकर पदों का क्रम बदल देते हैं। आजकल की हिन्दी में ऐसे अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे—

(१) "यह स्थान मनुष्यमात्र के लिए है।"
के स्थान पर "यह स्थान मात्र मनुष्यों के लिए है।"

(२) "उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था।"
के स्थान पर "बहुत प्रभावशाली था उनका व्यक्तित्व।"—

(२) अन्वय में परिवर्तन—संस्कृत में विशेषण-विशेष्य में अन्विति का होना अनिवार्य था। प्रारम्भ में, हिन्दी में भी—सुन्दर युवक, सुन्दरी युवति—जैसे ही प्रयोग

होते थे, किन्तु अब 'सुन्दर युवक', सुन्दर युवति' तथा 'सुन्दर पुस्तक' में अन्वय में कोई अन्तर नही किया जाता है। 'आदरणीय पिताजी', 'आदरणीय माता जी' भी खूब प्रयुक्त होता है।

(३) **उपवाक्यों में परिवर्तन**—कुछ समय पहले, हिन्दी में पृथक्-पृथक् उपवाक्य अपनी-अपनी क्रिया के साथ प्रयुक्त होते थे, किन्तु आजकल एक उपवाक्य के मध्य दूसरा उपवाक्य आ जाता है; जैसे—

"आजकल जो समाचारपत्र आ रहे हैं, बहुत कम पृष्ठों के होते हैं।"

इसके स्थान पर प्रायः ऐसा वाक्य देखा जाता है—

"समाचारपत्र, जो आजकल आ रहे हैं, बहुत कम पृष्ठों के होते हैं।"

(४) **निकटस्थ अवयवों में परिवर्तन**—अज्ञानता तथा अशिक्षा के कारण निकटस्थ अवयवों के स्थान में भी परिवर्तन प्रायः देखा जाता है; जैसे—"मैंने उन्हें एक फूलमाला भेंट की।" यह वाक्य प्रायः इस रूप में देखा जाता है—

"मैंने उन्हें एक फूलों की माला भेंट की।"

यहाँ वक्ता यह नहीं समझ सका कि ऊपर के वाक्य में 'एक' विशेषण है तथा 'फूलमाला' विशेष्य है, अतः वह तो शुद्ध है, किन्तु जब 'फूलों की माला" का प्रयोग असमस्त रूप में किया जा रहा है, तो 'एक' विशेषण को भी 'माला' के साथ ही रखना आवश्यक है। अन्यथा "एक फूलों" में अर्थ की दृष्टि से कोई निकटता नहीं।

(५) **डैस (—) का प्रयोग**—पहले वाक्य में प्रयुक्त किसी कठिन शब्द को स्पष्ट करने के लिए पृथक् वाक्य का प्रयोग किया जाता था; जैसे—"राम बहुत ही सज्जन है। यहाँ सज्जन से तात्पर्य है कि राम बहुत ही ईमानदार तथा न्यायप्रिय है।"

आजकल इन दोनों वाक्यों को मिलाकर डैस की सहायता से इस प्रकार लिखा जाता है - 'राम बहुत ही सज्जन—ईमानदार तथा न्यायप्रिय है।"

इस प्रकार स्पष्टता तथा संक्षेप के लिए 'डैस' का प्रयोग किया जाता है।

(६) **कोष्ठक-प्रयोग**—डैस की भाँति ही आजकल एक विचार के बीच में आयी दूसरी, किन्तु अतिरिक्त बात को कोष्ठकों में दिया जाता है। इस प्रकार वाक्य में रखकर भी उसे वाक्य से पृथक् करके; एक सूचनामात्र दे दी जाती है; जैसे—"राम (विश्वनागरिक) आजकल विश्वयात्रा पर गया हुआ है।"

पहले इस प्रकार की सूचना के लिए पृथक्-पृथक् वाक्य या उपवाक्य का प्रयोग होता था; जैसे "राम जो एक विश्वनागरिक है, विश्वयात्रा पर गया हुआ है।" या "राम एक विश्व नागरिक है और वह विश्वयात्रा पर गया हुआ है।"

(७) **पद या प्रत्यय लोप**—संक्षेप के लिए प्रायः ऐसा किया जाता है; जैसे—"आँखों से देखी बात पर विश्वास करना चाहिए, कानों से सुनी बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए।"

यह वाक्य प्रायः इस रूप में मिलता है—"आँखों देखी बात पर विश्वास करना चाहिए, कानों सुनी नहीं।"

उपर्युक्त वाक्य की तुलना करने पर पहले वाक्य के काले अक्षरों में मुद्रित प्रत्ययों तथा पदों का, दूसरे वाक्य में लोप हो गया है।

(८) अधिक पद-प्रयोग —बोलचाल में ऐसे वाक्यों का प्रयोग, प्रायः किया जाता है; जैसे —"दरअसल में मैंने पढ़ा ही नहीं। या "वह सज्जन पुरुष आया ही नहीं।" "पुस्तक मेरे को दे दो।"

यहाँ काले अक्षरों में मुद्रित पद अधिक है, जिनका कारण प्रयोक्ता का अज्ञान ही प्रतीत होता है।

(९) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कथन—अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के कारण आजकल हिन्दी में भी, प्रायः ऐसे वाक्य मिल जाते हैं; जैसे—"राम ने कहा है कि मैं कल आऊँगा।" के स्थान पर हिन्दी में आजकल कहा जाता है—"राम ने कहा है कि वह कल आयेगा।"

(१०) आदर प्रकट करने के लिए—प्रायः आदर प्रकट करने के लिए एक वचन के स्थान पर बहुवचन तथा स्त्रीलिंग के स्थान पर पुंल्लिङ्ग का प्रयोग वाक्यों में आजकल हो रहा है; जैसे—जब राम वन को गया।" के स्थान पर

"जब राम वन को गये।"

"आप (स्त्रीवाचक) कब आयी ?" के स्थान पर

"आप (पुरुषवाचक) कब आये ?"

इसी प्रकार "वह गया' के स्थान पर "वे गये" तथा "मैं आया" के स्थान पर "हम आये" का प्रयोग भी बहुत हो रहा है।

(११) कारकों के स्थान पर हाइफन तथा कॉमा—संक्षेप के लिए, प्रायः ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता है; जैसे—यह "मेरठ कालिज का संस्कृत का विभाग है।" के स्थान पर "यह मेरठ कॉलिज, संस्कृत-विभाग है।"

इस प्रकार खोजने पर वाक्य-परिवर्तन-सम्बन्धी अनेक अन्य दिशाएँ भी मिल सकती हैं।

९. वाक्य-परिवर्तन (Sintactical Changes) के कारण

भाषा के अन्य अङ्गों—ध्वनि, पद, अर्थ की भाँति ही वाक्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। किसी भी भाषा के विकास को देखने से यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उसकी वाक्य-रचना में पूर्वापेक्षा परिवर्तन हुआ है। जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, वाक्य में यह परिवर्तन पदक्रम, अन्वय तथा नियन्त्रण आदि की दृष्टि से हुआ करता है। भारतीय आर्यभाषा की प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक वाक्य-रचना परिवर्तित रूप में ही दिखलायी पड़ती है। इस वाक्य-परिवर्तन में निम्नलिखित कारण प्रमुख माने जाते हैं:—

(१) अन्य भाषाओं का प्रभाव—आधुनिक भारतीय आर्यभाषा हिन्दी की वाक्य-रचना पर फारसी तथा अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्टरूप से दिखलायी पड़ता है। हिन्दी में 'चूँकि' या 'कि' के साथ लगातार वाक्य बनाने पर 'फारसी' का, तथा बड़े-बड़े वाक्यों की रचना पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है। किसी दूसरे व्यक्ति के वाक्य को उद्धृत करने में; जैसे, "उसने कहा है कि मैं आऊंगा" के स्थान पर "उसने कहा है कि वह आयेगा"—भी अंग्रेजी की वाक्य-रचना का ही प्रभाव है।

संस्कृत में 'अथ' तथा 'इति' का प्रयोग वाक्यों में होता था। अब इनके स्थान पर प्रायः इन्वर्टेड कॉमाज "—" का प्रयोग भी अंग्रेजी की ही देन है। "मैं आऊँगा।"— राम ने कहा। "ठीक है।"—लक्ष्मण ने स्वीकार किया। आदि वाक्य-रचना भी अंग्रेजी से प्रभावित है। इसी प्रकार "राम जाता है घर। वहाँ वह खाता है खाना और फिर लौट जाता है अपने दफ्तर।"—इस प्रकार कर्म से पूर्व क्रिया का प्रयोग भी अंग्रेजी की ही देन है।

इस प्रकार हिन्दी की वाक्य-रचना पर फारसी तथा सबसे अधिक अंग्रेजी की वाक्य-रचना का प्रभाव लक्षित होता है तथा इस प्रभाव से हिन्दी वाक्यों में परिवर्तन हो गया है।

(२) विभक्तियों का घिस जाना—जो भाषा पहले संयोगात्मक होती है तथा बाद में वियोगात्मक हो जाती है, उस भाषा में धीरे-धीरे सम्बन्धतत्त्व या विभक्तियाँ घिस जाती हैं। संयोगावस्था की विभक्तियों का स्थान सहायक शब्द ले लेते हैं। इस परिवर्तन का सर्वाधिक प्रभाव वाक्यों में 'पदक्रम' पर पड़ता है। भाषा की संयोगावस्था में, वाक्य में पदों का कोई निश्चित क्रम नहीं होता, किन्तु वियोगावस्था में, वाक्य में पदों का क्रम निश्चित हो जाता है। इस कारण वाक्य-रचना में भी बहुत परिवर्तन हो जाता है। भारोपीय परिवार की प्राचीन तथा आधुनिक भाषाओं की तुलना से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत की तुलना में हिन्दी में पदक्रम लगभग निश्चित हो गया है।

(३) स्पष्टता—स्पष्टता के लिए भी वाक्यों में परसर्गों का प्रयोग होने लगता है। प्राकृत तथा अपभ्रंश में विभक्तियों के रहते हुए भी सहायक शब्दों का प्रयोग इसी कारण प्रारम्भ हुआ था, जो बाद में परसर्गों के रूप में दिखलायी पड़ता है। इसी प्रकार एक वाक्य के स्थान पर कई वाक्य या उपवाक्यों का प्रयोग, वाक्य के मध्य 'डैश' (—) का प्रयोग, वाक्य में अधिक पदों का प्रयोग आदि का कारण भी यह स्पष्टता लाने की प्रवृत्ति ही होती है और इसके कारण भी वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है।

(४) बलाघात—अनेक बार वाक्य के किसी विशेष पद के महत्त्व को प्रकट करने के लिए वक्ता उस पर बल का प्रयोग करता है। ऐसा करने में प्रायः बलाघात वाले पद का स्थान भी वाक्य के आदि या अन्त में हो जाता है; जैसे—"खाना, अभी नहीं खाया है? सामान्य दशा में वाक्य होता है—"अभी खाना नहीं खाया है।" अतः, बलाघात से भी वाक्य-परिवर्तन हो जाता है।

(५) मानसिक स्थिति—भाषा में वाक्यों की रचना पर वक्ता की मानसिक स्थिति का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि किसी बाह्य अथवा आन्तरिक कारण से वक्ता क्षुब्ध है, घबराया हुआ है, तो उसकी भाषा में वाक्य छोटे-छोटे पदक्रम अव्यवस्थित रहता है। यही कारण है कि युद्धकालीन भाषा तथा शान्तिकालीन भाषा में बड़ा अन्तर रहता है। शान्ति-काल में भाषा में प्रयुक्त वाक्यों में व्यवस्था अधिक रहती है।

(६) प्रयत्न-लाघव—प्रयत्न-लाघव के लिए तो सभी जगह अवकाश रहता है। अतः, भाषा के अन्य अंगों की ही भाँति वाक्य-परिवर्तन में भी यह कारणरूप में रहता है। वाक्यों में कुछ प्रत्ययों तथा पदों का लोप इसी का परिणाम है। जैसे "आँखों से देखी बात सच होती है।" के स्थान पर "आँखों देखी बात सच होती है" आदि।

(७) अनुकरण की प्रवृत्ति—अनेक वक्ताओं में कुछ विशेष कारणों से, विशेषत: उच्चता की भावना के कारण, किसी भाषा के अनुकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे वक्ता अपनी भाषा में उस तथाकथित उच्च भाषा का अनुकरण, जानबूझकर करने लगते हैं, जिससे उनकी अपनी भाषा के वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है; जैसे—

"मैं जा रहा हूँ।"—मोहन ने कहा।

"तुम नहीं जा सकते।" सोहन ने उसे रोका।

यह अंग्रेजी की वाक्य-रचना का अनुकरण है।

अन्य भाषा का प्रभाव जहाँ वाक्य रचना को अनजाने प्रभावित करता है, वहाँ अनुकरण में जानबूझकर अपनी भाषा को दूसरी भाषा के आधार पर बदलने का प्रयास किया जाता है।

(८) नवीनता का प्रयास—अनेक वक्ता तथा लेखक अपनी भाषा में नवीनता लाने के लिए वाक्यों में नये-नये प्रयोग करते हैं। इस प्रयास में वाक्य में प्रचलित पदक्रम को बदल दिया जाता है; जैसे—"यह स्थान मनुष्य मात्र के लिए है।" के स्थान पर "यह स्थान मात्र मनुष्यों के लिये है।"

इसके अतिरिक्त अनेक बार कर्ताविहीन या क्रियाविहीन वाक्यों का प्रयोग भी देखा जाता है।

(९) अज्ञान—अज्ञान के कारण भी, वाक्यों में अधिक पदों का प्रयोग होने से वाक्य-परिवर्तन हो जाता है। अनेक वक्ता 'दरअसल' 'दरहकीकत', 'सज्जन' आदि शब्दों के स्थान पर वाक्यों में 'दरअसल में' 'दरहकीकत में' सज्जन पुरुष' आदि का प्रयोग करते हैं, जिससे वाक्य-रचना में परिवर्तन हो जाता है।

(१०) परम्परावादिता—कभी-कभी परम्परावादिता से भी वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत में विशेष्य-विशेषण का अन्वय आवश्यक था, और विशेषण भी पुंल्लिग, स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग होता था। हिन्दी में, इस परम्परा का पालन कुछ विशेषणों में तो हो रहा है, किन्तु कुछ में हिन्दी की प्रकृति के अनुसार विशेषण का एक ही लिङ्ग रह गया है; जैसे, 'चतुरः बालकः' या 'चतुरा बालिका'। संस्कृत के प्रति आग्रह रखने वाले कुछ विद्वान् हिन्दी में भी 'चतुरा बालिका' जैसा प्रयोग करते हैं, जिससे हिन्दी-वाक्यों में परिवर्तन हो जाता है।

संस्कृत में, आदर प्रकट करने के लिए एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग होता था। परम्परा-पालन के लिए हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग चल रहे हैं, जिससे हिन्दी की वाक्य-रचना में परिवर्तन हो जाता है; क्योंकि हिन्दी में एकवचन के लिए, बहुवचन के प्रयोग का कोई नियम नहीं है। "वह आया" के स्थान पर "वे आये" उदाहरण ऐसा ही है।

आदर देने के लिए, आजकल बोलचाल की हिन्दी में "आप आये" या "आप गये" जैसे कुछ वाक्यों का प्रयोग पुल्लिग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों के लिए समान रूप से हो रहा है। वाक्यपरिवर्तन की दृष्टि से ऐसे प्रयोगों का बहुत ही महत्त्व है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त 'भावुकता' 'संक्षेप की प्रवृत्ति' आदि अन्य कारण भी हैं, जिनसे वाक्य-परिवर्तन हो जाता है।

[अध्याय ११]

अर्थविचार

१. नामकरण
२. अर्थ का महत्त्व
३. अर्थ क्या है तथा शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे होता है ?
४. शब्द और अर्थ का सम्बन्ध
५. अनेकार्थक तथा समानार्थक शब्दों की समस्या
६. अर्थ-विनिश्चय में सहायक तत्त्व
७. अर्थपरिवर्तन या अर्थविकास
८. अर्थपरिवर्तन की दिशाएँ
९. अर्थपरिवर्तन के कारण

[अध्याय ११]

अर्थविचार (Semantics)

शब्द तथा अर्थ का समन्वित रूप भाषा है। बिना अर्थ के शब्द निरर्थक रहता है तथा बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति असम्भव है। भाषाविज्ञान में जिस प्रकार भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों तथा रूपों आदि का विचार किया जाता है उसी प्रकार अर्थ का भी।

१. नामकरण

भाषाविज्ञान के एक अङ्ग के रूप में अर्थ-सम्बन्धी विवेचन को आजकल हिन्दी में 'अर्थविचार' तथा अंग्रेजी में सेमण्टिक्स (Semantics) कहा जाता है। अंग्रेजी में इसका यह नाम फ्रांसीसी विद्वान् 'ब्रील' (Michel Breal) द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ था। इसके लिए 'रिहमाटोलॉजी' (Rhematology), तथा 'सेमसिआलॉजी' (Semasialogy) नाम भी कुछ दिन चले, किन्तु बाद में उनका व्यवहार उपयुक्त नहीं समझा गया। इसी प्रकार हिन्दी में भी पहले शब्दार्थ-विज्ञान या अर्थविज्ञान आदि शब्दों का व्यवहार रहा, किन्तु बाद में यह समझा गया कि 'अर्थ-विज्ञान' क्योंकि अपने आप में 'भाषाविज्ञान' की ही भाँति एक स्वतन्त्र विषय होने की क्षमता रखता है, अतः, भाषाविज्ञान के अङ्ग के रूप में तो इसे 'अर्थ-विचार' कहना ही अधिक उपयुक्त है। संक्षेप में, आजकल अंग्रेजी में सेमण्टिक्स (Semantics) तथा हिन्दी में 'अर्थ-विचार' शब्दों का ही व्यवहार इसके लिए, प्रायः किया जाता है।

भारत में अर्थविचार की परम्परा

यद्यपि अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शब्द के साथ अर्थ का आविर्भाव जुड़ा हुआ है, उसी प्रकार शब्द-विचार के साथ ही अर्थ-विचार का भी आरम्भ अतिप्राचीन काल में ही हो गया होगा, तथापि भारतवर्ष में 'यास्क' का 'निरुक्त' इसका प्राचीनतम एवं पुष्ट प्रमाण है। निरुक्त के उपरान्त काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में तीन प्रकार के वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्दों के तीन प्रकार के, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का विवेचन विस्तार से उपलब्ध होता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता-अनित्यता तो भारतीय दर्शनों का भी विषय रही है। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' तथा भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' में भी शब्दार्थ-विषयक विचार मिलते हैं।

२. अर्थ का महत्त्व

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही वेदों का ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण के लिए अनिवार्य माना जाता था—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।"

—महाभाष्य, प्रथमाह्निक

अर्थात् ब्राह्मण को, विना कारण भी छः अङ्ग वाले वेद को पढ़ना तथा जानना चाहिए।

कुछ ब्राह्मण, विना अर्थज्ञान के ही, जब वेदों के पाठमात्र से सन्तुष्ट रहने लगे तब 'यास्क' ने उनकी निन्दा इस प्रकार की है—

"यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥"

—निरुक्त, अध्याय १, पाद ६ ।

अर्थात् जिस प्रकार सूखा ईंधन भी विना अग्नि नहीं जल पाता, उसी प्रकार केवल वाणी द्वारा उच्चारण करने से ही वेदों का पाठ ज्ञानप्रद नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं; ऐसे वेदपाठी ब्राह्मण को 'यास्क' ने ठूँठ के समान कहा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थम् इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूतपाप्मा ॥

—निरुक्त, अध्याय १, पाद ६ ।

अर्थात् विना अर्थ जाने वेदपाठी केवल बोझा ढोता है। जो अर्थज्ञानपूर्वक वेदों का अध्ययन करता है, वह दोनों लोकों में कल्याण का भागी होता है।

'ऋग्वेद' की एक ऋचा में अर्थज्ञान की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है—

"उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैषा वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥"

—ऋ० १०/७१/५॥

इस ऋचा के प्रथम आधे भाग में अर्थज्ञ व्यक्ति की प्रशंसा करते हुये उसे विद्वानों की सभा में अडिग रहने वाला तथा किसी से पराजित न होने वाला कहा गया है। ऋचा के उत्तरार्द्ध में अर्थज्ञान से हीन व्यक्ति को, मायावी गाय-सदृश अर्थात् दूध न देने वाली गाय-सदृश, वाणी के साथ घूमने वाला तथा पुष्प-फल रहित वाणी को सुनने वाला कहा गया है।

स्पष्ट ही, यहाँ पर शब्द को गाय तथा वृक्ष और अर्थ को दूध तथा पुष्प-फल बतलाया गया है। इसी की पुष्टि 'यास्क' के इस स्पष्टीकरण से भी होती है—

"अर्थं वाचः पुष्पफलमाह ।"   —निरुक्त, १/२०॥

अर्थात् ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचा में अर्थ को वाणी का पुष्प-फल कहा गया है।

परिणामस्वरूप, 'यास्क' ने भी अपने 'निरुक्त' में शब्दों का निर्वचन करते हुए, अर्थ को ही महत्त्व दिया है—

"अर्थनित्यः परीक्षेत ।"   —निरुक्त, द्वितीय अध्याय, प्रथमपाद ।

अर्थात् शब्दों के निर्वचन में सदैव अर्थ को ही विचार का विषय बनाना चाहिए।

इसी प्रकार महान् वैयाकरण 'पाणिनि' ने भी 'अर्थवान्' को ही प्रातिपदिक (मूलशब्द या प्रकृति) माना है—

"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।"   —अष्टाध्यायी, १/२/४५ ।

आगे चलकर 'भर्तृहरि' ने तो अर्थ को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उनके विवेचन में शब्द केवल साधन ही रह गया है, साध्य है तो केवल अर्थ। उनके अनुसार भाषा में अर्थ ही प्रमुख होता है, उसी को व्यक्त करने के लिए शब्द का आश्रय लिया जाता है। अर्थज्ञान हो जाने के उपरान्त तो श्रोता के लिए भी शब्द का कोई महत्त्व नहीं रहता है। श्रोता के पास केवल अर्थ ही रहता है, शब्द नहीं। अतः, अर्थज्ञान कराने के तत्काल बाद ही शब्द व्यर्थ हो जाता।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि संकेतग्रह या अर्थज्ञान के लिए शब्द का होना अनिवार्य है, किन्तु केवल शब्द के होने से ही अर्थज्ञान हो जाय, यह सर्वदा सम्भव नहीं है। 'भर्तृहरि' के अनुसार शब्द के साथ ही शब्द बोध का होना भी आवश्यक है। जब तक शब्द वक्ता द्वारा उच्चरित होकर श्रोता द्वारा, मन सहित श्रोत्रेन्द्रिय से, ग्रहण नहीं कर लिया जाता, तब तक संकेतग्रह अर्थात् किसी शब्द से उसके अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता हैं।[2]

३. अर्थ क्या है तथा शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे होता है ?

'भर्तृहरि' के अनुसार शब्द से होने वाली प्रतीति ही उसका अर्थ होती है—

"यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थंस्तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥"—वाक्यपदीय, २/३३४

अर्थात् शब्द के उच्चारण से जब जो अर्थ प्रतीत होता है, तब वही उसी शब्द का अर्थ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अर्थ का कोई अन्य लक्षण नहीं है।

शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे होता है ?—यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि किसी शब्द से उसके अर्थ का ज्ञान कैसे होता है ? 'गाय' कहने से 'गाय' तथा 'वृक्ष' कहने से वृक्ष की प्रतीति ही हमें क्यों होती है, अन्य किसी वस्तु की क्यों नहीं होती ?

वस्तुतः, मनुष्य जिस वातावरण में जन्म लेता तथा पलता है, उसकी प्रतीति उसे आत्मप्रत्यक्ष द्वारा अर्थात् मन से संयुक्त अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सदैव होती रहती है। अपने आस-पास की सब वस्तुओं का बिम्ब उसके मस्तिष्क में अङ्कित होता है। इसी प्रकार, उन वस्तुओं के लिए प्रयुक्त शब्दों को भी वह सुनता रहता है। ये शब्द भी उसके मस्तिष्क में संस्कार रूप में स्थिर हो जाते हैं। बाद में, वह वस्तुओं को देखकर उनके वाचक शब्दों को, तथा शब्दों को सुनकर उनके वाच्य अर्थों (वस्तुओं)

---

१. दे० "भाषातत्त्व और वाक्यपदीय", डॉ० सत्यकाम वर्मा, पृ० १४६।

२. देखिए—"विषयत्वमापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रतीयते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥"
—वाक्यपदीय, १/५६॥

अर्थात् तब तक शब्द अगृहीत ही रहते हैं (श्रोता द्वारा ग्रहण नहीं किये जाते) जब तक अपनी सत्ता मात्र से ही वे अर्थ के प्रकाशक नहीं होते हैं।

को जानने लगता है। इसी को पारिभाषिक शब्दावली में संकेतग्रह कहा जाता है। अपने अनुभव के समान ही जब मनुष्य किसी अन्य विश्वस्त व्यक्ति के अनुभव के आधार पर ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है, तो उसे परप्रत्यक्ष द्वारा होने वाला ज्ञान कहा जाता है।

इसी प्रकार जब वक्ता, अपनी बुद्धि में स्थित किसी प्रत्यय (ज्ञान) को प्रकट करना चाहता है, तो उसके अनुरूप शब्द का उच्चारण करता है। श्रोता की बुद्धि में भी वक्ता के सदृश ही जो प्रत्यय होता है, तदनुरूप शब्द के श्रवण से उसे वह तत्काल प्रतीत हो जाता है। यहाँ प्रत्यय का सम्बन्ध बुद्धि अर्थात् मनोविज्ञान से है तथा उच्चारण-श्रवण का सम्बन्ध वागेन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय स है। परिणामस्वरूप, मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ वक्ता तथा श्रोता ही शब्द के अर्थ का ज्ञान करने तथा कराने में समर्थ हो सकते हैं। [देखिए, चित्र, पृ० २६।

४. शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

अर्थविचार के प्रसङ्ग में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। इस विषय में भी अनेक प्रश्न उठाये जाते हैं; जैसे कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध है भी कि नहीं? यदि कोई सम्बन्ध है तो वह क्या है? सम्बन्ध स्वाभाविक है या मनुष्यकृत? नित्य है या अनित्य? आदि आदि।

यहाँ संक्षेप में ही उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायगा।

प्रसिद्ध भाषातत्त्व-विचारक श्री 'भर्तृहरि' ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो धर्म या भेद स्वीकार किया है—

"एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ।"

—वाक्यपदीय, २/६१

ऐसा मानने पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता—

"तस्माच्छब्दार्थयोर्नैव सम्बन्धः परिकल्पते।"

—वाक्यपदीय, ३/३/१५

किन्तु, भाषाविज्ञानी को इससे सन्तोष नहीं होता है। एक ही आत्मा के दो धर्म या भेद होते हुए भी भाषाविज्ञानी के लिए उनमें कोई सम्बन्ध होना आवश्यक ही है। "यह आवश्यकता न भी होती, यदि 'अर्थ' भी 'शब्द' के बाह्यरूप की भाँति निश्चित आकार वाला होता। उसकी कुछ अवस्थायें हैं, अभिव्यक्ति के कुछ क्रम हैं, 'शब्द' के साथ उनका सम्बन्ध समझे बिना सन्देहास्पद स्थिति बनी रह सकती है। एक ही द्व्यर्थक या अनेकार्थक शब्दों में यह स्थिति अधिक विचारणीय हो उठती है। एक ही अर्थ, एक स्थान पर क्यों सामने आता है? तथा शब्द के स्वरूप से उसका क्या सम्बन्ध है? आदि प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं।"[1]

अतः, भाषाविज्ञान की दृष्टि से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानना अनिवार्य है।

---

१. डॉ० सत्यकाम वर्मा, भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, १९६४, पृ० १७२।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में 'भर्तृहरि' का मत हमारे लिए यहाँ विशेष रूप से उपादेय प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विचार न केवल दार्शनिक दृष्टि से, अपितु व्यावहारिक (भाषा-व्यवहार की) दृष्टि से भी किया है। अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ में शब्द और अर्थ के अनेक सम्बन्धों पर विचार विवेचन के उपरान्त 'भर्तृहरि' इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शब्द और अर्थ में यदि कोई सम्बन्ध मानना अनिवार्य ही है तो वह सम्बन्ध वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही हो सकता है। क्योंकि "इस शब्द का यह अर्थ है" अथवा "यह अर्थ इस शब्द का है" आदि व्यवहार से किसी न किसी सम्बन्ध का ज्ञान होता ही है।[1]

शब्द, अर्थ तथा शब्द शक्तियाँ

संस्कृत-काव्यशास्त्रियों ने तीन प्रकार के शब्द—वाचक, लक्षक, व्यञ्जक; तीन प्रकार के अर्थ—वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य तथा तीन प्रकार की शब्दशक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना को मान्यता दी है। ऊपर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के प्रकरण में यह बात उल्लिखित हो चुकी है कि 'भर्तृहरि' शब्द और अर्थ में केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध को ही स्वीकार करते हैं, वह भी यदि मानना आवश्यक ही हो, तभी। शब्द-शक्तियों के विषय में भी हमें 'भर्तृहरि' की मान्यता ही युक्तियुक्त प्रतीत होती है। वे शब्द की केवल एक ही शक्ति 'अभिधा' को मानते हैं। इसी आधार पर शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध बनता है। उनके अनुसार, वक्ता जिस समय जो कहना चाहता है तथा श्रोता उस समय उससे जो समझता है, वह वाच्य ही होता है। भाषा का उद्देश्य भी यही है। वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ या व्यङ्ग्यार्थ का वस्तुतः कोई अस्तित्व ही नहीं है। क्योंकि, यदि तथाकथित लक्ष्यार्थ या व्यङ्ग्यार्थ ही वक्ता का अभिधेय है, तो वह भी उस समय वाच्यार्थ ही हो जाता है।[2]

५. अनेकार्थक तथा समानार्थक शब्दों की समस्या

'भर्तृहरि' द्वारा मान्य वाच्यार्थ को ही सब कुछ स्वीकार कर लेने पर एक समस्या यह सामने आती है कि अनेकार्थक शब्दों में कौन-सा अर्थ वाच्य होगा? 'भर्तृहरि' इसका भी समाधान करते हैं—

> "बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु।
> यत्प्रयोक्ताऽभिसन्धत्ते शब्दस्तत्रावतिष्ठते॥"—वाक्यपदीय, २/४०९॥

अर्थात् अनेकार्थक तथा समानार्थक शब्दों में कौन-सा अर्थ वाच्य है, इसके निर्णय का आधार वक्ता की प्रयोग-भावना ही है। जिस अर्थ को प्रकट करने के लिए वक्ता शब्द का प्रयोग करेगा, वही अर्थ वाच्य होगा तथा शेष सभी अवाच्य होंगे।

---

१. "अस्याऽय वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते।
योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते॥"
—वाक्यपदीय, ३/३/३॥

२. वाक्यपदीय, २/४०६-४०८॥

इस वाच्य अर्थ को सामने लाने के लिए 'भर्तृहरि' ने दो नियमों की कल्पना की है (१) उपचार और (२) प्रतिचार।

"उपचार" वह धर्म है, जिसके कारण अन्य अर्थों की अपेक्षा अभिधेय या वाच्यार्थ ही प्रमुखता ग्रहण करके सामने आ जाता है। भर्तृहरि इसे पदार्थ की 'सत्ता' मानते हैं। हम इसे 'औपचारिकी सत्ता' कहते हैं।"[1]

'भर्तृहरि' के अनुसार शब्द स्वच्छ स्फटिक के समान होता है। उसका सम्बन्ध किसी भी अर्थ से नहीं होता। वक्ता जिस भावना का प्रतिनिधि बनाकर शब्द का विनियोग करता है, शब्द में वही अर्थ मुख्य होकर सामने आ जाता है।[2]

इसके विपरीत "प्रतिचार" नियम में रहने वाली 'प्रातिचारिकी सत्ता' द्वारा शब्द का अवाञ्छित अर्थ दूर हट जाता है। क्योंकि, वक्ता उस अर्थ में शब्द का विनियोग ही नहीं करता है।[3]

इस प्रकार अनेकार्थक या समानार्थक शब्दों से, वक्ता के विनियोग की भावना पर वाच्य अर्थ ही सामने आता है, अन्य कोई भी अर्थ नहीं।

६. अर्थविनिश्चय में सहायक तत्त्व

'भर्तृहरि' ने औपचारिकी सत्ता के साथ ही, उसके सहायक कुछ तत्त्वों को भी स्वीकार किया है। उन तत्त्वों की सहायता से वाच्य प्रतीति सहज ही हो जाती है। वे सहायक तत्त्व हैं:—

१. संयोग, २. विप्रयोग, ३. साहचर्य, ४. विरोधिता (विरोध-भावना) ५. अर्थ, ६. प्रकरण, ७. लिङ्ग, ८. अन्य शब्द की सन्निधि, ९. सामर्थ्य, १०. औचिती, ११. देश, १२. काल, १३. व्यक्ति, तथा १४. स्वर आदि।[4]

इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार :—

(१) संयोग—अर्थात् प्रसिद्ध सम्बन्ध। संयोग द्वारा वाच्यार्थ को जानने में सहायता मिलती है। जैसे 'हरिः' इस शब्द के अनेक अर्थ हैं विष्णु, सिंह, कपि, अनिल, यम आदि। फिर भी 'सशङ्खचक्रो हरिः' इस वाक्य में, शङ्ख तथा चक्र का विष्णु से संयोग होने के कारण, 'हरि' शब्द का वाच्यार्थ विष्णु ही होगा। इसी प्रकार 'शङ्ख-चक्र वाला हरि' इस हिन्दी वाक्य में भी 'हरि' शब्द का वाच्यार्थ शङ्ख-चक्र के संयोग के कारण 'विष्णु' ही होगा।

(२) विप्रयोग (वियोग)—अर्थात् प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव। उपर्युक्त वाच्य

---

१. डॉ० सत्यकाम वर्मा, भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, १९६४, पृ० १८४.

२. वाक्यपदीय, ३/३/४०–४१ ॥

३. वाक्यपदीय ३/३/४२ ॥

४. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ —वाक्यपदीय २/३१७-१८

के स्थान पर यदि 'अशङ्खचक्रो हरिः' या हिन्दी वाक्य 'बिना शङ्ख-चक्र वाला हरि, इस वाक्य को लें, तो यहाँ पर प्रसिद्ध सम्बन्ध के अभाव के कारण 'हरि' शब्द का अर्थ विष्णु ही होगा। इसी प्रकार विना नग के अँगूठी अच्छी नहीं लगती' इस वाक्य में भी 'नग' शब्द अँगूठी में लगने वाले नग या नगीने का ही द्योतक होगा, न कि पर्वत का।

(३) साहचर्य—अर्थात् साथ-साथ रहना, सदृश होना तथा स्वामी-सेवक भाव से साथ-साथ रहना आदि। संस्कृत में 'रामलक्ष्मणौ' या हिन्दी में 'राम और लक्ष्मण' इस प्रकार का प्रयोग होने पर प्रसिद्ध साहचर्य के कारण 'राम' शब्द दशरथसुत राम का ही वाचक होगा। यद्यपि परशुराम, बलराम तथा आजकल समाचार पत्रों में कांग्रेसी नेता 'जगजीवनराम' को भी 'राम' कहा जाता है।

(४) विरोधिता (विरोध की भावना) - अर्थात् प्रसिद्ध वैर या कभी साथ-साथ न रहना। यह साहचार्य के विपरीत है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में 'रामरावणयोर्युद्धम्' या हिन्दी में 'राम-रावण का युद्ध' आदि स्थलों पर 'राम' का अर्थ प्रसिद्ध विरोध के कारण 'दशरथपुत्र राम' ही होगा।

(५) अर्थ—अर्थात् ऐसा प्रयोजन जो अन्यसाध्य न हो। संस्कृत में 'मुक्तये हरि भज' या हिन्दी में–'संसार से मुक्त होने के लिए हरि को भजो';. यहाँ पर मुक्ति रूपी प्रयोजन 'हरि' अर्थात् 'विष्णु' द्वारा ही साध्य हो सकता है। अतः, अनेकार्थक शब्द 'हरि' का वाच्यार्थ यहाँ पर विष्णु ही होगा सिंह आदि नहीं।

(६) प्रकरण - अर्थात् वक्ता-श्रोता की बुद्धि में स्थित विषय या प्रसंग। उदाहरणार्थ, राजदरबार में प्रयुक्त 'सर्वं जानाति देवः' इस वाक्य में 'देव' शब्द का अर्थ 'राजा' ही होगा, क्योंकि यहाँ राजदरबार का प्रकरण है। यद्यपि 'देव' शब्द ईश्वर (देवता) के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार उपचार या चिकित्सा के प्रकरण में 'मधु से औषध ले लो' इस वाक्य में 'मधु' का वाच्य 'शहद' ही होगा, यद्यपि 'मधु' शब्द के अर्थ शराब, वसन्तऋतु आदि भी होते हैं।

(७) लिङ्ग—अर्थात् चिह्न अथवा असाधारण धर्म। संस्कृत में 'कुपितो मकरध्वजः' से, कोप करना रूप चिह्न के कारण 'मकरध्वज' का अर्थ कामदेव ही होगा। यद्यपि इसके समुद्रादि अर्थ भी होते हैं। हिन्दी में 'गगन में छाये हैं घनश्याम' यहाँ 'घनश्याम' शब्द 'बादल' का ही वाचक होगा। यद्यपि इसका प्रयोग 'कृष्ण' के लिए भी होता है।

(८) अन्य शब्द की सन्निधि—अर्थात् अनेकार्थक शब्द के साथ किसी अन्य नियत अर्थ वाले शब्द का प्रयोग होना। जैसे संस्कृत में 'देवस्य पुरारातेः' यहाँ पर, यद्यपि देव शब्द अनेकार्थक है, किन्तु उसका सामीप्य 'पुरारातेः' इस नियत अर्थ वाले शब्द से होने के कारण यहाँ 'देव' का अर्थ शिव देवता' ही होगा। हिन्दी में 'गाँधी-नेहरू' जैसा प्रयोग होने पर सन्निधि के कारण इन दोनों शब्दों का अर्थ क्रमशः मोहनदास कर्मचन्द गाँधी तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू ही होगा। यद्यपि 'गाँधी' तथा 'नेहरू', ये कुलनाम दूसरे लोगों के भी हैं।

(९) सामर्थ्य—अर्थात् कारणता। 'मधुना मत्तः कोकिलः' अथवा 'कोकिल मधु से मतवाला है' इस वाक्य में कोकिल को मतवाला करने का सामर्थ्य 'मधु' अर्थात् 'वसन्त' में ही है, अतः 'मधु' शब्द के अनेक अर्थों में से 'वसन्त' ही यहाँ वाच्य है।

(१०) औचिती या औचित्य—अर्थात् योग्यता। "द्विजाः उत्पतन्ति।" अथवा "द्विज उड़ रहे हैं।" यहाँ पर, उड़ने की योग्यता होने के कारण 'द्विज' का वाच्यार्थ पक्षी ही होगा, न कि ब्राह्मण अथवा दाँत।

(११) देश—अर्थात् स्थानविशेष। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति 'देवोऽत्र विराजते' इस संस्कृत-वाक्य का प्रयोग राजदरबार में करता है, तो स्थानविशेष अर्थात् राजदरबार के कारण 'देव' शब्द का वाच्यार्थ राजा होगा, किन्तु, यदि किसी देवालय में इस वाक्य का प्रयोग होगा, तो वहाँ 'देव' का अर्थ देवता ही होगा। इसी प्रकार 'यहाँ देव सुशोभित हैं', इस हिन्दी वाक्य में भी।

(१२) काल—अर्थात् कालविशेष। उदाहरणार्थ, 'चित्रभानुर्विभाति' अथवा 'चित्रभानु चमक रहा है' इस वाक्य का प्रयोग यदि दिवस-काल में किया जायगा, तो 'चित्रभानु' का अर्थ होगा सूर्य, किन्तु रात्रिकाल में इसी वाक्य का प्रयोग करने पर चित्रभानु' का वाच्यार्थ होगा, 'अग्नि'।

(१३) व्यक्ति - अर्थात् पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग का वाचक होना। संस्कृत में 'मित्रं भाति' वाक्य में 'मित्रम्' नपुंसकलिङ्ग होने के कारण सुहृद का वाचक है, जबकि 'मित्रो भाति' में 'मित्रः' पुल्लिङ्ग होने के कारण सूर्य का वाचक है। इसी प्रकार हिन्दी में भी 'टीका' शब्द यदि स्त्रीलिङ्ग है, तो अर्थ होगा 'टीका = व्याख्या', किन्तु यदि पुंल्लिङ्ग में है तो अर्थ होगा 'टीका = तिलक'।

(१४) स्वर—अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में से किसी एक स्वर का होना। वैदिक भाषा में स्वरों का विशेष महत्त्व था; उदाहरणार्थ—'इन्द्रशत्रुः' इस एक ही पद के स्वरभेद से भिन्न-भिन्न दो अर्थ हो जाते हैं। लौकिक भाषा में भी स्वर (लहजा) का उतार-चढ़ाव या भङ्गिमा शब्दों में वाच्यार्थ की नियामक हो जाती है; जैसे 'अमुक व्यक्ति चला गया' वाक्य में 'चला गया' का उच्चारण क्रोध के स्वर में करने से 'उस स्थान से चला गया', किन्तु शोक के स्वर में करने से 'दुनियाँ से चला गया' हो जायगा। इसी प्रकार संस्कृत के 'वेणीसंहार' नाटक में भीम की उक्ति 'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादि का अर्थ भी 'काकु' स्वर के कारण 'अवश्य ही मन्थन करूँगा' हो जाता है।

शब्दार्थ-निर्णय के उपर्युक्त उपाय वस्तुतः, केवल दिनानिर्देश के ही लिये हैं। अतः केवल इतने ही उपाय हैं, ऐसा मानना भ्रान्ति होगी। जैसाकि दूसरी कारिका के अन्तिम पद 'स्वरादयः' अर्थात् 'स्वर आदि' से ज्ञात होता है, यहाँ आदि के अन्तर्गत अन्य अनेक सहायक उपाय भी हो सकते हैं, जैसे मुखमुद्रा, कर-संकेत तथा अभिनय आदि।[1]

---

१. दे० वाक्यपदीय की उपर्युक्त कारिकाओं की पुण्यराजकृत टीका।

७. अर्थपरिवर्तन या अर्थविकास

भाषा के अध्ययन से यह विदित होता है कि भाषा में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों में भी उसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है, जिस प्रकार कि भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों या पदों में होता है। अनेक शब्दों के अर्थों को देखने से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है; उदाहरणार्थ, 'कुशल' शब्द का मूल अर्थ था—'कुशा लाने वाला', किन्तु, बाद में इसका अर्थ हो गया 'चतुर'। इसी प्रकार 'प्रवीण' शब्द का मूल अर्थ था 'वीणा बजाने में पटुः'; किन्तु, बाद में इसका अर्थ सामान्य रूप से किसी भी विषय में 'पटु' होना मान लिया गया। 'तैल' शब्द का अर्थ पहले 'तिलों से निकलने वाला' 'द्रव' था, बाद में सरसों, नारियल, अलसी आदि से प्राप्त द्रव को तो 'तैल' कहा ही जाने लगा, साथ ही 'नीम का तेल', 'मिट्टी का तेल' भी भाषा में खूब प्रयुक्त होता है। संस्कृत में 'मृग' का अर्थ था 'जंगली पशु', इसीलिए 'हाथी को हस्तिन् मृग' अर्थात् 'सूंड वाला पशु' कहा जाता था। जंगली पशुओं के आखेट को भी 'मृगया' इसीलिए कहते थे। बाद में, 'मृग' का अर्थ हो गया 'हरिण'। 'मन्दिर' शब्द पहले सामान्य रूप से प्रत्येक घर के लिये प्रयुक्त हो जाता था, किन्तु आजकल इसका प्रयोग केवल 'देवालय' के लिए ही किया जाता है। 'दुहिता' शब्द का अर्थ 'दुहने वाली' (सम्भवतः पुत्रियाँ ही दूध दुहने का कार्य किया करती थीं) बाद में, इसका अर्थ हो गया 'पुत्री'।

इस प्रकार, उपर्युक्त शब्दों के अर्थों को देखने से ज्ञात होता है कि उनमें अर्थ परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन अनेक दिशाओं में हुआ है, अर्थात्—कुशल, प्रवीण तथा तैल शब्दों के अर्थों में विस्तार हो गया है, मृग तथा मन्दिर शब्दों का अर्थ पहले की अपेक्षा संकुचित हो गया है तथा 'दुहिता' शब्द का अर्थ बिलकुल ही बदल गया है। शब्दों के अर्थों में चाहे विस्तार हो, या संकोच अथवा किसी अर्थ का स्थान कोई सर्वथा भिन्न अर्थ ले ले, भाषा-विज्ञानी की दृष्टि में यह सब अर्थ का विकास ही है। कुछ विद्वानों ने इसे अर्थविकार या अर्थह्रास भी कहा है, किन्तु भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में इसे अर्थ का विकास कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अतः, यहाँ अर्थविकास की दिशाओं और अर्थविकास के कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

८. अर्थविकास की दिशाएँ

भाषा में प्रयुक्त शब्दों और उनके अर्थों का विचार हमारे देश में प्राचीनकाल से ही होता चला आ रहा है। यास्क, पतञ्जलि, भर्तृहरि तथा संस्कृत-काव्यशास्त्र-कारों ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है। अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना-शब्दशक्तियों के द्वारा शब्दों के अर्थों का निश्चय और उनके परिवर्तन का पर्याप्त विवेचन प्राचीन आचार्यों ने किया है। लक्षणा और व्यञ्जना के बिना तो वस्तुतः अर्थपरिवर्तन का आधार ही नहीं बनता है।

आधुनिक काल में, नवीन रूप में भाषाविज्ञान का विकास होने पर अर्थ विचार के क्षेत्र में प्रख्यात फ्रांसीसी विद्वान् 'ब्रील' ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। उन्होंने अर्थविकास की ३ दिशाएँ मानी हैं—

(१) अर्थविकास (Expansion of meaning)।
(२) अर्थसंकोच (Contraction of meaning)।
(३) अर्थादेश (Transference of meaning)।

जैसाकि उपर्युक्त संज्ञाओं से प्रकट होता है, अर्थ की ये दिशाएँ, उसके क्षेत्र को लक्ष्य में रखकर निश्चित की गयी हैं, अर्थात् इनसे यह ज्ञात होता है कि कभी (१) कोई अर्थ कम पदार्थों की अपेक्षा अधिक पदार्थों (एक से अनेक) का द्योतक होने लगता है; (२) कभी इसके विपरीत, पहले की अपेक्षा उससे कम पदार्थों (अनेक से एक) की प्रतीति कराने लगता है; (३) कभी प्रचलित या प्रसिद्ध अर्थ के स्थान पर सर्वथा भिन्न अर्थ को कहने लगता है।

इस आधार के अतिरिक्त अर्थविकास की दिशाओं का एक अन्य आधार, गुण भी हो सकता है। गुण को आधार मानकर विद्वानों ने अर्थविकास की दो अन्य दिशाओं का भी उल्लेख किया है—

(४) अर्थोत्कर्ष (Elevation of meaning)।
(५) अर्थापकर्ष (Deterioration of meaning)।

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने, यद्यपि, 'अर्थापदेश' नाम से एक अन्य दिशा का भी उल्लेख किया है, किन्तु उसका अन्तर्भाव 'अर्थापकर्ष' में ही हो जाता है, अतः उसे पृथक् रूप से मानना व्यर्थ है।

अर्थविकास की उपर्युक्त ५ दिशाओं में से कुछ लोग केवल 'ब्रील' महोदय वाली ३ दिशाओं को ही मानने के पक्षपाती हैं। कुछ, अन्य दो को भी उनमें सम्मिलित करना चाहते हैं। किन्तु, यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो उपर्युक्त पाँच दिशाओं को मिलाकर रखना भी उचित प्रतीत नहीं होता है। कारण, प्रथम ३ अर्थदिशाएँ तथा बाद की २ अर्थदिशाएँ स्वरूपतः भिन्न हैं। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, पहले वर्गीकरण का आधार अर्थ के क्षेत्र (सीमा-विस्तार) का घटना-बढ़ना या बदलना है, जबकि दूसरे वर्गीकरण का आधार अर्थ का उच्च या निम्न भाव को प्रकट करना है। अतः, स्पष्टता के लिये आवश्यक है कि अर्थविकास की उपर्युक्त दिशाओं का निर्देश पृथक्-पृथक् ही किया जाये।

यहाँ, प्रथमतः, ब्रील महोदय द्वारा उल्लिखित अर्थविकास की दिशाओं को स्पष्ट किया जायेगा—

(१) **अर्थविस्तार**—अर्थविस्तार से अभिप्राय है, किसी अर्थविशेष के क्षेत्र का पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाना, विस्तृत हो जाना। जब पहले किसी शब्द के अर्थ का क्षेत्र सीमित हो और बाद में उसकी सीमा का विस्तार हो जाये, तो उसे अर्थविस्तार की दिशा माना जायेगा। उदाहरण के लिये—

(क) 'प्रवीण' शब्द का अर्थ पहले 'प्रकृष्टो वीणायाम्' अर्थात् वीणावादन में बढ़ा-चढ़ा, था। बाद में, किसी भी कार्य में आगे रहने वाले को 'प्रवीण' कहा जाने

लगा। इस प्रकार केवल 'वीणावादन-कौशल' से बढ़कर इसके अर्थ का क्षेत्रविस्तार 'अन्य सभी प्रकार के कौशल', तक हो गया है।

(ख) 'कुशल' शब्द, अर्थविस्तार का दूसरा उदाहरण है। पहले केवल कुशाओं को लाने वाला (कुशान् लाति, इति कुशलः) कहलाता था। प्राचीनकाल में आध्यात्मिक वातावरण में, गुरुकुलों में, रहने वाले गुरु-शिष्यों के जीवन में 'कुशा' का बड़ा महत्त्व था। सम्भवतः, प्रतिदिन और अधिक मात्रा में 'कुशा' की आवश्यकता होती थी। आसन, कुटीर, अग्नि आदि के लिये यह आवश्यक रहा होगा। प्रतिदिन और अधिक मात्रा में, बिना हाथ-पैर छिदाये कुशा लाने वाले को इसीलिये 'कुशल' कहा जाने लगा होगा। आजकल, जीवन में कुशा का कोई महत्त्व नहीं, कोई कुशा नहीं लाता, फिर भी किसी भी कार्य को दक्षतापूर्वक करने वाला प्रत्येक व्यक्ति कुशल कहलाता है।

(ग) 'गोष्ठ' शब्द का अर्थ था, जहाँ गायें रहती हों, वह स्थान। बाद में, सभी पशुओं के रहने के स्थान को 'गोष्ठ' कहा जाने लगा, तथा अविगोष्ठम् (भेड़ों का स्थान) की भाँति ही 'गोगोष्ठम्' शब्द भी प्रयुक्त होने लगा।

(घ) 'गवेषणा' शब्द पहले गाय की इच्छा का द्योतक था। सायंकाल गायों के वन से लौटने के समय, गायों के स्वामी, गाँव की बाहरी सीमा पर गायों के समूह में से अपनी-अपनी गाय को, लेने की इच्छा से उसे, खोजा करते थे; पहचानते थे— 'यह मेरी है'। अतः, गवेषणा शब्द गाय की खोज के अर्थ में प्रचलित हो गया। बाद में, वैसी ही लगन से होने वाली सभी वस्तुओं की खोज के लिये 'गवेषणा' शब्द का प्रयोग होने लगा।

(ङ) 'तैल'—पहले तिलों के द्रव को ही तैल कहते थे। अब सरसों, अलसी, नारियल आदि के द्रव को भी तैल कहा जाता है। मिट्टी का तैल भी होता है।

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त ऐसा भी देखने में आता है कि सभी सत्य बोलने वालों को हरिचन्द्र, धर्माचरण करने वालों को युधिष्ठिर, कलह कराने वालों को नारद, देशद्रोहियों को जयचन्द, श्रेष्ठ कवियों को कालिदास आदि कह दिया जाता है, जबकि ये सभी नाम पहले विशिष्ट-विशिष्ट, एक-एक व्यक्ति के ही द्योतक थे।

इसी प्रकार सभी सीधे-सरल व्यक्तियों को 'गऊ', मूर्ख व्यक्तियों को 'गधा' तथा कठोर स्वभाव वाले व्यक्तियों को 'पत्थर' या कोमल स्वभाव वाले व्यक्तियों को 'मोम' कहने में भी गऊ आदि शब्दों के अर्थ का विस्तार हो जाता है।

संक्षेप में, अर्थविस्तार के अनेक उदाहरण, प्रायः सभी भाषाओं में उपलब्ध हो जाते हैं, जिससे अर्थविकास की इस दिशा का निश्चय भली-भाँति हो जाता है।

(१). अर्थसंकोच—यह अर्थविस्तार से बिल्कुल विपरीत है। जहाँ, अर्थ का क्षेत्र पहले की अपेक्षा संकुचित हो जाता है; वहाँ अर्थसंकोच होता है। जब पहले शब्द सामान्य अर्थ को कहता है, उसमें बहुत से अर्थ समाहित होते हैं, किन्तु बाद में शब्द

किसी एक विशिष्ट अर्थ में ही संकुचित हो जाता है; उदाहरण के लिये—

(क) मृग—शब्द का उदाहरण पहले दिया जा चुका है। प्राचीन संस्कृत में मृग का अर्थ था सामान्य रूप से सभी जंगली पशु; चाहे वह खरगोश हो, हरिण हो, गीदड़ हो, हाथी हो या सिंह हो। जंगली पशुओं में श्रेष्ठ होने से सिंह मृगेन्द्र कहलाता था। मृगराज या मृगपति भी उसे कहते थे। हाथी 'हस्तिन् मृग' कहा जाता था। जंगली जीवों के शिकार को 'मृगया' कहा जाता था। बाद में, केवल 'हरिण' के अर्थ में ही 'मृग' शब्द संकुचित हो गया है। अनेकों से हटकर एक पर आ गया है।

(ख) सर्प—'सृप्' धातु से निष्पन्न 'सर्प' शब्द पहले सभी रेंगने वालों के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु अब वह केवल एक ही विषैले, रेंगने वाले कीड़े साँप के लिये प्रयुक्त होता है। सम्भवतः किसी समय रेंगने वाले कीड़ों में इसी एक की प्रधानता हो गयी होगी।

(ग) वृक—अर्थात् 'फाड़ने वाला'। कोई भी पशु या मनुष्य अपनी फाड़ने वाली प्रवृत्ति के कारण, प्राचीन काल में 'वृक' कहला सकता था; किन्तु बाद में यह शब्द केवल 'भेड़िया' अर्थ में ही संकुचित हो गया।

(घ) वृषभ—का अर्थ था 'सृजन-शक्ति वाला' या 'उत्पादक'। वैदिककाल में इसका प्रयोग बादल, साँड, रुद्र (वर्षा का देवता होने के कारण) के लिए होता था। बाद में, केवल 'साँड' के लिए ही इसका प्रयोग सीमित हो गया।

(ङ) आदित्य—अदिति के सभी पुत्र, विशेषरूप से मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष आदि वैदिक साहित्य में 'आदित्य' कहे गये हैं (निरुक्त २/४); किन्तु बाद में 'सूर्य' के अर्थ में ही आदित्य शब्द संकुचित हो गया है।

(च) दुहितृ—शब्द सामान्य रूप से गाय आदि दुहने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता था। बाद में, केवल 'पुत्री' अर्थ में ही यह संकुचित हो गया। सम्भवतः, गोदोहन का कर्म प्रमुख रूप से कन्यायें ही प्राचीनकाल में करती रही होंगी।

(छ) पर्वत—शब्द का पहले अर्थ था, 'पोरों वाला'—'पर्वाणि सन्ति यस्मिन् सः'। अतः, इसका प्रयोग नरकुल, सरकण्डा या गन्ना भी हो सकता था, किन्तु आजकल 'पर्वत' शब्द का अर्थ केवल 'पहाड़' में ही सीमित हो गया है।

इसी प्रकार दुर्लभ से विकसित 'दुल्हा', 'श्रद्धा' से विकसित श्राद्ध तथा रस से विकसित 'रसाल' आदि शब्दों के अर्थों में भी संकोच हो गया है।

(३) अर्थादेश—जब कोई शब्द, अपने, पहले से प्रचलित अर्थ को छोड़कर सर्वथा नवीन अर्थ की प्रतीति कराने लगता है, तब अर्थादेश होता है। अर्थविस्तार में अर्थ का क्षेत्र बढ़ जाता है, अर्थसंकोच में अर्थ का क्षेत्र घट जाता है, किन्तु अर्थादेश में अर्थ का क्षेत्र बदल जाता है। शब्द, पहले अर्थ के स्थान पर नये अर्थ को कहने लगता है; उदाहरण के लिए—

(क) असुर—शब्द का अर्थ 'ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में 'देवता' है, किन्तु

बाद में, यह 'देवता' के स्थान पर 'राक्षस' अर्थ का द्योतक हो गया। आजकल 'असुर' से राक्षस अर्थ ही लिया जाता है।

(ख) उष्ट्र—शब्द का अर्थ भी 'ऋग्वेद' की प्राचीन ऋचाओं में भैंसा है, किन्तु बाद में इसका व्यवहार 'ऊँट' के लिये किया जाने लगा।

(ग) मौन—शब्द का पहले अर्थ था 'मुनि-सम्बन्धी आचरण'। किन्तु बाद में यह केवल 'चुप रहने की दशा' के लिए व्यवहृत होने लगा।

(घ) धूर्त—'ऋग्वेद' की ऋचाओं में 'धूर्त' शब्द का अर्थ है जुआरी, 'रामायण' में भी यह इसी अर्थ में मिलता है किन्तु, बाद में इसका अर्थ हो गया 'छल-कपट का व्यवहार करने वाला व्यक्ति'।

(ङ) सत्-असत्—शब्दों का अर्थ भी पहले विद्यमान-अविद्यमान के अर्थ में होता था, किन्तु आजकल ये अच्छे-बुरे के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जैसे—सज्जन में सत्।

इसी प्रकार अनेक तद्भव शब्द भी नितान्त नवीन अर्थ को देने लगे हैं। उदाहरणार्थ—संस्कृत 'साधु' का अर्थ था 'सज्जन'। इससे विकसित हिन्दी 'साहु' शब्द आजकल 'धनी व्यक्ति' के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार संस्कृत 'मधुर' से विकसित 'माहुर', अमृत के स्थान पर विष का अर्थ देता है, इत्यादि।

अर्थविकास की उपर्युक्त दिशाओं के उदाहरणों को ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि अनेक शब्दों का अर्थ विस्तृत, संकुचित या आदिष्ट होने के साथ ही साथ पहले की अपेक्षा उत्कृष्ट या निकृष्ट भी हो गया है। इससे ज्ञात होता है कि अर्थ का ऊर्ध्वाभिमुख या निम्नाभिमुख होना भी उसके परिवर्तन की दो दिशाएँ हैं जो ऊपर नीचे की ओर गति रखती है। कुछ विद्वानों ने इन्हें (४) अर्थोत्कर्ष तथा (५) अर्थापकर्ष के नाम से स्वीकार किया है। अतः, इन दोनों दिशाओं का सोदाहरण स्पष्टीकरण भी यहाँ आवश्यक है।

(४) अर्थोत्कर्ष—जब, पहले कोई शब्द किसी बुरे (निकृष्ट या अपकृष्ट) अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु बाद में वह अच्छे (उत्कृष्ट) अर्थ को कहने लगता है, तब अर्थ का विकास 'अर्थोत्कर्ष' की दिशा में हुआ माना जाता है। उदाहरण के लिए—

(क) साहस—इस शब्द का अर्थ अर्थोत्कर्ष का बहुत अच्छा उदाहरण है। संस्कृत में पहले 'साहस' शब्द का अर्थ था—लूट, डाका, हत्या, परस्त्रीगमन आदि—

मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम्।
पारुषष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधम्॥—बृहस्पतिस्मृति।

बाद में, संस्कृत में ही (साहसे श्रीः प्रतिवसति—मृच्छकटिक, अङ्क ४) साहस शब्द जीवट या हिम्मत के अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। आजकल लोग इसके पुराने अर्थ को बिलकुल भूल गये हैं। परिणामतः, सभी 'साहसी' बनने का प्रयास करते रहते हैं। इस प्रकार 'साहस' शब्द लूट, डाका, हत्या आदि के स्थान पर 'हिम्मत अथवा हृदय की दृढ़ता' अर्थ को देने लगा है। संक्षेप में, इसके अर्थ का उत्कर्ष हो गया है।

(ख) मुग्ध—शब्द भी पहले 'मूर्ख' के अर्थ में प्रचलित था; किन्तु आजकल प्रत्येक व्यक्ति सौन्दर्य पर मुग्ध' होना चाहता है। 'मुग्धा' नायिका अपने भोलेपन से सभी को आकर्षित करती है। इस प्रकार 'मुग्ध' के अर्थ का भी उत्कर्ष हो गया है।

(ग) कर्पट—संस्कृत में 'कर्पट का अर्थ था—'फटा-पुराना जीर्ण वस्त्र'। किन्तु आजकल नये से नये 'कपड़े' को खरीदने के लिए लोग बहुत-सा धन व्यय करते हैं। अतः, आजकल 'कपड़े' का वही अर्थ नहीं है, जो 'कर्पट' का था। उसमें भी उत्कर्ष हो गया है।

(५) अर्थापकर्ष—अर्थोत्कर्ष के विपरीत अर्थविकास की दिशा को अर्थापकर्ष कहते हैं। अर्थात् जब, पहले कोई शब्द अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु बाद में, वह बुरे अर्थ (अपकृष्ट अर्थ) को कहने लगता है, तब उसके अर्थ का अपकर्ष हो जाता है। उदाहरण के लिए—

(क) असुर—जैसा पहले अर्थादेश में बतलाया जा चुका है, 'असुर' शब्द का अर्थ था—देवता, किन्तु बाद में वह 'राक्षस' अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। इस प्रकार इसके अर्थ का अपकर्ष हो गया है।

(ख) अभियुक्त—पहले संस्कृत में 'अभियुक्त' शब्द का अर्थ था, 'प्रामाणिक पुरुष', किन्तु आजकल 'अपराधी' को अभियुक्त कहा जाता है। इसके अर्थ का भी अपकर्ष हो गया है।

इसी प्रकार 'शौच', 'उद्धार' (हिन्दी उधार) 'मधुर' (हिन्दी माहुर) आदि शब्दों के अर्थों में अपकर्ष हो गया है। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं।

अर्थ-विकास की उपर्युक्त (१) अर्थविस्तार, (२) अर्थसंकोच, (३) अर्थादेश, (४) अर्थोत्कर्ष-तथा (५) अर्थापकर्ष दिशाओं के अतिरिक्त डॉ० श्यामसुन्दरदास ने (६) अर्थापदेश—(जिसमें बुरे अर्थों के लिए अच्छे शब्दों का प्रयोग किया जाय; जैसे 'पाखाने' के लिए 'शौच' या 'मृत्यु' के लिए स्वर्गवास आदि) का, तथा एक अन्य विद्वान् श्री राममूर्ति मेहरोत्रा ने (७) मूर्तीकरण-जहाँ अमूर्त अर्थ का स्थान मूर्त अर्थ ले ले, जैसे 'सन्तान' शब्द का अर्थ पहले 'अविच्छिन्नता' था, किन्तु अब पुत्र-पुत्री हो गया है) और (८) अमूर्तीकरण—(जब शब्द का मूर्त अर्थ, अमूर्त अर्थ को अपना ले' जैसे 'अमुक व्यक्ति की गतिविधियों पर अंकुश लगाना होगा', यहाँ अंकुश का अर्थ है—नियन्त्रण) का उल्लेख किया है।

युक्तियुक्त विचार करने से अर्थपरिवर्तन की प्रथम ५ दिशाएँ मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। अर्थपरिवर्तन की शेष दिशाओं का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है।

६. अर्थविकास के कारण

अर्थविकास के अनेक उदाहरणों को देखने से विदित होता है कि भाषा में प्रयुक्त अनेक शब्दों का अर्थ एक-सा नहीं रहता है, उसमें समय-समय पर परिवर्तन

होता रहता है। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि शब्दों के अर्थों में विकास का क्या कारण है ?

वस्तुतः, भाषा का सम्बन्ध मानवसमाज से है। मानवसमाज अपने मन में उद्भूत विचारों को, भाषा द्वारा अभिव्यक्त करता है। अतः, भाषा का मूल-मानवमन है। यह मानव-मन, मानव-शरीर में रहता है और शरीर के चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होता है। इस वातावरण के परिवर्तन का ही परिणाम है कि मानव की भावनाएँ तथा विचार भी बदलते रहते हैं। अपने आस-पास के पदार्थों को मनुष्य अपने विचारों के अनुसार ही देखता है, उसी रूप में वह उन्हें अभिव्यक्त भी करता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि अर्थ, चूँकि शब्द की आत्मा है, भाषा का आन्तरिक पक्ष है, अतः उसके परिवर्तन या विकास का सम्बन्ध भी मानव की आत्मा, मानव के आन्तरिक पक्ष से ही है। अतः, अर्थविकास के कारण पूर्णतया मनोवैज्ञानिक हैं। मन कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, अतः भौतिक-विज्ञान की भाँति मनोविज्ञान में इतना ही है ऐसा ही है; आदि निर्णय लेना सम्भव नहीं है। जब मनोविज्ञान की यह स्थिति है, तब उसके आधार पर होने वाले अर्थ-विकास के कारणों की कोई निश्चित संख्या नहीं मानी जा सकती है। इस अध्ययन में नये-नये कारणों का ज्ञान सदैव होता रह सकता। अब तक विद्वानों ने जितने कारणों की चर्चा की है, उनमें भी परस्पर समानता नहीं है—सम्भवतः इसका कारण भी मनोवैज्ञानिक ही है।

भारत में, संस्कृत के काव्य-शास्त्र ग्रन्थों में, अर्थ-विकास का मूलकारण लक्षणा-व्यञ्जना शब्द-शक्तियों को माना गया है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में 'कुन्ताः' का अर्थ भाले वाले पुरुष, 'कर्मणि कुशलः' में 'कुशल' का अर्थ चतुर या 'पटु', गङ्गायां घोषः' में 'गंगायाम्' का अर्थ 'गङ्गा के तट पर' कैसे हो जाता है, यह हमारे काव्यशास्त्राचार्यों-मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने लक्षणा-व्यञ्जना के प्रकरण में समझाया है। अर्थविचार के क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वानों का कार्य अभी शैशवावस्था में ही है। यूरोप में इसका आरम्भ १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ही हुआ है। यूरोपीय विद्वानों में 'पिशेल', 'ब्रील', 'टकर', 'आग्डेन', 'रिचर्डस्' तथा 'वालपोल' का नाम अधिक प्रसिद्ध है। फ्रांसीसी विद्वान् 'ब्रील' यूरोप में इस विषय के प्रारम्भकर्ता माने जाते हैं। अमरीकी विद्वान् 'टकर' ने अर्थ-विचार को एक पृथक् विज्ञान के रूप में मानने का आग्रह किया है। 'आडेन' तथा 'रिचर्ड्स' आधुनिकतम विद्वानों में गिने जाते हैं।

'डॉ० तारापुरवाला' ने अपनी पुस्तक 'एलिमेण्ट्स आफ दि साइन्स ऑफ लैंग्वेज' में अर्थविकास के १२ कारणों का उल्लेख किया है। कुछ अन्य ग्रन्थों में इन कारणों की संख्या कुछ अधिक भी मिलती है। अर्थ-विकास या अर्थ-परिवर्तन के जिन कारणों का उल्लेख विद्वानों ने प्रायः किया है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) भौगोलिक परिवेश में परिवर्तन—पञ्चभूतों से बना मानव का शरीर अपने चारों ओर के भौगोलिक परिवेश या वातावरण से प्रभावित होता है। उसके

भौगोलिक वातावरण में परिवर्तन होने पर; उसके व्यवहार में आने वाली वस्तुओं में भी परिवर्तन हो जाता है। अपने मस्तिक पर अधिक भार डालने से बचने के लिए वह अनजाने ही, पुरानी परिचित वस्तुओं के नामों का सम्बन्ध नयी वस्तुओं से जोड़ लेता है। इस प्रकार उसके शब्द तो पुराने होते हैं, किन्तु उनका अर्थ नया (परिवर्तित) हो जाता है। उदाहरण के लिए 'ऋग्वेद' में 'उष्ट्र' शब्द भैंसा' तथा 'ऊँट' दोनों अर्थों में मिलता है। विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि जब आर्य शीतप्रधान भौगोलिक वातावरण में रहते थे, तब वे उष्ट्र (मूलार्थ-भूरे रंग का पदार्थ) भैंसे को कहते थे; किन्तु जब वे भौगोलिक दृष्टि से उष्ण प्रदेश में पहुँचे, तो उन्होंने वहाँ पर एक नये पशु ऊँट को देखा, जो रंग-रूप (बड़ा आकार) में भैंसे से मिलता था। परिणामस्वरूप, आर्यों ने अपने परिचित 'उष्ट्र' शब्द का प्रयोग उसी के लिये करना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेजी 'कार्न' (corn) शब्द का सामान्य अर्थ है—अन्न (धान्य), किन्तु भौगोलिक परिवेश के बदले हुए होने के कारण, एक अंग्रेज इसका प्रयोग 'गेहूँ' के अर्थ में, एक अमेरिकन 'मक्का' के अर्थ में तथा एक स्कॉच (स्काटलैण्ड का वासी) इसका प्रयोग 'बाजरे' के लिए करता है, क्योंकि उनके देशों का भौगोलिक परिवेश भिन्न-भिन्न होने के कारण; उनके देश में वही-वही प्रधान अन्न हैं। कहते हैं कि एक बार जब इंगलैंड से 'कार्न' (गेहूँ) का आर्डर मिला, तो 'अमरीका ने उसे कार्न' (मक्का) भेज दिया। इस प्रकार भाषाविज्ञान का सूक्ष्म ज्ञान न होने से उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ा। शीत प्रधान देशों में ड्रिंक (पीना) का सामान्य अर्थ है 'मदिरा पीना', जबकि उष्णताप्रधान देशों में 'ड्रिंक' का प्रयोग प्रायः पानी आदि पीने के लिए होता है।

(२) **सामाजिक परिवेश में परिवर्तन**—पहले की अपेक्षा आज का सामाजिक वातावरण बदला हुआ है। पहले सम्मिलित-परिवार-प्रथा थी। उस सीमित समाज में युवक-युवतियों का सम्पर्क भी सीमित ही होता था। तब बहिन-भाई शब्द में पर्याप्त पवित्रता की भावना थी। बहिन-भाई तथा पत्नी-पति के अतिरिक्त तब किसी समवयस्क युवति-युवक का सम्पर्क होने की कोई सम्भावना ही नहीं होती थी। अतः बहिन-भाई में अभ्रान्त रूप से पवित्र भावना रहती थी। आजकल सामाजिक परिवेश बदला हुआ है। अनेक युवक-युवतियाँ सामाजिक समारोहों, शिक्षालयों, कार्यालयों तथा बाजारों आदि में पारस्परिक सम्पर्क में आते हैं। पुरानी परम्परा के कारण वे भाई-बहिन शब्दों का व्यवहार भी करते हैं, फिर भी आजकल 'बहिन' जी वा 'भाई' साहब का अर्थ होता है कोई सामान्य परिचित युवक-युवति, न कि सहोदर या सहोदरा। वे परस्पर कैसी भी भावना रख सकते हैं अथवा पवित्रता की भावना उनके लिए आवश्यक नहीं है।

सामाजिक परिवेश में परिवर्तन का ही परिणाम है कि भारत के किसी एक भाग में 'भाभी' द्रौपदी का प्रतीक हैं तो किसी दूसरे भाग में 'सीता' का।

उत्तर भारत में 'मामा' माँ का भाई ही होता है, किन्तु 'दक्षिण में 'मामा' श्वसुर होता है।

सामाजिक परिवेश के परिवर्तन के कारण एक ही पदार्थ विभिन्न नामों से कहा जाता है—पण्डित जिसे 'पुस्तक' कहता है, मौलवी उसी को 'किताव' कहता है।

(३) राजनैतिक परिवेश में परिवर्तन—इसी परिवर्तन का परिणाम है कि आजकल 'क्रान्ति' शब्द का पहले-जैसा अर्थ नहीं रहा है। पहले, विना रक्तपात के किसी राज्यसत्ता को नहीं बदला जा सकता था। अतः 'क्रान्ति' का अर्थ था, रक्तपात द्वारा राज्यसत्ता में परिवर्तन। गाँधी जी के प्रभाव से आजकल अहिंसक क्रान्ति का युग है, अतः 'क्रान्तिदल', 'हरित क्रान्ति' 'श्वेत क्रान्ति' या वैज्ञानिक या वैचारिक क्रान्ति शब्द खूब चल रहे हैं, जिनमें क्रान्ति शब्द का अर्थ केवल 'परिवर्तन' ही रह गया है। रक्तपात की प्रवल भावना अब उसमें नहीं रही है।

(४) सांस्कृतिक परिवेश में परिवर्तन—वर्णाश्रम-प्रधान प्राचीन भारतीय संस्कृति के परिवर्तन के फलस्वरूप तत्कालीन शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन हो गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्द आज अपने पुरातन अर्थ को नहीं कहते हैं। आज ज्ञान के विना भी व्यक्ति 'ब्राह्मण', क्षति से रक्षा न करने वाला भी 'क्षत्रिय' आदि कहलाता है। इसी भाँति चार आश्रमों की व्यवस्था के अनुकूल आचरण करने वाले व्यक्तियों को 'ब्रह्मचारी' आदि कहा जाता था। आजकल आश्रमव्यवस्था न रहने से 'ब्रह्मचारी' केवल 'विवाह न करने वाला', 'गृहस्थी' 'विवाह कर लेने वाला', कहा जाने लगा हैं। वन में न रहने पर भी 'वानप्रस्थी' हो जाना आजकल सम्भव है तथा मोह-माया का त्याग किये विना भी केवल गेरु-रंगे वस्त्र धारण करने से व्यक्ति 'सन्यासी' कहलाने लगता है।

पहले 'आश्रम' रहने का स्थान होता था, अब 'विष्णु आश्रम जी' 'कृष्णबोधा-श्रम जी' व्यक्तियों के भी नाम होने लगे हैं।

(५) धार्मिक परिवेश में परिवर्तन धार्मिक वातावरण के वदलने से भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में यज्ञ करना-कराना, वेदपाठ करना, श्राद्ध करना आदि धार्मिक कार्यों को करने के कारण 'याज्ञिक' 'अग्निहोत्री', वेदपाठी, द्विवेदी, चतुर्वेदी, त्रिपाठी, यजमान आदि संज्ञा-शब्द उन-उन कर्मों को करने वालों के लिए प्रचलित थे। आजकल अग्निहोत्री, द्विवेदी आदि संज्ञाएँ कुलनाम बनकर रह गयी हैं। 'अग्निहोत्री' का अर्थ आजकल 'अग्निहोत्र करने वाला' नहीं, अपितु 'अग्निहोत्री' के वंश में उत्पन्न होने वाला' हो गया है। आजकल 'यजमान' का अर्थ है—'दक्षिणा देने वाला', 'संकल्प' का अर्थ है 'चुल्लू में पानी लेना'। 'दक्षिणा' आजकल किसी भी दिशा में स्थित होकर, किसी भी रूप में (मुद्रा, वस्त्र आदि) दी जा सकती है, जबकि पहले प्रदक्षिणा करके दक्षिण दिशा की ओर बैठकर ही याज्ञिक को यजमान द्वारा दिया हुआ दान (गाय) ही 'दक्षिणा' कहा जाता था।*

---

*दे० निरुक्त १/३ तथा 'मोनियर विलियम्स डिक्शनरी' में 'दक्षिणा' शब्द।

आजकल प्रदर्शन की भावना का धार्मिक क्षेत्र में बड़ा ज़ोर है। अतः, पहले जहाँ केवल एक व्यक्ति द्वारा ही ईश्वर का नाम लेना 'कीर्तन' कहलाता था वहाँ आज मंडली बनाकर, सामूहिक रूप से ईश्वर का नाम लेना ही 'कीर्तन' हो गया है।

बिना श्रद्धा के भी 'ब्राह्मण को भोजन कराने' मात्र से आजकल 'श्राद्ध' हो जाता है।

(६) भौतिक साधनों में परिवर्तन—आज जीवन में नयी साधन-सामग्री को अपना लेने पर भी हम प्राचीन शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं। परिणामस्वरूप, शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ—पहले 'पत्र' शब्द से तात्पर्य था—'वृक्ष के पत्ते पर लिखा हुआ समाचार' और आजकल तो कागज पर लिखे हुए समाचार को ही पत्र कहते हैं।

'पेन' का अर्थ था (पक्षी) के 'पंख' से ब-ा हुआ लिखने का साधन। बाद में, लोहे आदि का भी लिखने का साधन 'पेन' कहलाने लगा है। इसी प्रकार 'तूलिका' का अर्थ था रुई लिपटी सींक, जिससे आलेखन आदि होता था। आजकल, रुई से न बनने पर भी आलेखन के साधन को 'तूलिका' ही कहा जाता है।

(७) लाक्षणिक प्रयोग—अनुभूति की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति के लिए लाक्षणिक प्रयोग किये जाते हैं। जैसे किसी की वीरता से प्रभावित होकर उसे 'सिंह' कह देते हैं। इसी प्रकार भीरु को, 'गीदड़', मूर्ख को 'गधा', भोले स्वभाव के व्यक्ति को 'गाय' तथा अपकारी को 'साँप' या 'बिच्छू' भी हम अकस्मात् ही कह उठते हैं। यहाँ साँप, बिच्छू आदि का अर्थ बदलकर अपकारी, मूर्ख, वीर आदि हो जाता है।

(८) औपचारिक प्रयोग—औपचारिक प्रयोग के कारण भाषा अत्यन्त सजीव हो उठती है। नारियल, गन्ने या आलू की आँख, सुराही की गर्दन, घड़े का पेट, चने की नाक, आरे के दाँत या किसी छन्द का पाद (चरण) आदि में, वस्तुतः, आँख-नाक आदि का अर्थ वही नहीं है, जो मनुष्य के आँख-नाक आदि का होता है। यहाँ 'आँख' का तात्पर्य केवल आँख-जैसा चिह्न तथा नाक या गर्दन आदि का अर्थ नाक या गर्दन से मिलता-जुलता अंग या आकार ही है।

(९) आलंकारिक प्रयोग—आलंकारिक प्रयोगों में भी शब्दों का अर्थ बदल जाता है। कालिदास के "बाले ! तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम्" या जयशंकर प्रसाद के "मुख-कमल समीप सजे थे, दो किसलय दल पुरइन के" आदि वाक्यों में कालिदास ने नेत्रों को 'इन्दीवरद्वयम्' दो इन्दीवर (नीलकमल) तथा प्रसाद जी ने कानों को 'दो किसलय-दल पुरइन के' कहा है। स्पष्ट ही, यहाँ उपर्युक्त सभी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो गया है। इसी प्रकार रूपक, वक्रोक्ति आदि अलंकारों से भी अर्थों में परिवर्तन हो जाता है।

(१०) कहावतों तथा मुहावरों में प्रयुक्त शब्द—भाषा में प्रयुक्त कहावतों तथा

मुहावरों में भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए 'चार दिन की चाँदनी, फिर अन्धेरी रात' में चार का अर्थ है 'थोड़ा समय', चाँदनी का अर्थ है 'सुख', 'अन्धेरी रात' का अर्थ है 'दुख'। 'जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोई तू फूल'' में ''काँटा का अर्थ है 'दुःख' 'फूल' का अर्थ है 'सुख'। इसी प्रकार कहावतों में शब्द किसी एक अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं, जो कि उनका मूल अर्थ नहीं होता है।

मुहावरों में भी 'आँख खोलना', 'आँख मूँदना, आँख लगना' आदि का अर्थ क्रमशः होता है, जन्म लेना, मरना, नींद आना आदि। यहाँ भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो गया है।

(११) लक्षणा-व्यञ्जना शब्द्र शक्तियाँ—शब्दों में रहने वाली लक्षणा व्यञ्जना शब्द-शक्तियों के कारण भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। (वस्तुतः उपर्युक्त लाक्षणिक प्रयोग, औपचारिक प्रयोग, आलंकारिक प्रयोग, कहावतों तथा मुहावरों में शब्दों का प्रयोग आदि, जितने भी अर्थ परिवर्तन के कारण हैं, वे सब लक्षणा-शक्ति की ही देन हैं।) 'कर्मणि कुशलः' अर्थात् 'काम में कुशल' में 'कुशल' शब्द का, चतुर या पटु अर्थ लक्षणा के कारण ही होता है। इसी प्रकार 'लाल पगड़ी' आ रही है, में 'लाल पगड़ी', का 'सिपाही' अर्थ, लाठियाँ चल रही हैं, मे लाठियाँ चलने का 'लड़ाई' अर्थ आदि लक्षणा द्वारा ही होता है। मुहावरे-कहावतें सब लक्षणा का ही चमत्कार हैं। इसी प्रकार अलंकारों में शब्दों के अर्थ में जो परिवर्तन होता है, वह भी लक्षणा द्वारा ही होता है।

इसी प्रकार अस्तङ्गतोऽर्कः 'या' 'सूर्यास्त हो गया' या 'संध्या हो गयी' आदि वाक्यों के, जो भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न अर्थ लेते हैं; जैसे, धार्मिक व्यक्ति 'उपासना का समय हो गया; ग्वाला 'गायों को लौटाने का समय हो गया; विद्यार्थी, पढ़ने का समय समाप्त हो गया'; चोर 'चोरी करने की तैयारी करने का समय हो गया' आदि आदि, वह व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही ज्ञात होता है। विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न रुचि के अनुसार अर्थ देने के कारण ही व्यंग्य या ध्वनि काव्य को उत्तम माना जाता है।

(१२) कवियों की निरंकुशता—कभी-कभी कवि स्वच्छन्दतापूर्वक शब्दों को मनमाने अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। ऐसे स्थलों पर शब्दों का प्रयोग अशुद्ध न मानकर कवियों के अनुसार ही उनका अर्थ करना पड़ता है। यह सुविधा केवल सिद्ध कवियों को ही है। जायसी की निम्न पंक्ति में 'निरास' शब्द द्रष्टव्य हैं—'वहुत धूम घूँटत मैं देखे उतरु न देइ निरास'। (पद्मावत, ११४/६)

यहाँ 'निरास' शब्द का अर्थ 'निराश या आशारहित' न होकर 'निरपेक्ष' है।

इसी प्रकार 'सुमित्रानन्दन पन्त' ने अपनी ''बापू के प्रति'' कविता में गाँधी जी को 'अछूत' कहा है, जिसका अर्थ है 'छुआछूत से परे'।

(१३) तत्सम तथा तद्भव रूपों का साथ-साथ प्रयोग—भाषा में तत्सम और उनसे विकसित तद्भव शब्दों का प्रयोग साथ-साथ चलता रहता है। किन्तु 'भाषा का व्यवहार करने वाले, अनजाने ही, उनके अर्थों में अन्तर कर लेते हैं। जैसे 'गर्भिणी'

तथा 'गाभिन' दोनों शब्द समानार्थक हैं, किन्तु, 'गर्भिणी' शब्द जहाँ मानवी स्त्री की गर्भावस्था को बतलाता है, वहाँ 'गाभिन' शब्द पशुओं की गर्भावस्था का द्योतक है।

इसी प्रकार 'भद्र' तथा 'भद्दा', 'श्रेष्ठ' तथा 'सेठ', 'खाद्य' तथा 'खाद' आदि शब्दों के अर्थों में भी अन्तर हो गया है। तत्सम 'पत्र' शब्द आज भी 'चिट्ठी-पत्री' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जबकि उससे विकसित 'पत्ता, पत्ती, पत्तल, पतला, पातर तथा पत्तर आदि तद्भव शब्दों का अर्थ बदल गया है।

(१४) शब्द का प्रयोगबहुल्य—पुन: पुन: बहुलता से किया गया प्रयोग भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन कर देता है। आज 'धन्यवाद' का अर्थ 'धनवान् कहना' या 'धन्य-धन्य कहना' नहीं है, अपितु आजकल मात्र कृतज्ञताज्ञापन के लिए ही इसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार "श्रीमान्" आदि शब्दों का प्रयोग भी आजकल केवल औपचारिकतावश ही किया जाता है, किसी को 'धनवान्' आदि कहने के लिए नहीं।

(१५) प्रकरण-भेद—प्रकरण-भेद के कारण भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। 'सैन्धव' शब्द इस विषय का बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण है। भोजन के प्रसंग में इसका अर्थ 'नमक' हो जाता है, तथा 'यात्रा' के प्रसंग में 'घोड़ा'; क्योंकि, दोनों ही 'सिन्धु' प्रदेश में उत्पन्न होने से 'सैन्धव' कहलाते हैं।

इसी प्रकार शास्त्र-भेद से भी शब्दों का अर्थ बदल जाता है। 'गुण' शब्द का अर्थ दर्शनशास्त्र में 'सत्त्व, रज, तम; काव्य-शास्त्र में 'माधुर्य, ओज और प्रसाद' तथा आयुर्वेद में द्रव्य-गुण लिया जाता है। इसी प्रकार 'रस' शब्द का अर्थ भी शास्त्रानुसार बदल जाता है।

(१६) साहचर्य-सम्बन्ध—साहचर्य-सम्बन्ध के कारण भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता है। 'सूरत' महाराष्ट्र में एक स्थान का नाम है। विदेश से तम्बाकू सर्वप्रथम वहीं आया था, अतः 'सूरत' के साहचर्य के कारण 'तम्बाकू' को भी 'सूरती' कहा जाने लगा। 'सिन्धु' नदी के साहचर्य से, पहले प्रदेश का नाम 'सिन्धु' पड़ा फिर वहाँ के निवासी सिन्धु (हिन्दु) कहलाये। उसी प्रदेश में अच्छा नमक तथा अच्छा घोड़ा होने के कारण 'नमक' और 'घोड़ा' भी सैन्धव ही कहा जाने लगा, यद्यपि अन्य स्थानों पर भी ये होते हैं। इसी प्रकार 'वृक्ष के पत्ते' के साहचर्य से 'चिट्ठी' को आज भी 'पत्र' ही कहते हैं। गन्ने का तत्त्व भी चीन देश के साहचार्य से ही 'चीनी' कहलाया। संस्कृत में 'रेशमी वस्त्र को' 'चीनांशुक' भी इसी कारण कहा जाता है।

(१७) दीनता, विनम्रता एवं शिष्टता—अपने से बड़े, श्रद्धेय या समर्थ व्यक्तियों के प्रति दीनता, विनम्रता एवं शिष्टता-प्रदर्शन के कारण भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। दीनतावश भिखारी किसी भी व्यक्ति को 'राजा' कह देता है, जबकि आज के युग में 'राजाओं' का कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है। इसी प्रकार 'महानुभाव', 'महाशय' आदि शब्दों का प्रयोग भी हम शिष्टतावश ही करते हैं। यह

आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति में ये गुण हों। इसी प्रकार अपने 'घर' को 'कुटिया' या 'गरीबखाना' दूसरे के घर को 'भवन', महल या 'दौलतखाना' भी नम्रतावश ही कहा जाता है। वास्तविकता के अभाव में यहाँ इन शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है।

(१८) सुश्राव्यता—इसी को अंग्रेजी में 'यूफेमिज्म' कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने इसे 'अशोभन के लिए शोभन शब्दों का प्रयोग' कहा है। वस्तुतः, अशुभ के लिए शुभ, अश्लील के लिए श्लील, कटु के लिए मधुर शब्दों का प्रयोग इसी के अन्तर्गत आता है। भयङ्करता तथा हीनता की भावना को कम करना तथा अन्ध-विश्वास भी इसी में सम्मिलित हैं।

महाकवि 'कालिदास' ने अपने ग्रन्थों में 'चूतवृक्ष' शब्द का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है, उस समय तक इस शब्द के साथ अश्लीलता का कोई सम्बन्ध नहीं था, किन्तु, बाद में इसे अश्लील माना जाने लगा और इसके स्थान पर संस्कृत में तथा हिन्दी में 'आम्रवृक्ष' आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार यौन-भावना तथा यौन-अङ्गों के लिए भी साहित्य में श्लील शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

'शौचजाना', 'हाथ धोना', 'लघुशङ्का' आदि शब्दों का प्रयोग घृणा से बचने के लिए ही किया जाता है। अमंगल का कथन भी बुरा समझा जाता है, अतः मृत्यु के लिए 'स्वर्गवास' आदि शब्द प्रचलित हो गये हैं। 'दीपक बढ़ाना', 'दूकान बढ़ाना' भी इसी कारण कहा जाता है; क्योंकि 'दूकान बन्द करना', 'दीपक बुझाना' अमंगल वाची माना जाता है। अन्धविश्वास के कारण 'चेचक' को 'माता' या 'शीतला' कहा जाता है। पति को 'अमुक का पिता' आदि भी इसीलिए कहा जाता है। 'सर्प' को 'कीड़ा' कहने से भी उसकी भयंकरता कुछ कम हो जाती है। आदि-आदि।

(१९) व्यंग्य—के कारण भी शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में इसे 'विपरीतलक्षणा' कहा गया है। उदाहरणार्थ—मूर्ख को बृहस्पति; अपकारी को उपकारी, कृपण को दानवीर कर्ण, झूठे को सत्यवादी हरिश्चन्द्र आदि कहना। यहाँ 'बृहस्पति' आदि शब्द बिल्कुल ही विपरीत अर्थ को कहते हैं।

(२०) भावुकता—इस कारण भी शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। प्रायः माता-पिता बच्चों को लाड-प्यार में 'गधा', 'सुअर', आदि कह देते हैं। इसी प्रकार क्रोध में भी 'उल्लू' आदि कह दिया जाता है। निश्चय ही, यहाँ वक्ता का अभिप्राय इन शब्दों के वास्तविक अर्थ से नहीं होता है।

(२१) सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग—करने पर भी शब्दों का अर्थ बदल जाता है। कभी-कभी भाषा में जातिवाचक शब्दों के स्थान पर व्यक्तिवाचक शब्दों का व्यवहार होने लगता है और इस प्रकार व्यक्ति से ही जाति, समूह या वर्ग का ज्ञान होने लगता है। उदाहरणार्थ—सभी प्रकार के शाक (तरकारियों) के लिये 'सब्जी'

(हरे शाक) शब्द का प्रयोग । अब तो 'सब्जी', फलों के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है । 'स्याही' केवल 'कालिख' या लिखने के काले रंग को ही कहते थे, अब लिखने के सभी रंग स्याही कहलाते हैं । इसी प्रकार 'कौआ', 'कोयल', 'उल्लू' आदि स्त्री-पुंल्लिग दोनों के द्योतक हैं । छात्र, अध्यापक या मजदूर वर्गों में सभी लिंगों के व्यक्ति आ जाते हैं । 'खाना' में पेयसामग्री तथा जलपान में खाद्य पदार्थ भी सम्मिलित रहते हैं ।

(२२) अज्ञान भ्रान्ति या पाण्डित्य-प्रदर्शन— के कारण भी अनेक शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है । 'देवता' अर्थ में 'सुर' तथा 'राक्षस' अर्थ में 'असुर' शब्द का प्रयोग भ्रान्तिमूलक ही है । आजकल हिन्दी में क्रांन्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति 'ज्ञान' के स्थान पर 'अभिज्ञान' तथा इसी प्रकार के अनेक शब्दों का प्रयोग बढ़ रहा है, जिसके पीछे पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति तथा उपसर्गों के प्रयोग का अज्ञान ही मूल कारण हैं । शब्दप्रयोग में असावधानी भी इसका मूलकारण है । धीरे-धीरे ऐसे शब्द भाषा में प्रचलित हो जाते हैं और अर्थ परिवर्तन का कारण बन जाते हैं ।

(२३) शब्दकोश—भाषा में शब्दकोशों की रचना के कारण भी शब्दों के अर्थ बदलते हैं । वस्तुतः, किसी भी भाषा का कोई भी शब्द किसी दूसरे शब्द का पर्याय नहीं होता है । प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ निश्चित होता है, किन्तु शब्द-कोशों में प्रायः एक शब्द के अनेक पर्याय दिये रहते हैं । उदाहरणार्थ, 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः ।'—(अमरकोश) । यहाँ सर्प के लिए कई नाम गिनाये गये हैं । सामान्य भाषाभाषी तो क्या, पण्डित व्यक्ति भी इनके सूक्ष्म अन्तर को नहीं जान पाता है । अतः, सभी शब्दों का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक होता रहता है ।

इस प्रकार, प्रत्येक शब्द का मूल अर्थ ज्ञात न होने के कारण शब्दों के अर्थों में अनिश्चय की स्थिति बनी रहती है तथा उपयुक्त शब्द के स्थान पर अनुपयुक्त शब्द प्रचलित हो जाता है ।

(२४) व्यक्तिगत योग्यता—प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य में दूसरे से भिन्न होता है । अतः, एक ही शब्द का अर्थ भिन्न-योग्यता वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न ही समझते हैं । सूक्ष्म भावनाओं तथा विचारों के विषय में यह बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है । आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, जगत्, माया, ज्ञान, विद्या, पाप-पुण्य, धर्म अधर्म आदि शब्दों का सभी व्यक्ति एक ही अर्थ नहीं करते हैं । अतः, इन शब्दों का अर्थ व्यक्ति-भेद, सम्प्रदाय-भेद से बदलता रहता है ।

(२५) शब्दार्थ में एक ही तत्त्व की प्रधानता— कभी-कभी किसी शब्दार्थ के स्थान पर उसके केवल एक तत्त्व से ही उस पदार्थ का ज्ञान होने लगता है । उदाहरणार्थ—'लाल पगड़ी' ही सिपाही नहीं है, किन्तु उसका अर्थ सिपाही हो गया है । इसी प्रकार 'लाल टोपी' का अर्थ 'कम्युनिस्ट व्यक्ति' तथा 'गाँधी टोपी' का अर्थ 'कांग्रेसी व्यक्ति' हो गया है ।

(२६) राष्ट्र या जाति के प्रति सामान्य मनोभाव—इस कारण भी शब्दों के अर्थों में महान् परिवर्तन हो जाता है। ईरानियों के देवता 'अहुरमज़्द' में अहुर (असुर) का अर्थ आर्यों ने द्वेष के कारण 'राक्षस' किया, जबकि उसका मूल अर्थ था 'प्राणवान्' (देवता)। इसी प्रकार ईरानियों ने 'देव' शब्द का अर्थ अपनी भाषा में 'राक्षस' कर लिया। 'हिन्दु' का मूल अर्थ है सिन्धु देशवासी (ईरानी में स को ह बोला जाता है) किन्तु द्वेषभाव के कारण मुसलमान लोग प्रायः हिन्दू का अर्थ गुलाम या 'काफिर' कहते हैं और हिन्दू लोग 'मुसलमान' का अर्थ 'भ्रष्ट' मानते हैं, जबकि इसका अर्थ है—इस्लाम धर्मावलम्वी।

(२७) संक्षेपीकरण—इससे भी शब्दों के अर्थ वदल जाते हैं। 'हस्तिन्' का अर्थ था 'हाथ या सूँड वाला'। इसके साथ 'मृग' शब्द जोड़कर 'हाथी' अर्थ किया जाता था। वाद में, संक्षेपीकरण द्वारा 'हस्तिन्' का अर्थ हाथी हो गया। इसी प्रकार अंग्रेजी में भी 'रेल', 'कार' आदि शब्दों का अर्थ 'रेल-ट्रेन' तथा 'मोटर-कार' हो गया है।

(२८) अन्य भाषाओं के शब्द—प्रायः, ठीक-ठीक अर्थ का ज्ञान न होने के कारण अन्य भाषाओं के शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, फ़ारसी का 'मुर्ग' शब्द, जो वहाँ सामान्य पक्षीवाचक था, हमारे यहाँ एक पक्षी-विशेष के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी अर्थपरिवर्तन के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे, व्याकरण में समासहोना, धातुओं से उपसर्ग लगना, उद्देश्य का विधेय होना या विधेय का उद्देश्य हो जाना, संज्ञा को विशेषण या विशेषण को संज्ञा रूप में प्रयुक्त करना, लिङ्गभेद होना आदि आदि सभी अर्थ-परिवर्तन के कारण हैं। किन्तु, जैसाकि प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है, अभी तक इस विषय का पूर्ण अध्ययन नहीं हो पाया है और न ही सम्भव है, क्योंकि अर्थ-विकास का कारण मानव का मनोविज्ञान है और उसमें सदैव परिवर्तन होता रहा है, होता रहता है और होता रहेगा। अतः, अर्थ-परिवर्तन के भी नये-नये कारण सामने आते रहेंगे।

———

[अध्याय १२]

कोश-विज्ञान

१. प्रस्तावना

२. कोश-विज्ञान की परिभाषा

३. कोश-निर्माण की परम्परा

४. कोशों के विभिन्न प्रकार

५. कोश-निर्माण की रीति

[अध्याय १२]

कोश-विज्ञान

[Lexicology]

१. प्रस्तावना

'कोश-विज्ञान' को भी भाषाविज्ञान से सम्बन्धित माना जाता है। इसका विषय भाषा में प्रयुक्त शब्दों को व्यवस्थित रूप से संकलित, संगृहीत करना है। कोश-रचना का प्रादुर्भाव लिपि के आविष्कार के बाद से ही माना जा सकता है। इसका अधिक विकास उस समय हुआ, जब एक भाषा-भाषी को दूसरे भाषा-भाषी से सम्पर्क करना पड़ा, क्योंकि उसके लिए यह जानना आवश्यक था कि एक भाषा के किसी शब्द के स्थान पर दूसरी भाषा में कौन-सा शब्द प्रयुक्त होता है। इस प्रकार, प्रथमतः एकभाषीय तथा उसके उपरान्त द्विभाषीय कोशों की रचना का प्रादुर्भाव हुआ। आजकल तो सम्पूर्ण विश्व ही एक विश्वजनीन संस्था की ओर उन्मुख है, अतः, आश्चर्य नहीं कि कुछ उपलब्ध बहुभाषीय कोशों की भाँति ही कुछ समय बाद विश्वभाषीय कोश भी तैयार किये जाने लगे।

२. कोश-विज्ञान की परिभाषा

कोश-विज्ञान की कोई बहुसम्मत या बहुचर्चित परिभाषा अभी तक प्रकाश में नहीं आयी है। हाँ, इतना अवश्य समझा जा सकता है कि इस विज्ञान के अन्तर्गत उन सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन एवं निर्धारण होता है, जिनके आधार पर उत्कृष्ट कोटि के भाषा-कोश बनाये जाते हैं या बनाये जा सकते हैं।

३. कोश-निर्माण की परम्परा

अन्य प्रकार की भाषावैज्ञानिक सामग्री की भाँति ही, कोशों का निर्माण भी भारत में बहुत प्राचीन काल में ही हो गया था। 'यास्क' से पूर्व के 'निघण्टु' ग्रन्थ वैदिक भाषा के कोश ही हैं, जिनमें कठिन-कठिन शब्दों का संकलन किया गया था। इस प्रकार भारत में कोश-निर्माण के कार्य का आरम्भ, हम लगभग १००० ई० पू० से मान सकते हैं। इसके उपरान्त संस्कृत भाषा के काल में भी 'अमरकोश', 'मेदिनी-कोश', तथा 'हलायुधकोश' आदि अनेक कोशों के नाम मिलते हैं।

भारत की अपेक्षा यूरोप में कोश-निर्माण का कार्य बहुत बाद में, लगभग १००० ई० के आस-पास ही शुरु हुआ है। अंग्रेजी भाषा के कोश तो लगभग १६०० वीं शताब्दी ईस्वी के आस-पास ही बने हैं।

आधुनिक काल में मुद्रण कला की यान्त्रिक सुविधाओं के कारण अनेकानेक

कोशों का निर्माण निरन्तर और बड़ी संख्या में हो रहा है। उपलब्ध सभी भाषाओं

में छोटे-बड़े कोश मिल जाते हैं। मानवी भाषाओं के अतिरिक्त आज के वैज्ञानिक युग में तो पशु-पक्षियों तक की भाषाओं के कोशों के निर्माण के प्रयास भी किये जा रहे हैं। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, हिन्दी आदि सभी भाषाओं में संक्षिप्त और विस्तृत शब्दकोशों की संख्या आज गिनना भी कठिन है।

४. कोशों के विभिन्न प्रकार

यद्यपि प्रारम्भ में केवल भाषा-कोश ही बनाये जाते थे, किन्तु आज कोश-निर्माण का कार्य विभिन्न आधारों पर हो रहा है। प्रमुख रूप से जिन विषयों को दृष्टि में रखकर कोश बनाये जा रहे हैं, उनके आधार पर कोशों के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) भाषा-कोश

किसी विशिष्ट भाषा या बोली को आधार बनाकर जिन कोशों का निर्माण किया जाता है, वे भाषा-कोश कहलाते हैं। ये भाषा-कोश भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं—

(क) एकभाषीय कोश, जिसमें एक भाषा को अपनाया जाय।

(ख) द्विभाषीय कोश, जिसमें दो भाषाओं को अपनाया जाय।

(ग) बहुभाषीय कोश, जिसमें अनेक भाषाओं को अपनाया जाय।

(क) एकभाषीय कोश—इसमें शब्द और अर्थ उसी एक भाषा में दिये जाते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—(i) वर्णनात्मक तथा (ii) ऐतिहासिक।

(क i) एकभाषीय वर्णनात्मक कोश

जैसाकि लिखा जा चुका है, एकभाषीय कोश में शब्द और अर्थ एक ही भाषा के होते हैं। भाषा में प्रचलित सभी शब्द और अर्थ इसमें दिये जाते हैं। साथ ही अर्थों को देने में भी एक निश्चित क्रम को अपनाया जाता है। किसी शब्द का अर्थ देते समय यदि अर्थ एक ही है तब तो बिना किसी विशेष विचार के उसे शब्द के साथ दे ही दिया जाता है; किन्तु, यदि किसी शब्द के अनेक अर्थ हैं, तो उन पर विचार करके, प्रचलन की दृष्टि से सबसे अधिक प्रचलित अर्थ को सबसे पहले देना चाहिए। इसी क्रम में सबसे कम प्रचलित अर्थ को सबसे बाद में ही देना चाहिए। तभी व्यवस्थित कोश बन सकता है।

एकभाषीय कोशों के उदाहरण हैं—संस्कृत में 'अमरकोश', मेदिनी-कोश, आदि तथा हिन्दी में 'हिन्दी शब्द सागर' तथा 'वृहत् हिन्दी कोश' आदि-आदि। वस्तुतः एकभाषीय कोशों की संख्या बहुत अधिक है।

(क ii) एक भाषीय ऐतिहासिक कोश

इसका आधार भी एक ही भाषा होती है, किन्तु इसमें केवल प्रचलित शब्द और प्रचलित अर्थ ही न देकर, सभी अप्रचलित और प्रचलित, प्राचीन एवं नवीन शब्दों तथा अर्थों को दिया जाता है। हाँ, शब्दों का अर्थ देने में यहाँ कालक्रम को आधार बनाया जाता है। अर्थात् उस भाषा के शब्दों के अर्थ इस क्रम से दिये जाते

हैं कि उनका ऐतिहासिक विकास स्पष्ट हो सके। इस पद्धति में शब्द का वह अर्थ सबसे पहले दिया जाता है, जो सबसे पहले प्रचलन में आया था। सबसे बाद में प्रचलित अर्थ को सबसे बाद में रक्खा जाता है। इस प्रकार शब्दों के अर्थों को काल-क्रम की दृष्टि से रक्खा जाता है। उदाहरण के लिए संस्कृत में 'सैन्धव' शब्द के दो अर्थ—घोड़ा और नमक हैं। अब, कोश में सैन्धव का अर्थ देने से पहले यह निश्चित किया जायगा कि घोड़ा और नमक में से कौनसा अर्थ पहले प्रचलित हुआ था और कौनसा बाद में। यदि निश्चित हुआ कि घोड़ा अर्थ पहले प्रचलित हुआ है तो कोश में, इन्हें इस प्रकार रक्खा जायगा—

सैन्धव=१–घोड़ा, २–नमक।

इसी प्रकार, यदि अनेक अर्थ होंगे तो उन्हें भी इसी कालक्रम के आधार पर दिया जायेगा। 'मोनियर विलियम्ज' का संस्कृत भाषा का कोश इसी प्रकार का है। अंग्रेजी भाषा का कोश 'आक्सफोर्ड डिक्शनरी' भी इसी प्रकार का है और वह एक-भाषीय ऐतिहासिक कोश का सर्वोत्तम उदाहरण भी माना जाता है।

एकभाषीय ऐतिहासिक कोश-निर्माण के लिए उस भाषा का सभी साहित्य उपलब्ध होना आवश्यक है। उपलब्ध साहित्य में, सर्वप्रथम रचनाओं का कालक्रम निश्चित किया जाता है, तदुपरान्त उनका पाठ-शोधन किया जाता है। इतना हो जाने के पश्चात् ही उनसे शब्दों का संग्रह करके उनके कालक्रमानुसारी अर्थ दिए जाते हैं।

ऐतिहासिक कोश का सर्वाधिक महत्त्व इस तथ्य में है कि इससे भाषा-विशेष के ऐतिहासिक विकास को भली-भाँति समझा जा सकता है।

(ख) द्विभाषीय कोश—इसमें किसी एक भाषा के शब्दों का अर्थ किसी अन्य भाषा में दिया जाता है। इसका महत्त्व इस बात में है कि इसके द्वारा एक भाषा को जानने वाला व्यक्ति दूसरी भाषा को सरलतापूर्वक सीख या समझ सकता है। हिन्दी-अंग्रेजी, अंग्रेजी-हिन्दी, संस्कृत-हिन्दी, रूसी-हिन्दी, रूसी-अंग्रेजी आदि कोश इसके उदाहरण हैं।

(ग) बहुभाषीय कोश—इसमें एक ही अर्थ के वाचक अनेक भाषाओं के शब्द संकलित किये जाते हैं। ऐसे कोशों का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि एक ही स्थान पर एक अर्थ के वाचक, सभी या अधिक से अधिक भाषाओं के शब्द एक साथ देखे जा सकें तथा उनमें प्राप्त ध्वन्यात्मक या अर्थ-सम्बन्धी समानता आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। ऐसे कोश प्रायः किसी एक ही भाषा-परिवार की विभिन्न भाषाओं को लेकर बनाये जाते हैं, जिससे उन भाषाओं की पारस्परिक निकटता का अध्ययन किया जा सके।

भाषाकोश के अतिरिक्त कोश के अन्य प्रकार निम्नलिखित हैं—

(२) साहित्य-कोश—

विशिष्ट साहित्य को आधार बनाकर, उसके सभी रचनाकारों एवं रचनाओं का परिचय, इसमें कालक्रमानुसार दिया जाता है, जिससे आवश्यकता पड़ने पर किसी

भी लेखक या कृति का परिचय सहज ही प्राप्त किया जा सके। इसके लिए सर्वप्रथम, रचनाकारों एवं रचनाओं की सूची बनाई जाती है। तत्पश्चात् उन्हें वर्णानुक्रम से रक्खा जाता है। वर्णानुक्रम, लेखकों के नामों के आधार की अपेक्षा कृतियों के आधार पर निश्चित करना अधिक उत्तम प्रतीत होता है, क्योंकि किसी कृति का महत्त्व होने के कारण ही उस कृतिकार को महत्त्व मिलता है।

(३) पुस्तक-कोश

किसी विशिष्ट कृति को आधार बनाकर भी कोश तैयार किया जाता है। ऐसे कोश में सम्बद्ध कृति के सब शब्दों को वर्णानुक्रम से दिया जाता है। जैसे— 'रामचरितमानस-कोश'।

(४) व्यक्ति-कोश

विशिष्ट कृति की भाँति ही किसी विशिष्ट कृतिकार, लेखक या साहित्यकार को इसमें आधार बनाया जाता है तथा उस की सभी रचनाओं में प्रयुक्त शब्द इसमें रक्खे जाते हैं। अंग्रेजी में 'शेक्सपियर-कोश' तथा हिन्दी में 'प्रसाद-कोश' इसके उदाहरण हैं।

(५) पारिभाषिक-कोश

किसी भाषा के, किसी विशिष्ट विषय के सभी शब्दों को ऐसे कोशों में संकलित किया जाता है उदाहरणार्थ—'भाषाविज्ञान-कोश', 'मनोविज्ञान-कोश', 'भूगोल-कोश' आदि-आदि। इन विषयों के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द; और उनका स्पष्टीकरण भी इन कोशों में दिया जाता है।

(६) पर्याय-कोश

किसी एक भाषा में, एक अर्थ के वाचक सभी शब्दों को इसमें संकलित किया जाता है। कवियों, लेखकों के लिये ऐसे कोश उपयोगी होते हैं। संस्कृत में 'अमरकोश' आदि ऐसे ही कोश हैं। अंग्रेजी के 'थेसारस' भी ऐसे ही कोश हैं। हिन्दी में डॉ० भोलानाथ तिवारी ने 'वृहत् पर्यायवाची कोश' की रचना की है।

(७) सूक्ति-कोश

भाषा-विशेष के साहित्य में उपलब्ध विभिन्न विषयों से सम्बन्धित, सूक्तियों को इसमें संकलित किया जाता है। इसी प्रकार एक कृति या कृतिकार की सभी सूक्तियों को भी संकलित किया जा सकता है। संस्कृत में 'सूक्ति-रत्नाकर', 'सूक्ति-सुधाकर' आदि ऐसे ही कोश हैं। विशिष्ट विषय पर लिखने वाले लेखकों के लिये ये कोश उपयोगी होते हैं।

(८) मुहावरा-कोश और लोकोक्ति-कोश

भाषा-विशेष में प्रयुक्त सभी मुहावरे या लोकोक्तियों को ऐसे कोशों में रक्खा जाता है। ऐसे कोशों का बार-बार पाठ करने से भाषा-विशेष के प्रयोग में बड़ी दक्षता प्राप्त हो जाती है।

(९) विश्व-कोश

अनेक विषयों की जानकारी एक स्थान पर दे दी जाती है। सामान्य ज्ञान के लिए ये कोश उपयोगी हैं।

(१०) कथा-कोश

उपलब्ध सभी विशिष्ट कथाओं का संग्रह इनमें कर दिया जाता है।

(११) जीवनी-कोश

महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का जीवन-परिचय वर्णानुक्रम से इसमें दिया जाता है।

इस प्रकार कोशों के अनेक प्रकार हैं। विशिष्ट भाषा-कोशों की भाँति ही विशिष्ट साहित्य कोश भी बनाये जा सकते हैं।

५. कोशनिर्माण की रीति

किसी भाषा का कोश बनाते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(i) **शब्द-संग्रह**—सर्वप्रथम, भाषा-विशेष में प्रयुक्त सभी शब्दों का संग्रह सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। समसामयिक भाषा का कोश बनाते समय शब्दों का संकलन उस भाषा के बोलने वालों से, भाषा को सुनकर किया जाता है, जो थोड़ा कठिन कार्य है। प्राचीन भाषा या साहित्य का कोश उस भाषा के साहित्य से उसमें प्रयुक्त शब्दों का संग्रह करके बनाया जाता है। ऐसा करते समय सभी कृतियों को प्राप्त कर लेना आवश्यक है, अन्यथा अनेक शब्दों के छूट जाने की सम्भावना रहती है।

(ii) **वर्तनी का निश्चय**—शब्दों का संग्रह कर लेने के पश्चात् उनकी वर्तनी का निश्चय करना आवश्यक है। वर्तनी में जहाँ तक हो सके एकरूपता रहनी चाहिए।

(iii) **शब्द-स्थान-क्रम**—कोश में शब्दों को रखने का क्रम भी किसी निश्चित सिद्धान्त के आधार पर होना चाहिए। प्रायः निम्नलिखित क्रम प्रचलित हैं—

(क) **वर्णानुक्रम**—अकारादि क्रम से शब्दों को रक्खा जाता है। इसमें भी केवल पहले ही वर्ण का नहीं, अपितु पहले, दूसरे, तीसरे आदि सभी वर्णों के क्रम पर विचार किया जाता है। अर्थात् पहले 'क' वाले शब्द, फिर 'का' वाले, 'कि' वाले 'कु' वाले आदि। इस प्रकार पहले कक वाले, फिर कख वाले फिर कग वाले आदि आदि।

(ख) **अक्षर-संख्या**—पहले एक अक्षर वाले, फिर दो अक्षर वाले, फिर तीन अक्षर वाले, इसी प्रकार अक्षरों की संख्या के क्रम से शब्दों को दिया जाता है। भारत में एकाक्षरी कोश पहले बनाये जाते थे।

(ग) **विषयानुसार**—पहले सभी विषयों के शब्द संकलित कर लिये जाते हैं। पुनः महत्त्वक्रम से विषयों को रक्खा जाता है और एक विषय के सभी शब्द एक ही अध्याय में दिये जाते हैं। जैसे—प्राकृतिक पदार्थ—पृथ्वी, जल वायु आदि। जीववाचक शब्द पशु-पक्षी आदि। खाद्य पदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि-आदि। 'अमरकोश' आदि संस्कृत कोषों में यही क्रम है।

(iv) **उच्चारण**—शब्द के साथ उसके उच्चारण को भी दिया जाना चाहिए। साथ ही, उसमें बलाघात आदि का संकेत भी कर देना चाहिए।

(v) व्याकरण—इसके अन्तर्गत संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि; लिङ्ग एवं वचन आदि का उल्लेख किया जाता है।

(vi) अर्थ—शब्दों के अर्थ देने की कई रीतियाँ हैं। कभी केवल समानार्थी शब्द, जैसे—गज=हाथी; कभी समानार्थी शब्द के साथ ही संक्षिप्त परिभाषा भी दे देते हैं, जैसे, एक चौपाया, सूँड वाला, भारी पशु आदि। इसके साथ ही अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यदि आवश्यक हो, तो चित्र भी दे दिया जाता है।

(क) व्युत्पत्ति—उत्तम कोटि के कोशों में शब्द की व्युत्पत्ति को भी महत्त्व दिया जाता है।

(ख) सन्दर्भ—उत्तम कोटि के कोशों की यह भी एक बड़ी विशेषता है। शब्द का अर्थ देने के साथ ही, वह शब्द उस अर्थ में कहाँ-कहाँ प्रयुक्त हुआ है, यह भी साहित्य से उद्धृत कर दिया जाता है।

(vii) शब्द-निर्णय—कोश-निर्माण के लिये शब्द-निर्णय आवश्यक है। प्रायः, देखने में आता है कि प्रत्येक भाषा में अनेक शब्दों का निर्माण एक ही मूल-शब्द से होता है। ऐसी दशा में बड़े कोशों में तो उन सभी शब्दों को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से रक्खा जा सकता है; किन्तु, लघुकाय कोशों में यह देखना पड़ता है कि किस शब्द को मूल माने और उससे निर्मित शब्दों को किस क्रम से उसी शब्द के अन्तर्गत रक्खें। उपसर्गयुक्त शब्दों के विषय में भी यही समस्या आती है। अतः, इसके लिए कोई एक निश्चित सिद्धान्त अपनाकर ही शब्दों को कोश में स्थान देना चाहिए और ऐसे सभी सिद्धान्तों का उल्लेख कोश के प्रारम्भ में ही कर दिया जाना चाहिए।

———

[अध्याय १३]

भाषाविज्ञान का इतिहास

[History of Linguistics]

१. प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञान

प्रस्तावना, शिक्षा, प्रातिशाख्य: निरुक्त, व्याकरण आदि ।

भर्तृहरि और उनका वाक्यपदीय

प्राकृत-व्याकरण

पालि-व्याकरण

२. आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान

विभिन्न भारतीय भाषाओं पर हुए कार्य का विवरण

हिन्दी तथा हिन्दी की बोलियों पर हुए कार्य का विवरण

३. यूरोपीय भाषाविज्ञान

(I) प्राचीन युग

(II) मध्ययुग

(III) आधुनिक भाषाविज्ञान की पृष्ठभूमि (१८ वीं शताब्दी)

(IV) आधुनिक युग (१८ वीं शताब्दी से अब तक)

[अध्याय १३]

भाषाविज्ञान का इतिहास

[History of Linguistics]

१. प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञान

प्रस्तावना

यद्यपि अपने वर्तमान रूप में भाषाविज्ञान एक नवीन विषय माना जाता है; तथापि भाषा के सम्बन्ध में मनुष्य प्राचीन काल से ही जिज्ञासु रहा है। विशेषतः भारत में तो अतिप्राचीनकाल से ही भाषा-सम्बन्धी विवेचन के सूत्र उपलब्ध होते हैं।

जिस प्रकार यूरोप के सभी शास्त्रों का मूल ग्रीक भाषा में खोज लिया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी प्रत्येक विषय का वीज 'वेद' में ही मिल जाता है। "सर्व-ज्ञानमयो हि सः" कहकर 'मनुस्मृति' में भी सम्भवतः इसी ओर संकेत किया गया है।

(१) भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के सर्वप्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में 'वागाम्भणीय सूक्त' नाम से एक पूरा सूक्त ही भाषा (वाक्) से सम्बन्धित है।"[1]

(२) इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थलों पर भाषा-सम्बन्धी विवेचन वेदों में मिलता है—

(क) "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि।" (ऋ० १/१६४/४५)

(ख) "तुरीयां वाचं मनुष्या वदन्ति।"—(ऋ० १/१६४/४५)

(ग) 'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।"

—(ऋ० ८/१००/११)

(घ) "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

—(ऋ० १०/७१/४)

(ङ) 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वाः।"—(अथर्ववेद १/१/१)

इत्यादि वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

(३) 'ऋग्वेद' के एक सूक्त (१०।७१) में वाक् की उत्पत्ति-प्रक्रिया का भी वर्णन हुआ है। इसमें बतलाया गया है कि वाक् के द्वारा ज्ञान का आदान-प्रदान कैसे होता है। इस सूक्त में वाणी की उच्चारण-प्रक्रिया तथा ग्रहण-प्रक्रिया का वर्णन स्पष्ट रूप से हुआ है। इसमें बताया गया है कि पहले बोलने की इच्छा होती है, फिर चिन्तन होता है, उसके बाद स्वर उत्पन्न होता है और अन्त में, सुनने योग्य या देखने योग्य वाणी प्रकट होती है।[2]

(४) तैत्तिरीय संहिता[3] के एक प्रसङ्ग में देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि हमारे कथन को आप दो खण्डों में विभाजित कर दीजिये।

---

१. ऋग्वेद, १०,१२५

२. तुलना कीजिए—"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्।" पाणिनीयशिक्षा, ६—७।।

३. ६/४/७;

"देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां वो वाचं व्याकुरु ।"

तथा उनकी प्रार्थना पर इन्द्र ने उस वाणी को; बीच से पृथक् (दो भागों में) कर दिया—

"तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्, तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते ।"

(५) 'The Aitaraya Brahmana gives the etymology of प्रैष (iii 9), of मानुष ((iii 23), of जाया (vii) the Tait. Brahmana of अश्व 1. 1. 5.) of नक्षत्र ।',[1]

वेदपाठ की शुद्धता

भाषा विवेचन-सम्बन्धी उपर्युक्त विकीर्ण तत्त्वों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में वेदों की शुद्धता की रक्षा के लिये किये गये सुनियोजित उपायों का उल्लेख भी मिलता हैं ।

वस्तुतः, हुआ यह कि विजयी आर्य जब निरन्तर आगे बढ़ते गये, तो उनका सम्पर्क विजित जातियों की भाषाओं से हुआ । परिणामस्वरूप, अपनी भाषा के स्वरूप को शुद्ध बनाये रखने के लिये उन्हें कुछ उपाय करने पड़े । इसमें उनकी आस्तिक बुद्धि एवं श्रद्धा-भावना ने भी सहयोग दिया । अतः, जातीय एवं श्रद्धा-भावना से वेदों की शुद्धता को आवश्यक माना गया । किन्तु लेखनकला के अभाव में पीढ़ी दर पीढ़ी भाषा को शुद्ध रखना भी कठिन था । अतः, वेदाङ्गों का प्रादुर्भाव हुआ और वेद के साथ ही साथ छः वेदागों का अध्ययन भी अनिवार्य माना जाने लगा—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।"—महाभाष्य, प्रथमाह्निक ।

अर्थात् ब्राह्मण, बिना किसी प्रयोजन के भी, छः वेदाङ्गों-सहित वेद का अध्ययन करे तथा वेद को जाने ।

छः वेदाङ्गों में से चार—शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छन्द का सम्बन्ध भाषा और भाषा-विवेचन से ही है ।

शिक्षा वेदांग में ध्वनियों का ठीक-ठीक उच्चारण करना बतलाया गया है । यह आधुनिक ध्वनिविज्ञान से मिलता-जुलता शास्त्र है । व्याकरण का सम्बन्ध पदों तथा वाक्यों से है, जिसे आजकल पद-विचार या वाक्य-विचार कहा जाता है। 'निरुक्त' में अर्थ के अनुसार शब्दों की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है । इसे ही आजकल अर्थ-विचार कहा जाता है। इन वेदाङ्गों का विस्तृत परिचय यहाँ प्रस्तुत है ।

२. शिक्षा

शिक्षा का अर्थ है—'वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा" । यह शिक्षा जिन ग्रन्थों में है, उन्हें भी 'शिक्षा' ही कहा गया है। आचार्य 'सायण' ने 'शिक्षा' की परिभाषा इस प्रकार की है—

"स्वर-वर्णाद्युच्चारण-प्रकारो यत्र शिक्ष्यते, उपदिश्यते सा शिक्षा ।"

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका; पृ० ४९ ।

---

1. Collected works of the Sir G. P. Bhandarker, iv P. 425.

अर्थात् जिसमें स्वर तथा वर्णों के उच्चारण की रीति सिखलायी जाती है; वह 'शिक्षा' है। स्वर से तात्पर्य यहाँ उदात्तादि स्वरों से है।

'शिक्षा' वेदाङ्ग का आविर्भाव संहिताओं के प्रति भारतीयों की आस्तिक बुद्धि का ही परिणाम है। क्योंकि वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। जर्मन विद्वान् डॉ० विण्टरनिट्ज[1] के अनुसार, वेदमन्त्रों का संहितापाठ तथा पदपाठ शिक्षा-वेदांग के नियमों के अनुसार ही हुआ है; उदाहरण के लिये, वेदमन्त्र के 'त्वं हि अग्ने' इस उच्चरित रूप का 'त्वं ह्यग्ने' यह सम्पादित एवं लिखित रूप शिक्षा नियमों के अनुसार ही है। इसी प्रकार संहितापाठ से पदपाठ भी शिक्षा ग्रन्थों के नियमों के अनुसार ही किया गया है; उदाहरणार्थ—

संहितापाठ

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥—ऋग्वेद १/१/२.

पदपाठ

अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिऽभिः। ईड्यः नूतनैः। उत।
सः। देवान्। आ। इह। वक्षति ॥ —ऋग्वेद, १/१/२.

इस प्रकार शिक्षा–वेदाङ्ग का सम्बन्ध संहिताओं के संहितापाठ तथा पदपाठ के नियमों से है।

आजकल 'भारद्वाज', 'व्यास', 'वशिष्ठ' और 'याज्ञवल्क्य' के लघु शिक्षा-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। इन शिक्षा-ग्रन्थों की रचना भी प्रातिशाख्यों के आधार पर, बाद में हुई प्रतीत होती है। शिक्षा ग्रंथों में व्यास-शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्व है।

तैत्तिरीय उपनिषद् १, २ में, शिक्षा वेदाङ्ग के छः अङ्ग या अध्याय कहे गये हैं—(१) अक्षर या वर्ण, (२) स्वर, (३) मात्रा, (४) बल, (५) साम तथा (६) सन्तान।

इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

(१) वर्ण—अक्षर की ही दूसरी संज्ञा वर्ण है। अतः, इस अङ्ग या अध्याय में, वेद में प्रयुक्त वर्णमाला का ज्ञान कराया जाता है, जिससे स्थान तथा प्रयत्न के अनुसार वर्णों का शुद्ध उच्चारण किया जा सके। 'पाणिनीय शिक्षा' में संस्कृत-वर्णमाला में वर्णों की संख्या ६३ या ६४ बतलायी गयी है। यही वर्णमाला वैदिक, संस्कृत तथा तत्कालीन प्राकृतों में प्रयुक्त होती थी।

(२) स्वर—स्वर तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। वेदों के शुद्ध उच्चारण के लिये स्वरों का ज्ञान अनिवार्य था। 'पाणिनि' ने तीनों का लक्षण दिया है—

---

१. एम. विण्टरनिट्ज, प्राचीन भारतीय साहित्य, (हिन्दी रूपान्तर), प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, पृ० २२०–२२१.

उच्चैरुदात्तः- अर्थात् ऊँचे स्वर से उच्चरित स्वर उदात्त कहा जाता है ।[1]

नीचैरनुदात्तः—अर्थात् नीचे स्वर या धीमे स्वर से उच्चरित स्वर अनुदात्त कहा जाता है ।[2]

समाहारः स्वरितः—अर्थात् उदात्त और अनुदात्त के समाहार अर्थात् मध्य स्वर से उच्चरित स्वर स्वरित कहा जाता है ।[3]

स्वरों का उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन आधुनिक ध्वनिविज्ञान या स्वर-विज्ञान से ही सम्बन्धित है, जिसे अतिप्राचीन काल में ही भारत में इतना महत्त्व प्राप्त था ।

वेदपाठ में सामान्य नियम के अनुसार प्रत्येक पद में एक स्वर उदात्त होता है, शेष सब अनुदात्त होते हैं । विशिष्ट दशा में अनुदात्त ही स्वरित हो जाता है ।

वेदों में अर्थ की दृष्टि से भी स्वर का बहुत महत्त्व है । वैदिक भाषा में स्वर ही अर्थ का नियामक है । स्वर में परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है । कभी-कभी तो अर्थ का अनर्थ ही हो जाता है ।

इस सम्बन्ध में 'पाणिनीय शिक्षा' में, स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो मन्त्र, स्वर अथवा वर्ण से हीन होता है, मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण वह वाञ्छित अर्थ को नहीं कहता है । इसके विपरीत, वह वाणी का वज्र बनकर यजमान को नष्ट कर देता है; जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रुः' शब्द ने स्वर के अपराध (अशुद्ध उच्चारण) से यजमान का विनाश किया था ।[4]

'पाणिनीय शिक्षा' के उपर्युक्त श्लोक में जिस कथा का संकेत है, वह इस प्रकार है—

'वृत्रासुर' तथा 'इन्द्र' देवता का संघर्ष प्रसिद्ध ही है । एक बार 'वृत्रासुर' ने 'इन्द्र' के विनाश के लिये एक धार्मिक अनुष्ठान–एक बड़ा यज्ञ किया । उस यज्ञ का प्रधान मन्त्र था—"इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" अर्थात् "इन्द्र का शत्रु (वृत्रासुर) बढ़े अर्थात् विजय प्राप्त करे" । इस मन्त्र में प्रयुक्त 'इन्द्रशत्रुः' शब्द का उच्चारण अन्तोदात्त होना चाहिये था । अन्तोदात्त उच्चारण से "इन्द्रशत्रुः" पद में तत्पुरुष समास–इन्द्रस्य शत्रुः होगा और तभी इसका अर्थ—'इन्द्र का शत्रु (घातक) 'वृत्रासुर' होगा । इसके विपरीत, ऋत्विजों ने असावधानी से या छल से 'इन्द्रशत्रुः' पद का उच्चारण आद्युदात्त कर दिया; अर्थात् 'इ' का उच्चारण ऊँचे स्वर में कर दिया । उच्चारण में इस परिवर्तन से 'इन्द्रशत्रुः' पद बहुव्रीहि समास वाला हो गया, अर्थात् "इन्द्रः शत्रु यस्य सः" अर्थात् इन्द्र है घातक जिसका, वह वृत्र (बढ़े) । इस अर्थ के कारण वृद्धि को प्राप्त हुआ भी वृत्र अन्ततः, इन्द्र के द्वारा मारा गया ।

उपर्युक्त कथा के आधार पर वेदपाठ के शुद्ध उच्चारण के महत्त्व को भली-भाँति समझा जा सकता है ।

---

१. अष्टाध्यायी १।२।२९ २. अष्टाध्यायी ।१।२।३० ३. अष्टाध्यायी १।२।३१

४. "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।"
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥
—पाणिनीयशिक्षा, ५२ ॥

(३) मात्रा—स्वरों के उच्चारण में लगने वाले काल की नाप को मात्रा कहा जाता है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत नाम से इसके तीन भेद हैं—जिन्हें स्थूलरूप से एक-मात्रा-काल, दो मात्राकाल तथा तीन मात्राकाल वाला समझा जा सकता है; उदाहरण के लिए उ, ऊ तथा ऊ३। उच्चारण में मात्रा का ध्यान रखना भी आवश्यक था।

(४) बल—वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त स्थान तथा प्रयत्न को बल कहा जाता है। वर्णों के उच्चारण में श्वासनली से आती हुई वायु मुख में जहाँ अवरुद्ध होती है, वह उन वर्णों का उच्चारण-स्थान कहा जाता है। इसी प्रकार उच्चारण में उच्चारणा-वयवों को जो प्रयास करना पड़ता है, वह उच्चारण-प्रयत्न कहलाता है। शिक्षा वेदांग के अनुसार ८ उच्चारण-स्थान, ४ प्रकार का आभ्यन्तर प्रयत्न तथा ११ प्रकार का बाह्य प्रयत्न माना गया है।

स्थान हैं—कण्ठ, मूर्धा, तालु, वर्स्व, दन्त, ओष्ठ, नासिका तथा जिह्वामूल=८।

आभ्यन्तर प्रयत्न हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत तथा संवृत=४।

बाह्य प्रयत्न हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित=११।

(५) साम—दोषरहित तथा गुणसहित उच्चारण ही साम है। उच्चारण के गुण-दोषों का विवेचन शिक्षा-ग्रन्थों में बहुत ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक दृष्टि से हुआ है। 'पाणिनीयशिक्षा' में अच्छे पाठक के गुण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

(१) माधुर्य, (२) वर्णों की स्पष्टता, (३) पदों की स्पष्टता, (४) सुस्वरता, (५) धीरता तथा (६) लयसमर्थता।[1]

इसके विपरीत निम्न प्रकार के पाठकों को अधम पाठक माना गया है—

(१) गाकर पढ़ने वाला, (२) जल्दी-जल्दी पढ़ने वाला, (३) सिर हिलाते हुए पढ़ने वाला, (४) लिखित ग्रन्थ से पढ़ने वाला, (५) अर्थ को बिना जाने पढ़ने वाला तथा (६) बहुत धीमे स्वर से पढ़ने वाला।[2]

साथ ही, उच्चारण के दोषों को गिनाने के व्याज से 'पाणिनीय शिक्षा' में निम्नलिखित प्रकार के दुष्ट (निन्दनीय) पाठों (उच्चारणों) को भी गिनाया गया है। 'पाणिनि' के अनुसार निम्नलिखित प्रकार के पाठों से कदापि सफलता प्राप्त नहीं होती है—

(१) शङ्कित, (२) भीत, (३) उत्कृष्ट, (४) अव्यक्त, (५) सानुनासिक, (६) काकस्वर, (७) शिरोगत अर्थात् ऊपर को खींचकर किया हुआ पाठ, (८) स्थानरहित, (९) उपांशु (बुदबुदाया हुआ), (१०) दष्ट अर्थात् जिसमें शब्दों को दान्तों में दबाया जाय, (११) त्वरित, (१२) निरस्त, (१३) विलम्बित, (१४) गद्गद, (१५) प्रगीत, (१६) निष्पीडित, (१७) अक्षर तथा पदों को छोड़-छोड़कर किया हुआ, (१८) दीन

---

१. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थञ्च, षडेते पाठका: गुणाः॥ —पाणिनीयशिक्षा, ३३॥

२. गीती शीघ्री, शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च, षडेते पाठकाधमाः॥ पाणिनीयशिक्षा, ३२॥

तथा (१९) सानुनास्य ।[1]

(६) सन्तान—पदों की अतिसन्निधि या संहिता को ही सन्तान कहा जाता है। पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पद भी जब एक-दूसरे के पश्चात्, बिना किसी व्यवधान के या बहुत कम व्यवधान के साथ, उच्चरित होते हैं, तो उसे पदों में संहिता कहा जाता है। ऐसे स्थलों पर सन्धि के कारण पदों में कुछ परिवर्तन हो जाता है; उदाहरणार्थ— 'वायो आयाहि' से 'वायवायाहि'।

यह विषय प्रमुखरूप से व्याकरण का होने के कारण 'शिक्षा' में इसका केवल निदर्शन ही हुआ है।

उच्चारण-सम्बन्धी उपर्युक्त नियमों के अतिरिक्त 'शिक्षा' वेदांग में इस विषय का भी उल्लेख हुआ है कि किस संहिता में, किस विशिष्ट ध्वनि (वर्ण) का उच्चारण किस रूप में किया जाता है; उदाहरणार्थ—'ऋग्वेद' के 'पुरुष' सूक्त के मन्त्र—'सहस्र-शीर्षा पुरुषः' में 'शीर्षा' का उच्चारण ऋग्वेदीय पाठक स्पष्टरूप से मूर्धन्य अर्थात् 'शीर्षा' के रूप में करते हैं, तो माध्यन्दिन शाखा वाले इसका उच्चारण "शीरखा" रूप में करते हैं, अर्थात् कण्ठ्य।

उपलब्ध शिक्षा-ग्रन्थ—अनुमान के आधार पर प्राचीनकाल में शिक्षा-ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक रही होगी। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'फॉनेटिक आब्जरवेशन आफ एन्शियेण्ट हिन्दूज' में ६५ शिक्षाग्रन्थों का उल्लेख किया है। किन्तु आजकल उपलब्ध कुछ प्रमुख शिक्षा ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—(१) पाणिनीय शिक्षा, (२) याज्ञवल्क्य शिक्षा, (३) कात्यायनी शिक्षा, (४) वाशिष्ठी शिक्षा, (५) पाराशरी शिक्षा, (६) माण्डव्य शिक्षा, (७) माध्यन्दिनी शिक्षा, (८) माण्डूकी शिक्षा, (९) अमोघानन्दिनी शिक्षा, (१०) केशवी शिक्षा आदि-आदि।

उपर्युक्त सभी उपलब्ध शिक्षाग्रन्थ प्रातिशाख्यों के बाद के हैं, जबकि शिक्षा वेदाङ्ग अपने आपमें बहुत प्राचीन तथा प्रातिशाख्यों का मूलाधार हैं। अतः, प्राति-शाख्यों के पूर्व के प्राचीन शिक्षाग्रन्थ अब लुप्त ही समझने चाहिएं। वर्तमान शिक्षा-ग्रन्थों की रचना तो वस्तुतः प्रातिशाख्यों के आधार पर ही, बाद में, हुई है।

३. प्रातिशाख्य

उपलब्ध प्रातिशाख्य, प्राचीन शिक्षा वेदांग का ही प्राचीनतम अवशेष एवं उसी का विशद रूप हैं। शिक्षा वेदांग में जहाँ ध्वनिविज्ञान का सैद्धान्तिक विवेचन है, वहाँ प्रतिशाख्यों में ध्वनिविज्ञान का व्यावहारिक या प्रायोगिक रूप मिलता है।

विभिन्न शिक्षा-सम्प्रदायों के अनुरूप जिस वेदांग-वाङ्मय का आविर्भाव

---

१. शङ्कितं भीतमुत्क्रुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसि गतं तथा स्थानविवर्जितम् ॥
उपांशु, दष्टं, त्वरितं, निरस्तं, विलम्बितं, गद्गदितं, प्रगीतम् ।
निष्पीडितं, ग्रस्तपदाक्षरञ्च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ॥
—पाणिनीयशिक्षा, ३४–५ ॥

हुआ है, उसी को 'प्रातिशाख्य' कहा जाता है। शिक्षा-ग्रन्थों की भाँति ही प्रातिशाख्यों में भी (१) उच्चारण, (२) सन्धि तथा (३) स्वर आदि को स्पष्ट किया गया है। इनका व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए संहितापाठ को पदपाठ में तथा पदपाठ को संहितापाठ में बदलकर दिखलाया गया है।

इसके साथ ही, उच्चारण के उन विशिष्ट नियमों को भी प्रातिशाख्यों में संकलित कर दिया गया है, जिनके अनुसार ह्रस्व को दीर्घ पढ़ा जाता है।

संहिताओं की लगभग ११३० शाखाओं के अनुसार प्रातिशाख्यों की संख्या भी लगभग इतनी ही बड़ी थी। कारण, प्रत्येक संहिता की प्रत्येक शाखा अपने विशिष्ट उच्चारण के कारण ही दूसरी शाखा से भिन्न होती थी तथा प्रत्येक शाखा के उच्चारण के नियम, उसके प्रातिशाख्य में उपलब्ध होते थे; क्योंकि प्रातिशाख्यों का प्रमुख उद्देश्य ही था—एक शाखा के उच्चारण की, दूसरी शाखाओं के उच्चारण-भेदों से रक्षा करना। इस प्रकार प्रतिशाखा से सम्बन्धित होने के कारण ही इनका नाम 'प्रातिशाख्य' पड़ा था।

प्रमुख प्रातिशाख्य ग्रन्थ—उपलब्ध प्रमुख प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की संख्या लगभग ६ है—(१) शौनककृत 'ऋक्प्रातिशाख्य', (२) कात्यायनकृत 'शुक्लयजुः प्रातिशाख्य' (३) कृष्णयजुर्वेद के 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' और (४) 'मैत्रायणी प्रातिशाख्य', (५) सामवेद का 'पुष्पसूत्र' तथा (६) शौनककृत "अथर्वप्रातिशाख्य'।

प्रातिशाख्यों की विषय-सामग्री के परिचय के लिए यहाँ एक प्रमुख प्रातिशाख्यग्रन्थ, 'ऋग्वेद' के 'ऋक्प्रातिशाख्य' का परिचय दिया जा रहा है—

'शौनककृत' ऋक्प्रातिशाख्य' में विषय का विभाजन पटलों में हुआ है। इसमें कुल पटलों (अध्यायों) की संख्या १८ है।

प्रथम पटल—स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति, रक्त, नाभि, प्रगृह्य आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट किया है।

द्वितीय पटल में—प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, उद्ग्रह, भुग्न आदि अनेक सन्धिप्रकारों को उदाहरणसहित स्पष्ट किया गया है।

तृतीय पटल में—स्वरों का परिचय दिया गया है।

चतुर्थ से नवम पटल में—विसर्ग-सन्धि, 'न' वर्ण के विभिन्न परिवर्तन, नति सन्धि ('स्' तथा 'न्' का क्रमशः मूर्धन्य 'ष्' तथा 'ण्' में परिवर्तन), क्रमसन्धि (वर्ण का द्वित्व होना) व्यञ्जन-सन्धि, प्लुति-सन्धि आदि विभिन्न प्रकार की सन्धियों का सूक्ष्म वैज्ञानिक परिचय दिया गया है।

दशम तथा एकादश पटल में : क्रमपाठ देते हुए वर्णों तथा स्वरों (उदात्तादि) के परिवर्तन के नियम दिये गये हैं।

द्वादश पटल में शब्दों के नाम, आख्यातादि चारों विभागों के स्पष्टीकरण के साथ ही बतलाया गया है कि ऋग्वेद के एकाकी शब्दों में कौन-से वर्ण के साथ कौन-सा वर्ण नहीं आता है।

त्रयोदश पटल में—व्यञ्जनों के सम्बन्ध में अनेक प्राचीन आचार्यों के मतों का विवेचन है।

चतुर्दश पटल में—उच्चारण सम्बन्धी दोषों पर दृष्टिपात किया गया है। इसके बाद शेष पटलों में—वैदिक छन्दों का विवरण है।

इस प्रकार, संक्षेप में, प्रतिशाख्यों का विषय है—स्वर-विवेचन, वर्ण-विवेचन, सन्धि-विवेचन, उच्चारण-विवेचन तथा छन्दों का विवेचन।

इसी रूपरेखा पर प्रायः सभी प्रातिशाख्यों की रचना हुई है। कुछ प्रमुख प्रातिशाख्यों की प्रमुख विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत हैं—

'शक्लयजुः प्रातिशाख्य' के रचयिता कात्यायन मुनि हैं। इसमें आठ अध्याय हैं। पारिभाषिक शब्द, स्वर (उदात्तादि) तथा संस्कार (सन्धि) इन तीन विषयों का इसमें विशद विवेचन है। इसके रचयिता को इसलिए 'स्वर-संस्कार-प्रतिष्ठापयिता' भी कहा जाता है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—में २४ अध्याय हैं, जिनमें वर्णसमाम्नाय, वर्ण-स्थान, ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया, स्वर तथा विसर्ग सन्धियाँ, मूर्धन्य-विधान, णत्वविधान, अनुनासिक तथा उसके भेद, अनुस्वार, स्वरति-भेद तथा संहितास्वरूप आदि विषयों का विवेचन है।

पुष्पसूत्र—सामवेद के इस प्रातिशाख्य में 'स्तोभ' का विशेष विवेचन हुआ है।

ऋक्तन्त्र—सामवेद के इस प्रातिशाख्य के रचयिता 'शाकटायन' हैं। यास्क तथा पाणिनि पर इसका पर्याप्त प्रभाव है।

अथर्व प्रातिशाख्य में विशेषरूप से अथर्ववेद से ही सम्बन्धित विषयों का विवेचन हुआ है, इससे अथर्ववेद के मूलपाठ को भली-भाँति समझा जा सकता है। इसके रचयिता 'शौनक' ऋषि हैं।

प्रातिशाख्य का महत्त्व—संक्षेप में, भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्रातिशाख्यों का महत्त्व इन कारणों से है—

(१) प्रातिशाख्यों में संहितापाठ तथा पदपाठ आदि के द्वारा संहिताओं के मूल उच्चारण को सुरक्षित रक्खा गया है तथा इस प्रयत्न में स्वर, मात्रा आदि के उच्चारण का वैज्ञानिक विवेचन हुआ है।

(२) प्रातिशाख्यों में ही, सर्वप्रथम, संस्कृत की ध्वनियों का पूर्णतया वैज्ञानिक वर्गीकरण हुआ है। यही वर्गीकरण आज तक भी प्रचलित है।

(३) प्रातिशाख्यों ने 'निरुक्त' तथा 'व्याकरण' के लिए एक दृढ़ आधारभूमि बनायी, जिस पर आगे चलकर 'यास्क' तथा 'पाणिनि' आदि ने अपनी रचनाएँ कीं।

इस प्रकार शिक्षा वेदांग तथा उसके अन्तर्गत रचित शिक्षा-ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्य-ग्रन्थों के अध्ययन से प्रकट होता हैं कि भारत में उस प्राचीनकाल में ही ध्वनि तथा पद-सम्बन्धी, बहुत ही वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म, विवेचन हो चुका था। आजकल के साधनसम्पन्न ध्वनिविज्ञानियों के लिये भी यह बहुत ही आश्चर्य का विषय है।

४. निरुक्त (यास्क), काल—पाणिनिपूर्व

'निरुक्त' का शाब्दिक अर्थ है—व्युत्पत्ति या निर्वचन। इसमें शब्दों के अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व पर विचार करते हुए यह निश्चय किया जाता है, कि किसी शब्द का कोई अर्थ क्यों है?

मनुष्य जब किसी विशेष भाव को, किसी विशेष शब्द-द्वारा व्यक्त करता है, तो उसके मूल में कोई न कोई कारण होता है। उस कारण को खोजना ही, उस शब्द की निरुक्ति या निर्वचन कहलाता है तथा इस निरुक्ति से सम्बन्धित शास्त्र को ही 'निरुक्त' कहा जाता है।

'शिक्षा' की भाँति ही 'निरुक्त' भी छः वेदाङ्गों में से एक है। 'निरुक्त' का प्राचीन लक्षण इस प्रकार है—

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥"

उपर्युक्त लक्षण के अनुसार 'निरुक्त', की परिधि में ध्वनि, पद तथा अर्थ-इन तीनों का ही विवेचन आ जाता है। इस प्रकार 'निरुक्त' आधुनिक भाषाविज्ञान का ही प्राचीन रूप है, जिसका आविर्भाव हमारे देश में वैदिक काल में ही हो गया था।

निरुक्त की परम्परा और यास्क

यद्यपि आजकल यास्ककृत एक ही 'निरुक्त' उपलब्ध होता है, तथापि उसकी परिपक्व शैली तथा प्रतिपादित विषय को देखने से ही अनुमान होता है कि यह एक सुदीर्घ परम्परा का ही परिणाम है। यदि संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में प्राप्त निर्वचन की प्रवृत्ति की बात को भी छोड़ दिया जाये, तो भी 'यास्क' से पूर्व अनेक निरुक्तकारों के नाम मिलते हैं—

(१) आग्रायण, (२) औदुम्बरायण, (३) औपमन्यव, (४) और्णनाभ, (५) कात्थक्य, (६) कौत्स, (७) क्रौष्टुकि, ( ) गार्ग्य, (९) गालव, (१०) चर्मशिरा, (११) तैटीकि, (१२) वार्ष्यायणि, (१३) शतवलाक्ष, (१४) शाकटायन, (१५) शाकपूणि, (१६) शाकल्य तथा (१७) स्थौलाष्ठीवि।[1]

'निरुक्त' और 'निघण्टु'—प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से 'यास्क' का 'निरुक्त' वैदिक शब्दों के कोश 'निघण्टु' नामक ग्रन्थ की ही व्याख्या है। समय के व्यवधान से, जब वैदिक भाषा क्लिष्ट हो गयी, तो संहिताओं के कठिन-कठिन शब्दों का संकलन 'निघण्टु' नामक वैदिक कोशों में किया गया था। ऐसा ही एक 'निघण्टु' यास्क के 'निरुक्त' के प्रारम्भ में जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने 'निरुक्त' को ही दो खण्डों-वाला स्वीकार किया है—

इस प्रकार 'निघण्टु' केवल वैदिक शब्दों के कोश का ही नाम है। इसकी तुलना में 'निरुक्त' का विषय पर्याप्त विस्तृत है। इसमें वैदिक शब्दों का विवेचन प्रकृति-प्रत्यय के रूप में हुआ है तथा इस विवेचन का मुख्य उद्देश्य भी शब्द के अर्थ को स्पष्ट करना ही है। व्युत्पत्ति यहाँ अर्थ के लिए की गयी है, क्योंकि बिना व्युत्पत्ति के अर्थ को जानना सम्भव ही नहीं होता है।

उपर्युक्त 'निघण्टु' के भी सभी शब्दों का निर्वचन 'निरुक्त' में नहीं हुआ है। 'निघण्टु' में संकलित कुल १७७१ शब्दों में से, यास्क ने केवल ६६० शब्दों का ही

---

1. निरुक्त-मीमांसा, प० श्री शिवनारायण शास्त्री, पृ० ५।

निर्वचन निरुक्त' में किया है। उन्होंने साधारण शब्दों को छोड़कर कठिन शब्दों तथा देवतावाचक शब्दों को ही अपना विषय बनाया है।

इस प्रकार "प्रारम्भिक काल में निर्वचन या निरुक्त-शास्त्र का विषय केवल वैदिक देवविद्या की सेवा करना था, तो आगे चलकर इसका प्रधान विषय वेदार्थज्ञान में सहायक भाषाशास्त्रीय योगदान हो गया।"[1]

'निरुक्त में प्राप्त निर्वचन-प्रकार—'निरुक्त' में निर्वचन के दो प्रकार हैं—

(१) शब्द-निर्वचन तथा (२) अर्थ-निर्वचन।

(१) शब्द-निर्वचन—यहाँ 'यास्क' ने वर्णसाम्य के आधार पर प्रकृति तथा उसमें होने वाले विकार को स्पष्ट किया है; जैसे—'कीकटा' (म्लेच्छभाषा का एक शब्द) का निर्वचन, यास्क ने, इस प्रकार किया है—किं कृता (की = किम्, कटा = कृता:)। इसी प्रकार 'सहस्' से 'सहस्र', 'द्विदंश' से 'विंशति', 'असु + र' से 'असुर', 'अश्' (धातु) से 'अश्व' 'वि + आ + घ्रा' (धातु) से 'व्याघ्र' आदि-आदि, शब्द-निर्वचन किये गये हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से ऐसे निर्वचनों का महत्त्व बहुत ही अधिक है।

(२) अर्थ-निर्वचन—यहाँ यास्क ने शब्दों के निर्वचन में केवल अर्थसाम्य को ही आधार बनाया है; जैसे—'कीकट' का निर्वचन किया है—'किं क्रियाभिः अर्थात् जो लोग यह कहते थे कि धार्मिक क्रियाओं से क्या लाभ है। इसी प्रकार 'व्याघ्र' का निर्वचन है—'व्यादाय हन्तीति' जो भोजन के लिए मारता है, 'समुद्र' का निर्वचन है—'समभिद्रवन्त्येनमापः', जिसकी ओर जल एक साथ दौड़ते हैं। आदि-आदि।

'निरुक्त' में किये गये निर्वचनों को देखने से ज्ञात होता है कि शब्दों का निर्वचन करते हुए 'यास्क' ने वर्णसाम्य तथा अर्थसाम्य को तो ध्यान में रक्खा ही है, इसके साथ ही साथ उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक वातावरण तथा लोक-मनोविज्ञान को भी बहुत महत्त्व दिया है। उदाहरणार्थ—'गर्तारुक्' का निर्वचन दक्षिण-भारत की एक प्रथा-विशेष से सम्बद्ध है—(निरुक्त, ३/५); 'पुरुष' (पुरुष) के दो निर्वचन दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर हुए हैं—(नि० २/३) तथा 'सिंह' 'व्याघ्र' 'श्वा' तथा 'काक' आदि शब्दों से वाच्यार्थ के साथ ही आलंकारिक प्रयोग को भी स्पष्ट किया गया है—(नि० ३/१८)।

संक्षेप में, निरुक्त में शब्दों का निर्वचन ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि अनेक दृष्टियों से किया गया है, जैसाकि आधुनिक 'भाषाविज्ञान' में भी किया जाता है।

'निरुक्त की उपयोगिता

स्वयं यास्क ने 'निरुक्त' की ६ उपयोगिताएँ बतलाई गई हैं[2]—

(१) निरुक्त में 'निघण्टु' में संकलित, कठिन वैदिक शब्दों की व्याख्या की गई है।

---

१. निरुक्त-मीमांसा, प० श्री शिवनारायण शास्त्री पृ० ५८।

२. निरुक्त १/६।

(२) 'निरुक्त' वैदिक मन्त्रों के पदार्थज्ञान तथा वाक्यार्थज्ञान के लिए उपभोगी है। यास्क के इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि जर्मन विद्वान् रॉथ ने भी, जिस 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' के सहारे ही वेदार्थ करना उचित माना है, उसका प्रारम्भ भी हमें 'निरुक्त' में ही मिलता है।

(३) 'निरुक्त' व्याकरण के लिए आवश्यक भूमिका तैयार करता है, क्योंकि शब्दों के अर्थ को बिना जाने, शब्दों की रचना अर्थात् शब्द-संस्कार आदि कार्य नहीं किया जा सकता है। अतः, निरुक्त के बिना व्याकरण अधूरा ही रहता है।

(४) निरुक्त के बिना पद-विभाग का ज्ञान नहीं हो सकता। पद-विभाग का वास्तविक आधार अर्थ है और पदों का अर्थज्ञान निरुक्त से ही होता है। अतः, बिना निरुक्त के पद-विभाग अवास्तविक है।

(५) यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में भी 'निरुक्त' की उपयोगिता है। निरुक्त से मन्त्र के देवता का ज्ञान ठीक-ठीक हो जाता है, जिससे आहुति ठीक देवता को ही पहुंचती है तथा उससे लाभ होता है।

(६) इसके द्वारा वेदार्थ को जानकर व्यक्ति प्रशंसा का पात्र होता है।

वेदार्थ-ज्ञान से सम्बन्धित उपर्युक्त उपयोगिताओं के साथ ही विशुद्ध आधुनिक भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी निरुक्त की अनेक उपयोगिताएँ हैं।

ध्वनिविज्ञान (Phonetics, Phonology), की दृष्टि से, निरुक्त में वर्णागम (Prothesis, Anaptyxis), वर्णविपर्यय (Metathesis), वर्णविकार (Assimilation, Dissimilation), वर्णनाश (Elision), आदिस्वरलोप (Apheris), मध्यस्वरलोप (Syncope), स्वर्णलोप (Hapology) आदि सिद्धान्तों का परिचय सोदाहरण मिलता है।

साथ ही, रूपविज्ञान (Morphology), वाक्यविज्ञान (Syntax), व्युत्पत्ति विज्ञान (Etymology) तथा अर्थविज्ञान (Semantics) आदि भाषाविज्ञान के अन्य अंगों पर भी इससे प्रकाश पड़ता है।

यदि बहुत ही संक्षेप में कहना चाहें, तो—

(१) निरुक्त व्युत्पत्तिविज्ञान तथा अर्थविज्ञान का मूलस्रोत है।

(२) निरुक्त में पदों का—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात में विभाजन वैज्ञानिक होने के साथ ही साथ प्राचीनतम भी है।

(३) निरुक्त में सभी शब्दों को धातुज स्वीकार किया गया है। यही मान्यता आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की भी है।

(४) निरुक्त में आधुनिक भाषाविज्ञान की भाँति ही लोकभाषा को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। निरुक्तकार 'दम्पति' को लोकप्रचलित 'दम्+पति' के रूप में ही स्वीकार करता है, जबकि वैयाकरण इसे जाया (दम् आदेश)+पति स्वीकार करता है।

५. व्याकरण

'व्याकरण' भी वेदांगों में से एक है। 'ऋग्वेद' में इसे 'वेदरूपी पुरुष का मुख

कहा गया है—'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। 'वि' तथा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से ल्युट् [वि + आ + कृ + ल्युट् (अन)] प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'व्याकरण' शब्द का सामान्य अर्थ है—'शब्दों का विश्लेषण'। 'व्याक्रियन्ते (शब्दाः) अनेन, अस्मिन् वा' अर्थात् जिनके द्वारा या जिसमें शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन होता है। वस्तुतः, व्याकरण भाषा के मानक रूप का निर्धारण करता है। इसके द्वारा भाषा का ज्ञान शीघ्र होता है, तथा भाषा के सम्बन्ध में उत्पन्न सन्देहों का निराकरण होता है। व्याकरण द्वारा अर्थज्ञानपूर्वक शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग करते हुए व्यक्ति प्रशंसा प्राप्त करता है।[1]

प्राचीन व्याकरण तथा आधुनिक 'भाषाविज्ञान' में पर्याप्त समानता है। आधुनिक भाषाविज्ञान में विवेचन के जितने भी विषय हैं, उन सबका विवेचन भारत में, प्राचीनकाल में, व्याकरण-शास्त्र से अन्तर्गत ही हुआ है। पाश्चात्य भाषाविज्ञान भी उससे प्रभावित है।[2]

व्याकरण-शास्त्र की परम्परा

भारत में व्याकरणशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा प्राप्त होती है। 'पाणिनि' से पूर्व 'आपिशलि', 'गार्ग्य', 'काश्यप', 'स्फोटायन', 'औदुम्बरायण', 'गालव', 'शाकटायन', 'शाकल्य' आदि लगभग ५० आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पाणिनि के पश्चात् भी लगभग १५ आचार्य हुए हैं। वस्तुतः, पाणिनि से पूर्व ही हमारे देश में भाषा के अध्ययन की दो धारायें प्रतिष्ठित हो चुकी थी—(१) प्रातिशाख्यपरम्परा, जिसमें भाषा, वाक्य एवं ध्वनि-सम्बन्धी विवेचन प्रमुख रूप से होता था। इस परम्परा के सिद्धान्त सभी भाषाओं पर सामान्यतया लागू हो सकते हैं। (२) व्याकरण-परम्परा—जिसमें वैदिक एवं लौकिक अर्थात् समसामयिक भाषा को, विशेषरूप से, विवेचन का विषय बनाया गया था। यदाकदा भाषा-सम्बन्धी सामान्य नियमों का निर्धारण भी इस परम्परा द्वारा किया जाता था; किन्तु, प्रमुखता इस परम्परा में विशिष्ट भाषा-नियमों की ही होती थी।

मुनित्रय

व्याकरणशास्त्र के प्रणेताओं में वैयाकरण (१) पाणिनि, (२) कात्यायन तथा (३) पतञ्जलि—ये तीनों 'मुनित्रय' के नाम से जाने जाते हैं।

---

१. महाभाष्य, प्रथमाह्निक।

२. "The Chinese and Assyrians did not penetrate so deeply into the understanding and analysis of their own language as did the early Indians, whose grammatical investigations have had a far reaching influence on European Philology."

—Encyclopaedia Britannica, Philology.

तथा "Without the Indian Grammarians and Phoneticians it is too difficult to imagine our nineteenth Century school of Phonetics."

—Phonetics in Ancient India.

पाणिनि

पाणिनि' मुनि संस्कृत-वैयाकरणों में मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। जैसा पहले भी कहा चुका है, पाणिनि से पूर्व के तथा पश्चात् के किसी भी व्याकरण-शास्त्र-रचयिता को वह पद तथा प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई, जो मुनि पाणिनि को हुई है।[1]

'पाणिनि' के आविर्भावकाल के विषय में बड़ा मतभेद है। स्थूलरूप से पाणिनि का काल ई० पू० ८वीं शताब्दी से ई० पू० ४थी शताब्दी तक कहीं बीच में स्वीकार किया जाता है। फिर भी इन्हें ७वीं-८वीं शताब्दी ई० पू० का मानना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अपने वंश-प्रवर्तक 'पाणिनि' के नाम पर ही इन्हें 'पाणिनि' कहा जाता है। इनका मातृ-कुल दक्ष' गोत्र वाला होने के कारण इन्हें 'दाक्षीपुत्र' भी कहा जाता है। यह तक्षशिला के समीप के 'शालातुर' नगर के रहने वाले थे। इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। एक किंवदन्ती के अनुसार इनकी मृत्यु त्रयोदशी तिथि को, एक सिंह द्वारा हुई थी।

भारतीय भाषाविज्ञान ही नहीं, अपितु विश्वजनीन भाषाविज्ञान में भी 'पाणिनि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भारतीय भाषाविज्ञानियों तथा पाश्चात्य भाषाविज्ञानियों ने पाणिनि की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है। पाणिनि के उत्तरकालीन कात्यायन मुनि ने उनके लिए 'भगवान्' तथा पतञ्जलि ने 'आचार्य' विशेषण का व्यवहार किया है। संक्षेप में, भारतीय वैयाकरणों में पाणिनि को ही प्रमाण माना जाता है। उनकी प्रतिभा के सम्मुख उनका पूर्ववर्ती कोई भी वैयाकरण मान्य नहीं हो सका है तथा उनके उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने केवल पाणिनि की व्याख्या को ही महत्त्व दिया है।

'पाणिनि' का व्याकरण-सम्बन्धी प्रसिद्ध एवं उपलब्ध ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' है। इसमें आठ अध्याय होने के कारण ही इसे 'अष्टाध्यायी' कहा जाता है। इसकी रचना सूत्रों में हुई है तथा लगभग ४ हजार (३९९६) सूत्रों में ही वैदिक तथा संस्कृत भाषा सम्बन्धी सब नियम दे दिये गये हैं। इसके प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं, तथा प्रत्येक पाद में सूत्रों की संख्या पृथक्-पृथक् है। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में पाणिनि व्याकरण में काम आने वाली संज्ञाएँ तथा परिभाषाएँ दी गयी हैं। द्वितीय अध्याय में समास तथा कारक नियम हैं। तृतीय अध्याय में धातुओं से होने वाले प्रत्यय और चतुर्थ पंचम अध्याय में प्रातिपादिकों से होने वाले प्रत्यय दिये गये हैं। षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में वैदिक भाषा में प्रयुक्त स्वरों का तथा शब्दों में होने वाले ध्वनि (वर्ण)-विकारों का तथा अन्तिम, अष्टम अध्याय में पदों का विवेचन हुआ है। 'अष्टाध्यायी' के अन्त में 'गणपाठ' तथा 'धातुपाठ' नाम से दो 'परिशिष्ट' भी जोड़े गये हैं।

'अष्टाध्यायी' के अतिरिक्त 'उणादिसूत्र', 'लिंगानुशासन' और एक शिक्षाग्रन्थ,

---

1. "Among the Indian Grammarians Panini ranks first, his work has been called the most complete grammar existing for any language, dead or living. —Encyclopaedia Britannica, Philology.

'पाणिनीय शिक्षा' भी पाणिनि की ही रचनायें मानी जाती हैं।

'पाणिनि' अथवा 'अष्टाध्यायी' की प्रमुख विशेषताएँ

(१) **संक्षिप्तता**—'पाणिनि' ने अत्यधिक संक्षिप्त सूत्रों में अपने व्याकरण को प्रस्तुत किया है। सूत्रों में एक शब्द तो क्या, एक वर्ण भी अनावश्यक प्रतीत नहीं होता है। यही कारण है कि जब 'कात्यायन' मुनि ने अपने 'वार्तिकों' में पाणिनि के सूत्रों पर संशोधन प्रस्तुत किया, तो 'पतञ्जलि' ने उसको स्वीकार नहीं किया। 'पतञ्जलि' के अनुसार पाणिनि के सूत्रों में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है।[1] अतः, संक्षिप्तता पाणिनि की बहुत बड़ी विशेषता है। उनके सूत्रों के आधार पर ही वैयाकरणों के सम्बन्ध में—"अर्द्धमात्रालाघवं पुत्रोत्सवं मन्यते वैयाकरणाः" सूक्ति प्रचलित हो गयी है।[2]

(२) **प्रत्याहारसूत्र** - इनके प्रादुर्भाव से सम्बन्धित कथा के आधार पर इन्हें 'शिवसूत्र' या 'माहेश्वरसूत्र' भी कहा जाता है। कुछ संस्कृत-प्रेमी इनके आधार पर भाषा की उत्पत्ति का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं।

प्रत्याहारसूत्रों की संख्या १४ हैं। इनमें संस्कृत-वर्णमाला को बहुत ही वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम ४ सूत्रों में स्वर (अच्) वर्ण हैं, तथा शेष १० सूत्रों में व्यञ्जन (हल्) रक्खे गये हैं। स्वरों में मूल तथा सन्धि-स्वरों का क्रम है। इसी प्रकार व्यञ्जनों (हलों) में पहले अन्तःस्थ रक्खे गये हैं, क्योंकि ये स्वरों तथा व्यञ्जनों की मध्यस्थ ध्वनियाँ हैं। शेष व्यञ्जनों में भी घोष महाप्राण, अघोष महाप्राण-अल्पप्राण तथा ऊष्मों का क्रम है। संक्षेप में, इनका क्रम बहुत ही वैज्ञानिक है तथा इनसे, आगे के व्याकरण सिद्धान्तों को प्रकट करने के लिए, बहुत ही संक्षिप्त पारिभाषिक शब्द (अच, हल्, अल्, एच्, अश् आदि ४२ प्रत्याहार) बनाये गये हैं। इन्हीं १४ प्रत्याहार-सूत्रों पर पाणिनि-व्याकरण का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा हुआ है।[3]

(३) **समास तथा कारक**—भारतीय भाषाविज्ञान में वाक्यविज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान की ही दूसरी संज्ञा समास तथा कारक है।

समास के छः भेद हैं—(१) अव्ययीभाव, (२) कर्मधारय, (३) तत्पुरुष, (४) द्विगु, (५) द्वन्द्व और (६) बहुव्रीहि। समासयुक्त पदों में, समास की भिन्नता से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है, उदाहरणार्थ—'इन्द्रशत्रुः' शब्द को तत्पुरुष समास (इन्द्रस्य शत्रुः) मानने पर अर्थ होगा 'इन्द्र का शत्रु' अर्थात् इन्द्र को मारने वाला, किन्तु बहुव्रीहि समास (इन्द्रः शत्रुः यस्य सः) मानने पर अर्थ होगा—'इन्द्र है शत्रु

---

१. "प्रमाणभूतआचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं, किं पुनरियता सूत्रेण।"—महाभाष्य।

२. "वैयाकरण आधी मात्रा की बचत को पुत्र-प्राप्ति की प्रसन्नता मानते हैं।"

३. प्रत्याहारसूत्र ये हैं—(१) अइउण्, (२) ऋलृक्, (३) एओङ्, (४) ऐऔच्, (५) हयवरट्, (६) लण्, (७) ञमङणनम्, (८) झभञ्, (९) घढधष्, (१०) जबगडदश्, (११) खफछठथचटतव्, (१२) कपय् (१३) शषसर्, (१४) हल्।

अर्थात् मारने वाला जिसका, वह । अन्य उदाहरणों में 'राजपुत्र', 'राजकवि' आदि शब्द देखे जा सकते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि पाणिनि-व्याकरण में समास-भेद से अर्थ-भेद को स्पष्ट किया गया है ।

इसी प्रकार कारक भी संस्कृत-वाक्य-विज्ञान का आधार हैं । कारकों के अनुसार ही पदों में विभक्तियों का प्रयोग होता है तथा उसी आधार पर वाक्य का अर्थ प्रकट होता है । कारक-भेद से भी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है । 'ब्राह्मणाय वस्त्रं ददाति' – ब्राह्मण को वस्त्र (दान) देता है, (जिसे वापिस नहीं लिया जायगा) तथा 'रजकस्य वस्त्रं ददाति'—धोबी को वस्त्र (धोने के) लिये देता है, (जिसे वापिस ले लिया जायगा) आदि वाक्यों का अर्थ, कारक के आधार पर ही भिन्न-भिन्न हो जाता है।

इस प्रकार पाणिनि-व्याकरण का समास तथा कारक प्रकरण ही आधुनिक भाषाविज्ञान में वाक्यविज्ञान तथा अर्थविज्ञान कहा जाता है ।

(४) शब्द-व्युत्पत्ति—'पाणिनि' ने सभी शब्दों को प्रकृति + प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न माना है ।[1] जिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान स्पष्ट नहीं है, उनके लिए भी उन्होंने 'उणादि सूत्रों' की रचना की है । इन सूत्रों के द्वारा ऐसे सभी शब्दों की व्युत्पत्ति करने का प्रयत्न किया गया हैं, जो व्याकरण के अन्य नियमों से व्युपन्न नहीं होते हैं। उणादि-प्रकरण के अनुसार उपर्युक्त प्रकार के किसी भी शब्द में, पहले उस शब्द के अर्थ के अनुसार धातु (प्रकृति) की कल्पना कर ली जाती है, तथा बाद में, उसमें काल्पनिक प्रत्यय जोड़ दिया जाता है । प्रत्ययों में कार्य (गुण, वृद्धि तथा इनका अभाव आदि) के अनुसार ही अनुबन्ध (क्, ङ्, ट् ण्) आदि कर लिया जाता है ।[२] उदाहरण के लिये 'शङ्कुल' शब्द देखा जा सकता है । यह शब्द व्याकरण के अन्य नियमों से व्युत्पन्न नहीं होता है । अतः, यहाँ अर्थ के अनुसार पहले शङ्क (प्रकृति) तथा बाद में उलच् प्रत्यय (शङ्क + उलच्) की कल्पना करके इसे व्युत्पन्न कर लिया जाता है।

संक्षेप में, पाणिनि ने धातु या (प्रकृति) में उपसर्गों तथा प्रत्ययों को जोड़कर सभी शब्दों की रचना की है । उपसर्ग तथा प्रत्यय के योग से मूल शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है ।

(५) वर्णविकार (सन्धि)—पाणिनि के सन्धि-नियम इतने व्यापक हैं कि उन्हें किसी भी भाषा पर लागू किया जा सकता है । सन्धि-नियमों के अन्तर्गत पाणिनि ने स्पष्ट किया है कि एक ध्वनि के तत्काल बाद दूसरी ध्वनि के उच्चारण के कारण शब्दों में आगम, लोप, विकार आदि अनेक प्रकार के परिवर्तत होते हैं । इन नियमों की तुलना हम, आधुनिक भाषाविज्ञान के ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों से कर सकते हैं ।

(६) पदविभाग—पाणिनि ने यास्ककृत पदविभाग को भी पुनः संशोधित किया है । यास्क ने पदों का विभाजन चार भागों में किया था—(१) नाम, (२) आख्यात

---

१. संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

(३) उपसर्ग और (४) निपात। 'पाणिनि' ने पदों के केवल दो विभाग माने हैं— (१) सुबन्त, जिसमें संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम आदि के साथ ही अव्यय शब्द भी सम्मिलित हैं तथा (२) तिङन्त, जिसमें सभी क्रियावाची पद हैं। बाद के विद्वानों ने पाणिनिकृत पदविभाग को ही सरलतम, युक्तिपूर्ण तथा वैज्ञानिक माना है।

(७) **तुलनात्मक भाषाविज्ञान**—पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में वैदिक तथा संस्कृत दोनों भाषाओं का विश्लेषण किया है। इसके साथ ही विभिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली संस्कृत के विभिन्न प्रयोगों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाणिनि ही सबसे प्रथम-वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव डाली थी। पाश्चात्य विद्वानों ने जो कार्य १९वीं शताब्दी में किया, पाणिनि उस कार्य को ई० पू० ७वीं-८वीं शताब्दी में ही कर चुके थे।

(८) **स्वराघात तथा बलाघात**—अष्टाध्यायी के स्वर-प्रक्रिया प्रकरण में भाषा में, स्वराघात तथा बलाघात के महत्त्व को स्वीकार करते हुए तत्सम्बन्धी अनेक नियमों की स्थापना की गयी है।

इस प्रकार भारतीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में पाणिनि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ तथा आघात आदि सभी विषयों का विवेचन उन्होंने अपने 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ में किया है, और वह भी उस प्राचीन काल में। पाणिनि की इस प्रतिभा से आज के पाश्चात्य भाषाविज्ञानी भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

कात्यायन

'पाणिनि' के उत्तरकालीन वैयाकरणों में दूसरा नाम 'कात्यायन' का है। इन्हें 'वार्तिककार' भी कहा जाता है। सामान्यतया इन्हें पाणिनि का आलोचक माना जाता है। एक परम्परा के अनुसार ये पाणिनि के ही समकालीन थे, किन्तु दूसरी परम्परा के अनुसार ये पाणिनि के लगभग १००–१५० वर्ष पश्चात् हुए थे। यहाँ इन्हें पाणिनि से १५०–२०० वर्ष पश्चात् मानने वाला मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इन्होंने पाणिनि के सूत्रों पर, जिन १५०० वार्तिकों की रचना की है, उन को देखने से प्रतीत होता है कि पाणिनि के पश्चात् तथा कात्यायन के समय तक बीच की अवधि में भाषा में जो ऐसे नये प्रयोग सामने आये कि जिन पर पाणिनि विचार कर ही नहीं सकते थे, तथा वे प्रयोग जिन पर पाणिनि ने विचार तो किया था, किन्तु वे कात्यायन के सयय तक प्रयोग-बाह्य हो गए थे, उन सब प्रयोगों पर कात्यायन ने अपने वार्तिक रचे तथा पाणिनि के ही कार्य को पूर्णता प्रदान की। संक्षेप में, पाणिनि के पश्चात् तथा कात्यायन के समय तक संस्कृत-भाषा में जो भी विकास हुआ था, उस विकास को दृष्टि में रखकर ही कात्यायन ने अपने वार्तिकों की रचना की है।

वार्तिक—'वार्तिक' की परिभाषा 'नागेशभट्ट' ने इस प्रकार की हैं—

"उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं हि वार्तिकत्वम् ॥"

अर्थात् कहे गये (उक्त), न कहे गये (अनुक्त) तथा ठीक प्रकार से न कहे गये (दुरुक्त) का चिन्तन करना ही वार्तिक कहलाता है। "कैयट" के अनुसार भी 'वार्त्तिक' ऐसे वाक्य हैं, जिनमें सूत्रकार पाणिनि के सूत्रों का व्याख्यान किया जाता है। इसी

की पुष्टि 'पदमञ्जरी' के एक श्लोक से होती है।[1]

उपर्युक्त विचारों से ज्ञात होता है कि 'कात्यायन' पाणिनि के ही अनुयायी हैं तथा उनके कार्य को आगे बढ़ाने वाले हैं। उन्होंने अपनी वर्त्तिकों के द्वारा पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ को ही पूर्णता प्रदान की है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार भी—

"कात्यायन का वार्त्तिक-पाठ पाणिनीय-व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा है।[2]

इस प्रकार यह मानना उचित प्रतीत नहीं होता, कि 'कात्यायन' पाणिनि के आलोचक थे तथा उनका उद्देश्य पाणिनि के व्याकरण में दोष निकालना था। वस्तुतः 'कात्यायन' एक निष्पक्ष आलोचक थे तथा उन्होंने पाणिनि के सूत्रों में, अनेक शङ्काओं के साथ ही अनेक स्थलों पर उनका औचित्य भी स्वीकार किया हैं। कहीं-कहीं तो सूत्रों का औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने पाणिनि-सूत्रों में सम्भावित शङ्काएँ उठायी हैं तथा उनका उचित समाधान भी किया। उन्होंने अपने संशोधन के लिए युक्तियाँ भी दी हैं। उन्होंने यदि कुछ सूत्रों को व्यर्थ बतलाया है तो कुछ व्यर्थ प्रतीत होने वाले सूत्रों की उपयोगिता भी सिद्ध की है। इस दृष्टि से प्रोफेसर मैक्समूलर का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि—'कात्यायन पाणिनि के सम्पादक' हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है, कि 'कात्यायन' ने पाणिनि में अनुभव होने वाले दोषों का परिहार कर, उनके सूत्रों में संशोधन प्रस्तुत किया है। वह संशोधन संस्कृत भाषा के विकास की दृष्टि से बहुत ही उचित तथा महत्त्वपूर्ण है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से कात्यायन के इस कार्य का बहुत ही मूल्य है, क्योंकि उन्होंने भाषा का मूलाधार जनसमाज या लोक को ही स्वीकार किया है तथा उसी के आधार पर अपने संशोधन प्रस्तुत किये हैं।

पतञ्जलि

पतञ्जलि 'महाभाष्यकार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका समय वार्त्तिककार कात्यायन के २०० वर्ष पश्चात् का माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सम्राट् पुष्पमित्र (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के समकालीन थे।

सामान्य दृष्टि से तो 'पतञ्जलि' ने पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ पर ही 'महाभाष्य' लिखा है, किन्तु प्रमुख रूप से इनकी दृष्टि वार्त्तिककार कात्यायन पर ही रही है। 'महाभाष्य' का तीन चौथाई भाग 'वार्त्तिक-पाठ' पर तथा एक चौथाई भाग मूल 'अष्टाध्यायी' पर आधारित है। सूत्रों की संख्या की दृष्टि से, महाभाष्य में १२२८ सूत्र कात्यायनरचित वार्त्तिक वाले २६ सूत्र अन्य आचार्यों के वार्त्तिक वाले तथा केवल ४३५ सूत्र, अष्टाध्यायी से (बिना किसी वार्त्तिक के) लिये गये हैं। इस

१. "यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येवं तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥"
२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ २१५।
३. 'लोकतः'—देखिए, महाभाष्य १, १, १, प्रथम वार्त्तिक।

प्रकार आनुपातिक दृष्टि से भी 'महाभाष्य' की रचना का आधार 'कात्यायन' का 'वार्त्तिकपाठ' ही सिद्ध होता है। पण्डित 'युधिष्ठिर मीमांसक' ने भी इसी बात की पुष्टि की है—

"पतञ्जलि ने कात्यायनीय वार्त्तिकों के आधार पर अपना 'महाभाष्य' रचा है।"[1]

किन्तु प्रोफेसर मैक्समूलर 'वार्त्तिकपाठ' के साथ ही पाणिनि-सूत्रों को भी महाभाष्य का आधार मानते हैं—

"The great commentary of Patanjali embraces both the Varttikas of Katyayana and the sutras of Panini."[2]

'पतञ्जलि' के समय संस्कृत-भाषा का विकास तीव्रगति से हो रहा था तथा उसका परिमार्जन करना बहुत आवश्यक था। पतञ्जलि ने इस उत्तरदायित्व का पालन बहुत ही गम्भीरतापूर्वक किया है। उन्होंने अनुभव किया कि जनसामान्य संस्कृत की ओर से उदासीन है तथा प्राकृत भाषाओं का विकास तीव्रगति से हो रहा है। उस समय ब्राह्मण-समाज जैसा शिष्ट समाज भी व्याकरण के अध्ययन से विमुख होकर[3] प्राकृत भाषा के विकास में ही अधिक योगदान कर रहा था। इन परिस्थितियों में बोलचाल की भाषा के साथ ही साथ साहित्य में भी प्राकृत स्वीकृत हो चुकी थी।

इस प्रकार 'यास्क' तथा 'पाणिनि' के समय से चला आता हुआ विभिन्न प्रदेशों का भाषा-भेद पतञ्जलि के समय तक कुछ अधिक बढ़ गया था। 'पतञ्जलि' के अनुसार विभिन्न प्रदेशों में एक ही अर्थ में अनेक शब्द प्रयुक्त हो रहे थे; जैसे 'जाना' क्रिया के लिए 'सुराष्ट्र' प्रदेश में 'हम्म' धातु का, प्राच्य-मध्य प्रदेश में 'रह्' तथा आर्य प्रदेशों में 'गम्, धातु का व्यवहार हो रहा था। 'कुछ पुरातन शब्दों का स्थान नवीन शब्दों ने ले लिया था; जैसे, 'ऊष' के स्थान पर 'ऊतिष', 'तेर' के स्थान पर 'तीर्ण', 'चक्र' के स्थान पर 'कृतवत्' तथा 'पेच' के स्थान पर 'पक्कवत्' शब्द, उन्हीं अर्थों में व्यवहृत हो रहे थे। इसके अतिरिक्त एक ही संस्कृत शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप भाषा में प्रयुक्त हो रहे थे; जैसे 'गो', इस एक संस्कृत शब्द के लिये 'गावी', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिका' आदि अनेक अपभ्रांश रूप प्रचलित थे।[5] एक स्थान पर 'गावी' शब्द प्रयुक्त होता था, तो दूसरे स्थान पर 'गोणी' शब्द आदि-आदि।

---

१. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३१५।

2. Ancient Sanskrit Literature, page 243 & 353.

४. "वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणम्।

४. हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते।"

—महाभाष्य, प्रथमाह्निक।

५. "एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गो इत्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशा।" —महाभाष्य, प्रथमाह्निक।

उपर्युक्त भाषा-विकास के साथ ही साथ साहित्य में 'रामायण' 'महाभारत' आदि रचनाओं के कारण संस्कृत भापा का शब्दकोश भी पर्याप्त वढ़ गया था। अतः, तत्कालीन भाषा में अनेक शब्द ऐसे थे, जिनका समाधान 'अष्टाध्यायी' से नहीं हो रहा था।

इन परिस्थितियों में भाषा-परिमार्जन का महत्त्वपूर्ण कार्य वैयाकरण पतञ्जलि नें किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम, 'शिक्षा', 'निरुक्त', 'व्याकरण' और 'दर्शन' के युक्ति क्रम को एकत्र किया और एक ही 'विज्ञान' को रूप दिया। उनकी दृष्टि से इसे हम 'शब्दानुशासन' नाम दे सकते हैं। आज की दृष्टि में यही 'भाषातत्त्व' और 'भाषा-विज्ञान है।"[1]

संक्षेप में, पतञ्जलि का सर्वाधिक महत्त्व इस कारण है कि उन्होंने अपने समय की प्रचलित जनभाषा का विस्तृत सर्वेक्षण किया तथा पूर्ववर्ती भाषा-विवेचकों —शिक्षाकारों, निदक्तकारों, वैयाकरणों आदि के भाषातत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्तों का लाभ उठाते हुए 'महाभाष्य' के रूप में एक ऐसे स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की, जो आगे चलकर 'भाषा का दर्शन' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि 'महाभाष्य' कोई मौलिक ग्रन्थ न होकर, एक 'भाष्य' मात्र है, तो भी संस्कृत-व्याकरण के 'मुनित्रय' में 'पतञ्जलि' को सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है तथा इस सम्वन्ध में 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार 'पाणिनि', 'कात्यायन' तथा 'पतञ्जलि' संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इस मुनित्रय ने भाषा-सम्बन्धी विवेचन को उस परिपक्वावस्था तक पहुँचा दिया कि जिसके महत्त्व को भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वान् मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं—

"The chinese and Assyrians did not penetrate so deeply into the understanding and analysis of their own language as did the early Indians whose grammatical investigations have had a farreaching influence on European Philology. We fiind in India pains taking investigations into phonetics with a minute description of each sound and its formation, further precise accounts of the changes of sounds and its inflection and formation of words. Each word was analysed into its elements : root, affixes to form stems and infectional endings and statistics were given of the occurrence of each of these elements."

—Encyclopaedia Britannica, Philology.

काशिका

मुनित्रय के उपरान्त, महत्त्व की दृष्टि से, 'काशिका' का प्रमुख स्थान है। यह पाणिनिरचित 'अष्टाध्यायी' की प्रसिद्ध टीका है, जिसके लेखकद्वय 'जयादित्य' तथा

१. डॉ० सत्यकाम वर्मा, भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, १९६४, पृ० ५।

'वामन' हैं। 'काशिका' शब्द का अर्थ है—'प्रकाशिका' अर्थात् इसमें 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों को, वृत्ति तथा उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस दृष्टि से 'काशिका' बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

'काशिका' में 'गणपाठ' को भी सम्मिलित किया गया है, जिससे 'अष्टाध्यायी' के साथ-साथ गणपाठ' भी उपलब्ध हो जाता है। 'अष्टाध्यायी' तथा 'गणपाठ' परस्पर बहुत ही सम्बन्धित हैं।

इसके अतिरिक्त 'काशिका' का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। कारण, इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'काशिका' की रचना से पूर्व 'अष्टाध्यायी' पर अन्य भी अनेक वृत्तियाँ थीं, जिनसे 'काशिकाकारों' ने सहायता ली है। महाभाष्यकार की अपेक्षा भी इन प्राचीन वृत्तियों के प्रति 'काशिकाकारों' का अधिक पक्षपात है। यहाँ तक कि प्रायः उदाहरण भी प्राचीन वृत्तियों से ही लिये गये हैं।

'अष्टाध्यायी' तथा 'सिद्धान्तकौमुदी' के बीच के काल में 'काशिका' बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ था। यही कारण है कि स्वयं 'काशिका' को स्पष्ट करने के लिए भी एक के बाद दूसरी टीकाएँ लिखी गयीं। 'काशिका' पर जिनेन्द्रबुद्धि ने 'काशिका-विवरण-पञ्जिका' या 'न्यास' नाम की टीका लिखी। इसी प्रकार 'हरदत्त' ने भी 'पदमञ्जरी' नाम की टीका लिखी है। पुनः 'न्यास' की व्याख्या मैत्रेयरक्षित ने 'तन्त्र-प्रदीप' में की। इस 'तन्त्र-प्रदीप' पर भी नन्दनमिश्र ने 'उद्योतन' तथा किन्हीं अन्य दो विद्वानों ने 'प्रभा' और 'आलोक' नाम की दो टीकाएँ लिखी हैं।

इस प्रकार 'अष्टाध्यायी' तथा उसकी टीका, और उस टीका की टीका या वृत्ति के क्रम से 'काशिका' का अध्ययन-अध्यापन बहुत दिनों तक चलता रहा; किन्तु बाद में 'सिद्धान्तकौमुदी' के अधिक प्रचलित हो जाने से 'काशिका' का अध्ययन लगभग समाप्त-सा ही हो गया।

भाषा का वर्णनात्मक पक्ष : कौमुदीग्रन्थ—कौमुदी-ग्रन्थों में संस्कृत भाषा का वर्णनात्मक पक्ष प्रस्तुत हुआ है। इन ग्रन्थों का आधार यद्यपि पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' ही है, तथापि इनमें सूत्रों का क्रम वही नहीं है, जो कि 'अष्टाध्यायी' में है। इन ग्रन्थों में सूत्रों को, प्रकरण के अनुसार रक्खा गया है तथा प्रकरणों के शीर्षक (१) संज्ञा, (२) सन्धि, (३) सुबन्त, (४) स्त्रीप्रत्यय, (५) कारक, (६) समास, (७) तद्धित, (८) तिङन्त तथा (९) कृदन्त आदि रक्खे गये हैं।

कौमुदी-ग्रन्थों में—'सिद्धान्तकौमुदी', 'मध्यकौमुदी', 'लघुकौमुदी', 'प्रक्रियाकौमुदी' तथा 'रूपमाला' आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से 'सिद्धान्तकौमुदी' का महत्त्व तथा प्रचलन सर्वोपरि रहा है। इसके रचयिता 'भट्टोजिदीक्षित' हैं, जिन्होंने प्रकरणानुसार सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं लिखी है। वरदराजकृत 'लघुकौमुदी' तथा मध्य कौमुदी' में सूत्रों की संख्या कम है, जिससे पाठक 'लघुकौमुदी' 'मध्यकौमुदी' तथा 'सिद्धान्तकौमुदी' के क्रम से व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर सकें। विमलसरस्वतीकृत 'रूपमाला' भी विषय की दृष्टि से कौमुदी-ग्रन्थों के ही समान है।

भाषा का दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष : 'वाक्यपदीय' आदि ग्रन्थ—

भाषा के दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करने वालों में 'भर्तृहरि 'नागेशभट्ट' तथा 'कौंडभट्ट' आदि प्रमुख हैं। भारतीय भाषाविज्ञान में इन तीनों विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योग है।

६. 'भर्तृहरि' और उनका 'वाक्यपदीय'

'भर्तृहरि' के जन्मस्थान तथा काल आदि के विषय में हमारा ज्ञान निश्चित नहीं है। अनुमानतः, ये सातवीं शताब्दी में हुए थे। 'वाक्यपदीय' के अतिरिक्त 'त्रिपदी-भाष्य' तथा 'नीति-शतक' भी इनकी ही रचनायें हैं।[1] इनमें से 'त्रिपदी-भाष्य' पतञ्जलि के 'महाभाष्य' पर लिखी गयी टीका है और इसका विषय व्याकरणदर्शन है। 'वाक्यपदीय' का प्रमुख-विषय भी भाषातत्त्व अथवा भाषादर्शन है।

'भर्तृहरि' का 'वाक्यपदीय' संस्कृत में लिखी गयी भाषातत्त्व की वह अपूर्वतम कृति है, जिसे पढ़े विना आज की वहुत-सी भाषा-वैज्ञानिक समस्याएँ असमाहित रहेंगी तथा जिसे पढ़कर हम वहुत-सी नई समस्याओं से जानकारी पा सकेंगे।[2]

'वाक्यपदीय' श्लोकों में लिखा गया एक ग्रन्थ है, जिसमें तीन काण्ड हैं—(१) आगमकाण्ड या ब्रह्मकाण्ड, (२) वाक्यकाण्ड तथा (३) पदकाण्ड या प्रकीर्णक। दूसरे काण्ड, वाक्यकाण्ड के नाम पर ही इस ग्रन्थ का नाम 'वाक्यपदीय' रक्खा गया है। वस्तुतः, इस ग्रन्थ का प्रधान विवेच्य विषय भी वाक्य ही है। 'भर्तृहरि' के कुछ प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं।

(१) भाषा—'भर्तृहरि' भाषा को 'दो वुद्धियों के मध्य आदान-प्रदान का माध्यम स्वीकार करते हैं।[3] लगभग यही मान्यता आधुनिक भाषावैज्ञानिकों—'गार्डिनर'[4] और 'जेस्पर्सन'[5] आदि की भी है। 'भर्तृहरि' के अनुसार, भाषा बुद्धि की एक ऐसी सक्रिय अवस्था है, जिसमें श्रोता की वुद्धि वक्ता की वुद्धि के अर्थ को ग्रहण करती है। इसी में भाषा की सार्थकता है।

(२) वक्ता तथा श्रोता की समान प्रक्रिया—भर्तृहरि मानते हैं कि वक्ता में इच्छा, मनोभाव, प्रयत्न तथा उच्चारण के समान ही श्रोता में भी क्रमशः नाद, स्फोट,

---

१. डॉ० सत्यकाम वर्मा, भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, १९६४, लेखक का वक्तव्य, पृ० २३।

२. डॉ० सत्यकाम वर्मा, भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, १९६४, लेखक का वक्तव्य, पृ० १२।

३. वाक्यपदीय ३/३२–३३।

4. "The act of speech is a social act, seeing that it necessarily involves two persons."—Speech & Language.

5. "The essence of language is human activity."

—Philosophy of Grammar

ध्वनि तथा स्वरूप नाम के चार चरण रहते हैं। प्रथम चरण में श्रोता ध्वनि को ग्रहण करता है, दूसरे में स्फोट या प्रथम अर्थ-व्यक्ति को तथा तीसरे में विशिष्ट-अर्थव्यक्ति को ग्रहण करता है। चौथे चरण में उसे अर्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। 'भर्तृहरि' की यह मान्यता भी आधुनिक भाषाविद 'गार्डिनर' से समानता रखती है।

(३) **शब्दब्रह्म**—'भर्तृहरि' ने शब्द तत्त्व की कल्पना ब्रह्म के रूप में की है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इसे, उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—'वाक् के बिना भावनाओं के प्रकाशन का कोई अन्य माध्यम नहीं है। विश्व को परस्पर मिलाने वाली यह माध्यमभूता वाक् है।"[1]

(४) **वर्णभाग तथा वर्णान्तरसरूप**—ध्वनि के क्षेत्र में 'भर्तृहरि' ने वर्णभाग तथा वर्णान्तरसरूप नाम की, वर्णों की दो स्थितियाँ स्वीकार की हैं। इन्हीं को आधुनिक ध्वनिविज्ञानी 'अनवशिष्ट ध्वनि', 'अस्पष्टोच्चरित ध्वनि' या 'अश्रुत ध्वनि' आदि कहते हैं। वर्णभाग का उदाहरण 'आत्मा' शब्द से विकसित 'आप' शब्द में 'प्' ध्वनि के रूप में देखा जा सकता है। पहले 'त्' तथा 'म्' के मध्य 'प्' ध्वनि इतनी निर्बल या अविकसित थी कि उसका कोई अस्तित्व ही नहीं प्रतीत होता था; किन्तु, बाद में यह इतनी सबल या विकसित हो गयी कि 'त्' तथा 'म्' दोनों ध्वनियों का स्थान भी इसी ने ले लिया। ऐसी अविकसित ध्वनि वर्ण न कहलाकर वर्णभाग ही कहलाती है। 'भर्तृहरि' ने वैज्ञानिक दृष्टि से वर्णभाग को 'वर्णान्तरसरूप' कहा है।[2]

संक्षेप में, 'भर्तृहरि' ने व्यक्त किया है कि "ध्वनियाँ एक दूसरे से मिलकर ही नहीं रहती, बल्कि बहुत-सी ध्वनियों में बहुत से समान अंश भी होते हैं। × × 'भर्तृहरि' ने वर्णों में वर्णभागों की उपस्थिति को पूरी तरह स्वीकार करके, उनमें दूसरे वर्णों से मिलती-जुलती स्थिति—वर्णान्तरसरूपता—की कल्पना की है। आज की वैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर यह कल्पना सर्वथा सिद्ध हो चुकी है। अमरीकी भाषाविद् डॉ० जोसुहा 'व्हाट्माउ' ने इन्हीं परिणामों को संकेतित किया है।"[3]

(५) **भाषा की इकाई वाक्य है**—'वाक्यपदीय' के द्वितीय काण्ड का प्रतिपाद्य विषय यही है। 'भर्तृहरि' के अनुसार भाषा की इकाई वाक्य है, पद नहीं। इस काण्ड के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे न केवल 'वाक्य को भाषा की इकाई मानते हैं, अपितु 'पद' अथवा 'पदार्थ' की, किसी भी प्रकार की स्वतन्त्र सत्ता को भी वे स्वीकार नहीं करते हैं—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कदाचन ॥[4]

---

१. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, डॉ० सत्यकाम वर्मा, पृ० २०–२१।
२. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, लेखक का वक्तव्य, पृ० १७।
३. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, लेखक का वक्तव्य, पृ० १७।
४. दे० वाक्यपदीय १/१४६; १२०; १२१; १२३ आदि।

वाक्य के स्वरूप पर विचार करते हुए 'भर्तृहरि' कहते हैं—"यह सर्वथा निराकांक्ष और स्वतः पूर्ण होता है; फिर भले ही यह एक वर्ण के रूप में क्यों न हो। वाक्य का उद्देश्य स्वयं वाक् के उद्देश्य से अभिन्न है। एक बुद्धि की भावना को दूसरी बुद्धि का विषय बना देना—यह भावना यदि एक वर्ण से पूरी हो जाए, तो फिर शब्दों की सार्थकता या निरर्थकता, अथवा पद-भेद आदि की बात पर विचार करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।"[1]

(६) **शब्द का मुख्य तथा गौण अर्थ**—'भर्तृहरि' मानते हैं कि शब्दों के सभी अर्थों के विषय में लोक-प्रसिद्धि ही प्रमुख कारण है।[2] अप्रसिद्ध होने से ही कोई अर्थ गौण हो जाता है तथा प्रसिद्ध होने से ही मुख्य। वस्तुतः, अर्थ की नियामक शक्ति लोक-प्रसिद्धि ही है। और, अन्ततः तो 'भर्तृहरि' मुख्य तथा गौण अर्थ को भी काल्पनिक ही मानते हैं।

(७) **शब्द-शक्ति**—'भर्तृहरि' के अनुसार शब्दशक्ति केवल एक ही है-अभिधा; तथा अर्थ का शब्द से केवल एक ही सम्बन्ध है—वाच्य-वाचक-सम्बन्ध।[3]

(८) **लोकभाषा का महत्त्व**—'भर्तृहरि' ने आधुनिक भाषाविज्ञानियों की भाँति ही लोकभाषा को अत्यधिक महत्त्व दिया है।[4] वे व्याकरण को केवल 'साधु-शब्दों का निर्णायक' या भाषा-विकास का नियामक न मानकर लोक-परम्परा में प्रयुक्त भाषा का व्याख्याता मानते हैं। डॉ० सत्यकाम वर्मा के शब्दों में "भर्तृहरि, अपने पूर्वाचार्यों की भाँति, लोकभाषा के सबसे बड़े हामी थे।"[5]

निष्कर्ष रूप में, 'भर्तृहरि' का 'वाक्यपदीय' भाषा का एक सर्वांगीण अध्ययन है। उसके सिद्धान्त सभी भाषाओं पर समान रूप से लागू होते हैं। अतः, भारतीय भाषाविज्ञान में 'भर्तृहरि' का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका कार्य इतना प्राचीन होते हुए भी अनेक दृष्टियों से आधुनिक भाषाविज्ञानियों के कार्य से मिलता-जुलता है।

'नागेशभट्ट' तथा 'कौण्डभट्ट'—भाषा के दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष पर कार्य करने वालों में 'भर्तृहरि' के अतिरिक्त 'नागेशभट्ट' तथा 'कौण्डभट्ट' हैं। 'नागेशभट्ट' का भाषाविषयक चिन्तन भी मौलिक है। उनकी कई रचनाएँ हैं—कैयट के 'महाभाष्यप्रदीप' पर उन्होंने 'उद्योत' नाम की टीका लिखी है। 'शब्देन्दुशेखर', 'परिभाषेन्दुशेखर', 'वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा' तथा 'स्फोटवाद' आदि उनकी अन्य रचनाएँ हैं। 'वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा' भाषा-सम्बन्धी विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण

---

१. डॉ० सत्यकाम वर्मा, भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, लेखक का वक्तव्य, पृ० १८।
२. वाक्यपदीय २, २६५।
३. वाक्यपदीय २, ४०८।
४. वाक्यपदीय २, २१२।
५. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, लेखक का वक्तव्य, पृ० १९।

ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ परम्परा में 'कौण्डभट्ट' ने 'वैयाकरण-भूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें भी भाषा-विषयक चिन्तन उत्कृष्ट कोटि का है।

कुछ अन्य व्याकरण-ग्रन्थ—उपर्युक्त, पाणिनि-परम्परा के व्याकरण-ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्याकरण-सम्प्रदाय तथा उनके ग्रन्थ भी कम-अधिक प्रचलित रहे हैं। इनमें से तीन कुछ अधिक प्रसिद्ध हैं—(१) 'कातन्त्र व्याकरण' (लेखक अज्ञात), (२) बोपदेव का 'मुग्धबोध व्याकरण' तथा (३) अनुभूतिस्वरूपाचार्य का 'सारस्वत व्याकरण'। यद्यपि इन तीनों ही ग्रन्थों में प्रमुखरूप से सरलता को दृष्टि में रक्खा गया था, फिर भी व्याकरण-ज्ञान की दृष्टि से इन्हें अपर्याप्त ही समझा जाता है।

७. प्राकृत व्याकरण—मध्यकाल में जब प्राकृत भाषाओं को साहित्य में स्थान मिला, तो उनके व्याकरण भी लिखे गये। प्राकृत-व्याकरणों में (१) वररुचिकृत 'प्राकृत प्रकाश' जिसमें महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी तथा शौरसेनी प्राकृतों पर विचार हुआ है, (२) हेमचन्द्रकृत 'शब्दानुशासन', जिसमें संस्कृत तथा अपभ्रंश पर विचार हुआ है, तथा (३) मार्कण्डेय का 'प्राकृत-सर्वस्व', जिसमें भाषा, विभाषा तथा अपभ्रंश पर विचार हुआ है, अधिक प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त सभी प्राकृत-व्याकरणों में केवल साहित्यिक प्राकृतों का ही विवेचन हुआ है। इनमें प्राकृतों का अध्ययन, बोलचाल की भाषा के रूप में नहीं हुआ है। अतः इनका भाषावैज्ञानिक महत्त्व नगण्य ही है। हाँ, भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इन प्राकृतों के स्वरूप का ज्ञान हमें इन्हीं ग्रन्थों से हुआ है।

पालि-व्याकरण—'पालि' के व्याकरणकारों में (१) कच्चायन, (२) मोग्गलान तथा (३) अग्गवंश—ये तीन वैयाकरण तथा इनके ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए अन्य ग्रन्थ तथा टीकाएँ सम्मिलित है, जिनका अधिक परिचय यहाँ अनावश्यक है।

उपर्युक्त व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त भारतीय 'काव्यशास्त्र' तथा 'दर्शन-शास्त्र' में भी भाषा, विशेषतः शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध आदि विषयों पर गम्भीर विवेचन मिलता है।

इस प्रकार, भारतवर्ष में भाषाविषयक चिन्तन का श्रीगणेश वैदिककाल में ही हो गया था। 'शिक्षा,' 'प्रातिशाख्य', 'निरुक्त', 'अष्टाध्यायी', 'महाभाष्य', 'वाक्यपदीय' तथा 'मञ्जूषा' आदि उसी चिन्तनश्रृङ्खला की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। अन्य व्याकरण-ग्रन्थों में भी उसी परम्परा के पालन का प्रयास किया गया है। ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ तथा लोकभाषा एवं साहित्यिक भाषा आदि सभी विषयों पर यहाँ पर्याप्त विचारसामग्री उपलब्ध होती है। यहाँ तक की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी भारत में बहुत प्राचीन समय से ही होने लगा था।

आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान

आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान से यहाँ तात्पर्य है, भारत की आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध में किया गया कार्य। अन्य ज्ञान-विज्ञानों की भाँति ही इस क्षेत्र में भी आधुनिक भारतीय विचारधारा पर यूरोपीय प्रभाव है। प्राचीन काल के भाषा

सम्बन्धी विवेचन-जैसा मौलिक चिन्तन इसमें नहीं है। आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान यूरोपीय परम्परा का अनुगामी है। आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान की दो विशेषताएँ प्रमुख हैं—

(१) यह मात्रा में, प्राचीन भारतीय भाषा सम्बन्धी विवेचन की अपेक्षा पर्याप्त अधिक है।

(२) भारत की प्रायः सभी साहित्यिक भाषाओं में यह कार्य हुआ है।

आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान सम्बन्धी कार्य का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

१. विशप कॉडवेल—(Rt. Rev, Robert Caldwell)—इन्होंने द्रविड़ भाषाओं का विस्तृत एवं गहन अध्ययन किया था। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'A Comparative Grammar of the Dravidian or South Indian Family of Languages." अर्थात् 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' है। सन् १८५६ ई० में, 'मद्रास विश्वविद्यालय' द्वारा यह प्रकाशित किया गया था; इससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

२. जॉन बीम्स—(John Beames)—इन्होंने हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, उड़िया तथा वंगला आदि आधुनिक भाषाओं के व्याकरणों का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। "Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages of India" अर्थात् "आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण" इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के ३ भाग हैं—'ध्वनि', संज्ञा तथा सर्वनाम' और 'क्रिया'। इन तीनों भागों का प्रकाशन क्रमशः संन् १८७२ सन् १८७५ तथा सन् १८७९ में हुआ था। इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताएं हैं—इसकी 'भूमिका' तथा इसमें दिये गये उदाहरण। उपर्युक्त भारतीय आर्य भाषाओं के व्याकरणों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री इस ग्रन्थ में एकत्रित मिलती है।

"Outlines of Indian Philology"—उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें भारतीय भाषाविज्ञान की मोटी रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है।

३. डॉ० ट्रम्प—(Dr. Ernst Trump)—इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, सिन्धी और पश्तो आदि भाषाओं का विस्तृत अध्ययन किया था। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है—"Grammar of the Sindhi Language Compared with the Sanskrit, Prakrit and the Cognate Indian Vernaculars" अर्थात् "संस्कृत, प्राकृत, तथा सम्बद्ध भारतीय भाषाओं से सिन्धी भाषा के व्याकरण की तुलना", इसका प्रकाशन सन् १८७२ ई० में हुआ, तथा इसके एक वर्ष पश्चात् सन् १८७३ ई० में इन्होंने दूसरे ग्रन्थ 'Pashto Grammar" (पश्तो व्याकरण) का प्रकाशन कराया।

७. पादरी कैलॉग—(Rev. S. H. Kellogg)—इन्होंने "Grammar of the Hindi Language." अर्थात् "हिन्दी भाषा का व्याकरण" नामक ग्रन्थ सन् १८७६ ई० में लिखा। इस ग्रन्थ में साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी का व्याकरण प्रमुख रूप से प्रस्तुत किया गया है। किन्तु उसके साथ तुलना करते हुए व्रजभाषा,

अवधी भाषा, राजस्थानी, विहारी आदि भाषाओं से सम्बन्धित सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुई है। प्रत्येक अध्याय के अन्तिम भाग में व्याकरण के प्रमुख रूपों का संक्षिप्त इतिहास इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता है।

५. डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर—ये संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् होने के साथ ही साथ आधुनिक यूरोपीय भाषाविज्ञान पद्धति से भी भली-भाँति परिचित थे। परिणामस्वरूप, इन्होंने प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं पर आधुनिक दृष्टि से विचार किया है। सन् १८७७ ई० में इन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय में 'विल्सन फिलोलोजीकल लेक्चर्स' व्याख्यानमाला के अन्तर्गत भारतीय आर्यभाषाओं पर ७ व्याख्यान दिये थे, जो १९१४ ई० में ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुए। यद्यपि ये सातों व्याख्यान प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं पर ही है, किन्तु आधुनिक आर्यभाषाओं से सम्बन्धित सामग्री भी इनमें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। मूलरूप से ये व्याख्यान अंग्रेजी में है, किन्तु इनका हिन्दी में अनुवाद हो चुका है।

आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में, डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर सर्वप्रथम भाषाविज्ञानी माने जाते है।

६. डॉ० हार्नले—(Dr. A. Rudolf Hoernle)—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "Grammar of the Eastern Hindi, Compared with the other Gaudian Languages" या "पूर्वी हिन्दी तथा अन्य गौड़ीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण" सन् १८८० ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका विपय इसके नाम से स्पष्ट है। इन्होंने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में विहारी तथा अवधी को ही पूर्वी हिन्दी कहा है। इनके ग्रन्थ की अन्य विशेषतायें हैं–(१) भोजपुरी पर विस्तृत विचार तथा (२) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक सामग्री।

७. ग्रियर्सन (Sir George Abraham Grierson)– भारतीय भाषाओं पर काम करने वाले प्रमुख यूरोपीय विद्वानों में 'ग्रियर्सन' का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनका प्रमुख कार्य प्रशासनिक था, क्योंकि एक आई० सी० एस० ऑफिसर के रूप में ही ये विहार में नियुक्त हुए थे। किन्तु, प्रशासन का कार्य करते हुए भी इन्होंने भारतीय भाषाओं के अध्ययन में विशेष रुचि ली। यद्यपि इनका सर्वप्रथम ग्रन्थ "Seven Grammar of Behari language" (विहारी भाषा के सात व्याकरण था, जो १८८३ से लेकर १८८७ ई० तक प्रकाश में आया था, किन्तु इनके "Linguistic survey of India" (भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण) ग्रन्थ के कारण ही इन्हें सर्वाधिक यश प्राप्त हुआ है। इसकी रचना में इन्हें ३३ वर्ष (सन् १८९४–१९२७ तक) लगे थे। इस ग्रन्थ के ११ भाग हैं। जिनमें एक-एक में भी ३–३ या ४–४ खण्ड हैं। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय उत्तरी भारत की सभी आधुनिक भाषाओं, उपभाषाओं तथा बोलियों का सोदाहरण-विवेचन है। उसका संक्षिप्त व्याकरण भी दिया गया है। इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण भूमिका में 'भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास भी दिया गया है, जो बहुत ही प्रामाणिक माना जाता है। इस वृहद् ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है, जो डॉ० उदयनारायण तिवारी द्वारा किया गया है।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अतिरिक्त, इन्होंने पैशाची भाषा तथा कश्मीरी भाषा पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे हैं। इनका एक अन्य ग्रन्थ 'कश्मीरी-कोश' भी सन् १९२४ में प्रकाशित हुआ था।

इस प्रकार डॉ० ग्रियर्सन ने आधुनिक भाषाओं पर काम करने वाले विद्वानों का मार्ग प्रशस्त किया है।

८. टर्नर (Sir Ralph L. Turner)—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "Nepali Dictionary" (नेपाली-कोश) है, जिसका प्रकाशन सन् १९३१ ई० में हुआ था। इस ग्रन्थ में पहली बार आर्य-भाषाओं के शब्द-समूह का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत हुआ। प्रत्येक भाषा में उपलब्ध शब्दों की सूचियाँ इस ग्रन्थ की द्वितीय विशेषता है। इसे विद्वानों ने भारतीय आर्यभाषाओं से सम्वन्धित सर्वप्रथम नैरुक्तिक कोश कहा है। कुल मिलाकर इसमें २१२ भाषाओं को आधार वनाया गया है।

'टर्नर का दूसरा ग्रन्थ है—"Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages" (भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्युत्पत्ति-कोश)। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १९६२ ई० में हुआ है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'टर्नर' महोदय के उपर्युक्त दोनों ही ग्रन्थ वहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त 'टर्नर' महोदय ने गुजराती-ध्वनि-समूह, मराठी स्वराघात तथा सिन्धी भाषा पर भी कार्य किया है। कोश-रचना में इनकी विशेष रुचि है।

ज्यूल ब्लॉख (Jule Block)—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "La Formation de La Laugue Marathe" (मराठी भाषा की रचना) सन् १९१९ ई० में प्रकाशित हुआ था। किसी एक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा पर कार्य करने वालों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए ब्लॉख महोदय का उपर्युक्त ग्रन्थ वहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके दो अन्य ग्रन्थ भी बहुत उपयोगी हैं—(१) "L" Indo Aryan" (भारतीय आर्यभाषा), जो सन् १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ, तथा (२) "Structure Grammaticle des Langues Dravidiennes" (द्रविड़ भाषाओं का व्याकरणिक गठन)।

आधुनिक काल में भारतीय आर्यभाषा पर कार्य करने वाले उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं तथा उन पर कार्य करने वाले विद्वानों का विवरण निम्नलिखित है—

संस्कृत—संस्कृत भाषा पर कार्य करने वाले विद्वानों में निम्नलिखित के नाम महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) डॉ० लक्ष्मणस्वरूप, (२) श्री वी० के० राजवाडे, (३) डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, (४) श्री विश्ववन्धु शास्त्री, (५) श्री आर० एन० दाण्डेकर, (६) श्री ई० डी० कुलकर्णी, (७) डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री, (८) डॉ० सुकुमार सन, (९) श्री वटकृष्णघोष, (१०) श्री मनोमोहन घोष, (११) टी० वरो, (१२) डॉ० भोलाशंकर व्यास, (१३) डॉ० कपिलदेव द्विवेदी तथा (१४) डॉ० सत्यकाम वर्मा आदि-आदि।

(१) डॉ० लक्ष्मण स्वरूप—इन्होंने 'यास्क' के 'निरुक्त' पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'निरुक्त' के आधुनिक अध्येताओं में पश्चिमी विद्वान् 'रॉथ' तथा भारतीय विद्वान् 'डॉ० लक्ष्मणस्वरूप' इन दो विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। डॉ० लक्ष्मणस्वरूप के कार्य से पूर्व यद्यपि 'निरुक्त' का सम्पादन हो चुका था, तथा विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों को इसका आधार बनाया गया था, किन्तु 'निरुक्त' का कोई प्रामाणिक एवं विशुद्ध पाठ तब तक भी उपलब्ध नहीं था। डॉ० लक्ष्मणस्वरूप ने अथक परिश्रम एवं गहन अध्यवसाय से 'निघण्टु' और 'निरुक्त' दोनों का, प्रामाणिक एवं विशुद्ध पाठ के साथ सम्पादन किया है। साथ ही साथ इन्होंने 'निरुक्त' पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत की है। इसी प्रकार 'निरुक्त' पर 'स्कन्द स्वामी' द्वारा किये गये भाष्य का भी एक अच्छा संस्करण इनके द्वारा प्रकाश में लाया गया है।

यद्यपि डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का उपर्युक्त सभी कार्य महत्त्वपूर्ण है, तथापि उसका माध्यम अंग्रेजी भाषा होने के कारण हिन्दी एवं संस्कृत के पाठक उससे प्रत्यक्ष रूप से बहुत अधिक लाभान्वित नहीं हो सके हैं।

(२) श्री वी० के० राजवाड़े—श्री 'राजवाडे' ने सम्पूर्ण 'निघण्टु' के केवल ३ अध्यायों पर अंग्रेजी भाषा में टीका-टिप्पणी प्रस्तुत की है। इनका दृष्टिकोण 'यास्क' में अनेक त्रुटियाँ निकालना रहा है। इनके अनुसार 'यास्क' का 'निरुक्त' केवल अटकलबाजी है, कोई सारभूत निर्वचन नहीं है।

वस्तुतः, अनेक स्थलों पर 'राजवाडे' 'यास्क' को भली-भाँति समझ नहीं सके हैं। जहाँ भी उन्हें असुविधा हुई है या सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता पड़ी है, वे उसका सारा दोष 'यास्क' के ही मत्थे मढ़ देते हैं। इतना होने पर भी उनका अध्ययन-विवेचन 'निरुक्त' के पाठकों के लिए उपयोगी रहा है। कारण, उनकी तीखी आलोचना से प्रेरित होकर अनेक यास्क-प्रेमी पाठकों एवं विद्वानों ने 'निरुक्त' का गहन अध्ययन किया है तथा उनके निर्वचनों को युक्तियुक्त सिद्ध किया है।

(३) डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा—संस्कृत भाषा पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कार्य करने वालों में डॉ० वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। इनकी दो प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—(१) 'एनेलिसिस ऑफ मीनिंग इन इण्डियन सेमेण्टिक्स' तथा (२) 'फॉनेटिक आब्जरवेशन ऑफ एन्शियेन्ट इण्डियन ग्रामेरियन्स'।

प्रथम रचना का सम्बन्ध अर्थ-विचार से है तथा दूसरी का ध्वनि-विचार से। प्रथम में 'यास्क' को आधार माना गया है, तथा दूसरी में भारत के प्राचीन शिक्षाकारों को। डॉ० वर्मा ने अपनी रचना में ६५ शिक्षा-ग्रन्थों के होने का उल्लेख किया है।

अर्थविचार-सम्बन्धी इनकी रचना 'रॉथ' के "वोर्टेर वूख्" नामक शब्दकोश से कुछ मिलती-जुलती है तथा उसमें तुलनात्मक पद्धति को अपनाया गया है।

(४) डॉ० भोलाशंकर व्यास—इन्होंने "संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन" नामक पुस्तक में आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत का विवेचन किया है। साथ ही इसमें भारतीय भाषावैज्ञानिक सामग्री का तुलनात्मक परिचय भी मिल

जाता है। संस्कृत से होने वाले आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास पर भी इसमें उत्तम सामग्री उपलब्ध होती है। इसकी रचना प्रो० टी० बरो की 'संस्कृत लैंग्वेज' से मिलती-जुलती है।

(५) डॉ० कपिलदेव द्विवेदी—इनका ग्रन्थ "अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन" शोधपरक है, जिसमें 'निरुक्त' को आधार बनाया गया है। अपने विवेचन में डॉ० द्विवेदी ने प्राचीन और नवीन सभी उपलब्ध सामग्री का सदुपयोग, शास्त्रीय दृष्टिकोण से किया है। यह विवेचन अपने आप में पर्याप्त विस्तृत है।

डॉ० सत्यकाम वर्मा—आपका ग्रन्थ "भाषातत्त्व और वाक्यपदीय", 'भर्तृहरि' को आधार बनाकर किया गया शोधकार्य है। आपका दृष्टिकोण भाषावैज्ञानिक है तथा आपने अपने विवेचन में, आधुनिक पाश्चात्य भाषा-विवेचकों की तुलना में भारत के प्राचीन भाषा-विवेचक 'भर्तृहरि' की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयास किया है।

अन्य भाषाओं पर हुए कार्य का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

अवेस्तन—'अवेस्ता' की भाषा 'अवेस्तन' या 'अवेस्ती' पर डॉ० तारापुरवाला ने उल्लेखनीय कार्य किया है।

पालि—भिक्षु जगदीश कश्यप तथा विधुशेखर भट्टाचार्य।

प्राकृत—वुलनर।

अपभ्रंश—प्रबोध बागची, शहीदुल्ला, पी० एल० वैद्य तथा हीरालाल जैन।

दरद—डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा।

कश्मीरी—डॉ० ग्रियर्सन।

पंजाबी—बनारसीदास जैन।

लहँदा—डॉ० हरदेव बाहरी।

मुल्तानी—डॉ० परमानन्द बहल।

सिन्धी—श्री शाहानी।

गुजराती—हरिवल्लभ भायाणी, कान्तिलाल व्यास, भोगीलाल, नरसिंहराव; भोलानाथ दिवातिया।

कोंकणी—सुमित्र मंगेश कत्रे।

मराठी—के० पी० कुलकर्णी।

तमिल—नीलकण्ठ शास्त्री, अमृतराव।

मलयालम—चन्द्रशेखर, रामस्वामी अय्यर।

कन्नड—नरसिंह चार।

सिंहली—गाइगर (Geiger)।

उड़िया—विनायक मिश्र, गोलोकविहारी धल, गोपालचन्द्र आदि।

असमिया—बाणीकान्त काकती। आदि-आदि।

बंगला—डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, सुकुमार सेन, हेमन्तकुमार सरकार आदि। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने बंगला भाषा पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

"Origin and Development of Bengali Language". (बंगला भाषा का उद्भव और विकास) नामक इनका ग्रन्थ सन् १९२१ ई० में 'लन्दन विश्वविद्यालय' द्वारा डी० लिट् की उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ था। इसके अतिरिक्त भी बंगला भाषा पर इनके कई निबन्ध प्रकाशित हुए हैं; जैसे—"आधुनिक बंगला की ध्वनियाँ" 'बंगला में फारसी तत्त्व', 'बंगला-क्रियापद', 'प्राचीन बंगला चर्यापद' तथा "Comparative Philology with special reference to Bengali Dialects" आदि-आदि।

बंगला भाषा सम्बन्धी इनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी हैं—

(१) "Bengali Self-taught."

(२) "A Bengali Phonetic Reader."

(३) "बांगला भाषातत्त्वेर भूमिका" तथा

(४) "भाषाप्रकाश बांगला व्याकरण"।

बंगला भाषा के अतिरिक्त इन्होंने, हिन्दी, राजस्थानी आदि पर भी कार्य किया है। "Indo-Aryan and Hindi' (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी) इनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

इस प्रकार बंगला-भाषा तथा भाषाशास्त्र के क्षेत्र में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हिन्दी तथा हिन्दी की बोलियाँ

हिन्दी तथा उसकी विभिन्न बोलियों पर भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। इस क्षेत्र के प्रमुख विद्वानों का एवं उनके कार्य का विवरण इस प्रकार है—

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी – 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' तथा 'राजस्थानी भाषा'।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—'हिन्दी भाषा का इतिहास' तथा La Language Braja' (ब्रजभाषा)।

डॉ० बाबूराम सक्सेना—'Evolution of Awadhi' तथा 'दक्खिनी हिन्दी'।

डॉ० उदयनारायण तिवारी—'भोजपुरी भाषा और साहित्य' एवं 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास'।

कामताप्रसाद गुरु—'हिन्दी व्याकरण'।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—'पुरानी हिन्दी'।

पं० पद्मसिंह शर्मा—'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी'।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—'हिन्दी निरुक्त', 'हिन्दी शब्दानुशासन'।

हरदेव बाहरी—'हिन्दी का अर्थविज्ञान'।

सुभद्र 'झा'—'मैथिली का उद्भव और विकास'।

विश्वनाथ प्रसाद—'भोजपुरी का ध्वनिविज्ञान और ध्वनि-प्रक्रिया'।

उपर्युक्त विद्वानों में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। हिन्दी भाषा के क्षेत्र में इनके कार्य को बहुत महत्त्व दिया जाता है। सन् १९३३ ई० में

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा का इतिहास' नाम से प्रकाशित हुआ। 'ज्यूल ब्लॉख' के निर्देशन में इन्होंने 'La Langue Braja' (व्रजभाषा) पर कार्य किया तथा उस पर 'पेरिस विश्वविद्यालय' से डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने 'व्रजभाषा-व्याकरण तथा 'ग्रामीण हिन्दी' नामक पुस्तकों की भी रचना की है। साथ ही, समय-समय पर भाषाविज्ञान-सम्बन्धी अनेक निबन्ध भी इन्होंने लिखे हैं। इनके निर्देशन में भाषाविज्ञान पर अनेक शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं।

भाषाविज्ञान के सिद्धान्त

विभिन्न भाषाओं पर हुए उपर्युक्त कार्य के अतिरिक्त अनेक विद्वानों द्वारा 'भाषाविज्ञान के सिद्धान्त' पक्ष पर भी कार्य किया गया है। ऐसे विद्वानों में डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, डॉ० बाबूराम सक्सेना, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, डॉ० भोलानाथ तिवारी, श्री पं० भगवद्दत्त आदि ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। श्री गोलोकविहारी धल का 'ध्वनिविज्ञान', डॉ० हरदेव बाहरी का "Hindi Semantics" (हिन्दी अर्थविज्ञान), डॉ० रामविलास शर्मा का 'भाषा और समाज तथा डॉ० केशवरामपाल का 'हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थपरिवर्तन' आदि ग्रन्थ भी इसी कोटि के हैं।

संक्षेप में, आधुनिक काल में अनेक भारतीय विद्वान् भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए हैं, जिनमें से कुछ को छोड़ कर शेष सभी विद्वानों ने भाषाविज्ञान के यूरोपीय सिद्धान्तों का ही अनुसरण किया है। कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य तो विदेशों में रहकर तथा विदेशी विद्वानों की ही देखरेख में हुए हैं। इस प्रकार प्राचीनकाल की अपेक्षा आधुनिक काल में भाषा-सम्बन्धी कार्य पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

यूरोपीय भाषाविज्ञान

यूरोप में भाषाविज्ञान का जन्म यूनान (ग्रीस) में हुआ माना जाता है। 'सुकरात', 'प्लेटो तथा 'अरस्तू' आदि ग्रीक विद्वानों ने ही यूरोप में, सर्वप्रथम, भाषा के सम्बन्ध में विचार किया था। ग्रीस में उस प्राचीनकाल में हुए भाषा-विवेचन की तुलना जब हम भारत के प्राचीन विचारकों से करते हैं, तो स्पष्टतः, उसमें दो बातों का अभाव अनुभव होता है—

(१) ग्रीक विद्वानों की दृष्टि बहुत ही संकुचित थी, वे केवल अपनी ही भाषा से परिचित थे, तथा उसी के अनुसार विश्व की सभी भाषाओं को परखते थे।

(२) ग्रीक विद्वानों के भाषा-विवेचन में विश्लेषण की कमी थी तथा दार्शनिकता एवं काल्पनिकता का पुट अधिक रहता था।

प्राचीनकाल में भारत तथा ग्रीस में हुए भाषा-सम्बन्धी विवेचन की तुलना करते हुए 'एल० एच० ग्रे' (L. H. Gray) ने लिखा है—

"Unlike the linguistic investigations of the Indians, which were mainly analytic, those of the Greek were very largely speculative and philosophical in character."[1]

---

१. Foundation of Language, page 422.

अर्थात् भारतीयों के विश्लेषणात्मक भाषा-विवेचन की तुलना में ग्रीकों का भाषा-विवेचन काल्पनिक तथा दार्शनिक अधिक था।

'ग्रे' के उपर्युक्त विचार से मिलता-जुलता विचार ही 'जेस्पर्सन' का भी है —

"Science presupposes careful observation and systematic classification of facts, of that in the old Greek writers of language, we found very little. The earliest masters in linguistic observation and claisification were the old Indian Grammarians."

अर्थात् भाषा पर लिखने वाले प्राचीन ग्रीक विद्वानों में तथ्यों के प्रति सूक्ष्म दृष्टि तथा उनके व्यवस्थित वर्गीकरण की कमी है। भारत के प्राचीन वैयाकरण इस विषय में बड़े निपुण थे।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों ही पाश्चात्य विद्वानों ने ग्रीक भाषा-विचारकों की अपेक्षा प्राचीन भारतीय वैयाकरणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः उक्त विचारों से ग्रीक में हुए प्राचीन भाषा-विवेचन-सम्बन्धी कार्य का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

यूरोपीय भाषाविज्ञान का प्राचीन युग तथा मध्य युग (१७०० ई० तक)

सुकरात (४६९–३९९ ई० पूर्व)—ग्रीक विचारकों में सुकरात का नाम सर्वप्रथम है। भाषा के क्षेत्र में इनका प्रमुख सिद्धान्त - **शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध पर** आधारित है। इन्होंने शब्द तथा अर्थ के नित्य सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया है। ये शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को रूढ़ मानते हैं। अर्थात् किसी पदार्थ को, कोई नाम हम अपनी इच्छानुसार दे देते हैं। इनके अनुसार शब्द तथा उसके अर्थ में कोई नैसर्गिक सम्बन्ध नहीं होता है। यही कारण है कि 'गाय' को विश्व की सभी भाषाओं में 'गाय' न कहकर उसके लिये भिन्न-भिन्न शब्दों का व्यवहार किया जाता है।

'सुकरात' की दूसरी मान्यता थी कि ऐसी भाषा का निर्माण भी सम्भव है; जिसमें शब्द तथा अर्थ के नैसर्गिक सम्बन्ध की स्थापना की जा सके।

विद्वानों ने 'सुकरात' के प्रथम सिद्धान्त को पूर्णतया तथा द्वितीय सिद्धान्त को आंशिक रूप में ही स्वीकार किया है, क्योंकि शब्द और अर्थ का नैसर्गिक सम्बन्ध केवल अनुकरणात्मक तथा अनुरणनात्मक शब्दों में ही सम्भव है, अन्य में नहीं।

प्लेटो (४२९–३४७ ई० पू०)—भाषा के क्षेत्र में 'प्लेटो की मान्यता है कि शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नैसर्गिक होता है। यह मान्यता 'सुकरात' से नितान्त विपरीत है। 'प्लेटो' के अनुसार विचार तथा भाषा परस्पर लगभग अभिन्न ही हैं। विचार, वस्तुतः मौन वार्तालाप ही है, उसी का उच्चरित (व्यक्त) रूप भाषा है।

इसी प्रकार 'प्लेटो' का, भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त भी विद्वानों को मान्य नही हो सका है।

---

1. Language–It's Nature, Development and Origin, Page 20.

फिर भी प्लेटो ने, 'सबसे पहले' ग्रीक वर्णमाला का वर्गीकरण तथा उसका व्यवस्थित विन्यास किया है जो भाषा के क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण देन मानी जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार, शब्दों के दो भेद–'संज्ञा' तथा 'क्रिया' भी इन्हें ज्ञात थे।

प्लेटो ने 'ग्रीक' भाषा के शब्द-भण्डार पर भी आलोचनात्मक दृष्टि डाली थी। यही कारण है कि उसने 'Cratylus' (क्रैटीलुस) में संकेत किया है कि ग्रीक भाषा में अनेक शब्द बर्बर भाषाओं से आ गये हैं, क्योंकि बर्बर भाषाएँ ग्रीक भाषा से प्राचीन हैं।

प्लेटो ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, सभी भाषाओं की आधारभूत कुछ धातुओं को प्रकृति की ही देन स्वीकार किया है।

अरस्तू (३८४ से ३२२ ई० पू०)—अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की अपेक्षा 'अरस्तू' का भाषा-विवेचन कुछ अधिक वैज्ञानिक था।

'प्लेटो' को शब्दों के केवल संज्ञा और क्रिया रूप ही ज्ञात थे, किन्तु 'अरस्तू ने इसमें Conjunction (संयोजक) तथा Article (निर्देशक) भेदों को भी जोड़ा है। साथ ही, 'अरस्तू' ने भाषा में 'वचन' एवं 'कारक' के भेद को भी स्पष्ट किया है।

संक्षेप में, 'अरस्तू ने—

(१) शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को रूढ़ माना है, जैसा कि 'सुकरात' ने माना था।

(२) भाषा का विश्लेषण करके उसने पदों के आठ भाग किये हैं (Eight Parts of Speech), जिन्हें आज भी माना जाता है।

(३) उसने वाक्य को उद्देश्य तथा विधेय-इन दो भागों में विभाजित किया है।

निष्कर्ष रूप में, अरस्तू यद्यपि अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक प्रतिभा सम्पन्न था, और उसने अनेक नवीन स्थापनाएँ की; क्रिन्तु, भाषा के क्षेत्र में उसे भी कोई नियम या व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं हुई। परिणामस्वरूप' इस क्षेत्र में उसने किसी भी नवीन नियम की स्थापना का प्रयास नहीं किया।

इस प्रकार प्राचीन ग्रीक विद्वानों—सुकरात, प्लेटो, तथा अरस्तू आदि में से किसी ने भी भाषा-विश्लेपण-सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। वस्तुतः, ये भाषा-विज्ञानी न होकर दार्शनिक थे। आगे चलकर 'अरस्तू' के बाद भी, दो हजार वर्ष तक भाषा के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य ग्रीस में नहीं हुआ।

डियोनिसियस थ्रैक्स (Dionysius Threx) (द्वितीय शताब्दी ई० पू०)—'थ्रैक्स' सिकन्दरिया का रहने वाला था। 'होमर के प्रमुख आलोचक एवं सम्पादक 'अरिष्टाक्रुस' इसके गुरु थे। 'थ्रैक्स' को ग्रीक भाषा का, सर्वप्रथम वैयाकरण माना जाता है। वास्तव में थ्रैक्स व्याकरणशास्त्र का आविष्कर्ता नहीं था, क्योंकि व्याकरण की सम्पूर्ण रूप-रेखा उसे अपने पूर्ववर्ती विद्वानों—प्लेटो एवं अरिस्टाक्रुस-आदि से ही प्राप्त हुई थी। हाँ, उसकी महत्वपूर्ण देन यह है कि उसने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों तथा आलोचकों की, व्याकरण से सम्बन्धित खोजों को व्यावहारिक रूप दिया तथा

उसके आधार पर ग्रीक भाषा का अध्यापन प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप, यूरोप में, बाद के सभी व्याकरण ग्रन्थों में प्रायः 'थ्रैक्स' के ही पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार किया गया है।

मध्ययुग—इस प्रकार लगभग १७वीं शताब्दी तक ग्रीकों की भाषा सम्बन्धी धारणा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। यूरोपीय इतिहास के मध्ययुग में भाषा के क्षेत्र में एक बड़ी घटना यह हुई कि शिक्षित समाज में ग्रीक भाषा का स्थान लैटिन भाषा ने लेलिया। इस प्रकार पढ़े-लिखे लोगों की भाषा लैटिन तथा अनपढ़ लोगों की भाषा ग्रीक हो गयी। लिखित रूप से लैटिन तथा बोलचाल में ग्रीक का व्यवहार होता रहा और इस प्रकार दोनों भाषाएँ साथ-साथ प्रयुक्त होती रहीं। पढ़े-लिखों की भाषा होने से महत्त्व तो लैटिन का ही रहा, किन्तु इस रूप में उसका भाषावैज्ञानिक महत्त्व लगभग शून्य ही हो गया। इसके साथ ही, लैटिन को ग्रीक भाषा के ढाँचे में ढाला गया, जो कि उसके लिये उपयुक्त ढाँचा नहीं था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि इस युग में भाषावैज्ञानिक विवेचन का विकास नहीं हो सका।

यूरोप में आधुनिक भाषाविज्ञान की पृष्ठभूमि—१८वीं शताब्दी

१८ वीं शताब्दी में यूरोप में आधुनिक भाषाविज्ञान का आरम्भ हुआ। इस शताब्दी के कई विद्वानों ने भाषा-सम्बन्धी-समस्याओं की ओर ध्यान दिया है। प्रमुख रूप से भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर रूसो, कोंडिलॉक, लाइबनिज, हर्डर तथा येनिश आदि विचारकों ने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं।

रूसो (Rousseau) १७१२ से १७७८ ई०—'रूसो' ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए अपने ग्रन्थ "Contrat Social"(सामाजिक अनुबन्ध) में कहा है कि मनुष्यों ने एक स्थान पर एकत्रित होकर सामाजिक समझौते के आधार पर भाषा का निर्माण, आपसी विचार विनिमय से किया है। किन्तु रूसो का यह मत विद्वानों द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं कर सका, क्योंकि इसका सबसे बड़ा दोष था कि 'रूसो' ने जिस सामाजिक समझौते तथा विचार विनिमय की बात कही थी, वह स्वयं भाषा के अभाव में सम्भव नहीं था।

कोंडिलॉक (Condilac)—इस युग के एक दूसरे फ्रेंच विद्वान् कोंडिलॉक के अनुसार भाषा की उत्पत्ति मनुष्यों के मुख से भावातिरेक में उत्पन्न ध्वनियों पर आधारित है। ये शब्दों की ध्वनिमूलक उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ऐसा मानने से मनुष्य की स्थिति पशु-पक्षियों से भी निकृष्ट हो जाती है। उनके अनुसार ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है, जिससे यह प्रकट हो कि मनुष्य ने पशु-पक्षियों से भाषा को सीखा है। संक्षेप में, मनुष्य भय, पीड़ा तथा प्रसन्नता का अनुभव करने पर रोता, सिसकता तथा चिल्लाता है, तथा इह प्रकार की ध्वनियाँ तथा विस्मय आदि भाषा का प्रारम्भिक रूप है।

'किन्तु भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'कोंडिलॉक' का उपर्युक्त सिद्धान्त भी मान्य नहीं हो सका। अन्यत्र इसकी कमियों का उल्लेख किया जा चुका है।[1]

१. दे० भाषा की उत्पत्ति का आवेग सिद्धान्त या पूह-पूह सिद्धान्त पृ० ४०।

लाइवनिज—यह मूलरूप से दार्शनिक थे। भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते हुए लाइवनिज़ से पूर्व कोंडिलॉक, एडमस्मिथ, लॉके तथा डॉ० ब्राउन आदि दार्शनिक विद्वानों ने कहा था कि पदार्थों के सभी नाम पहले व्यक्तिगत विषयों का ज्ञान कराने वाले होते हैं। इसके विपरीत, लाइवनिज़ की मान्यता है कि भाषा के किसी भी विधान में प्रथमतः, सामान्य या जातिवाचक शब्दों की अनिवार्य स्थिति होती है। उनके अनुसार "बच्चे और विशेषकर वे बच्चे, जिन्हें नाममात्र का ही भाषाज्ञान होता है, तथा जो बातचीत करने के इच्छित विषय का भी सीमित ज्ञान रखते हैं, अज्ञानवश वे व्यक्तिवाचक नामों वाले शब्दों का ही प्रयोग करते हैं; यथा—वस्तु, पेड़, पौधे, पशु आदि, और यह निश्चित है कि व्यक्तिवाचक या विशेष-विशेष वस्तुओं के नाम आदिकाल में साधारण या जातिवाचक थे।[1]" वह पुनः कहते हैं - "इस प्रकार मुझे यह कहने का साहस होता है कि प्रायः सभी शब्द मौलिक रूप से जातिवाचक थे क्योंकि ऐसे बहुत कम अवसर मिलते होंगे, जब मनुष्य ने अकारण ही वस्तुविशेष या व्यक्ति का नामकरण किया होगा।"[2]

आगे चलकर 'मैक्समूलर' ने 'लाइवनिज़' की अपेक्षा 'एडमस्मिथ' के ही मत को प्रमुखता दी है। वस्तुतः, भाषा में व्यक्ति से सामान्य तथा सामान्य से व्यक्तिगत नामों का क्रम चलता है।

हर्डर (Johann Gottfrid Herder)—भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'हर्डर' के विचारों को, पहले विद्वानों की अपेक्षा कुछ अधिक मान्यता प्राप्त हुई है। सन् १७७२ ई० में; 'बर्लिन अकादमी' के तत्त्वावधान में 'हर्डर' ने भाषा की उत्पत्ति पर एक निबन्ध लिखकर 'सर्वोत्तम निबन्ध' का पुरस्कार भी प्राप्त किया था। अपने निबन्ध में इन्होंने भाषा की दैवी-उत्पत्ति का खण्डन करके अनुकरणमूलकता के सिद्धान्त की स्थापना की थी। किन्तु, अपने जीवन के अन्तिम दिनों में, उन्होंने अपने इस सिद्धान्त को स्वयं भी अमान्य घोषित कर दिया था।

भाषा के, ईश्वर द्वारा निर्मित होने के सिद्धान्त का खण्डन 'हर्डर' ने दो प्रमुख आधारों पर किया है—(१) यदि भाषा ईश्वर-निर्मित होती तो उसमें एकरूपता होती तथा अव्यवस्था एवं अनियमितता न होती। (२) विश्व की सभी भाषाएँ समान होती, उनमें संस्कृत तथा चीनी भाषाओं-जैसा भेद न होता।

भाषा की उत्पत्ति-विषयक 'हर्डर' की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं :—
(१) भाषा की उत्पत्ति मानव की आवश्यकता के परिणामस्वरूप हुई है। आज भी हम देखते हैं कि भाषा में आवश्यकतानुसार नये-नये शब्द सम्मिलित होते रहते हैं। (२) भाषा का निर्माण धातुओं से हुआ है, तथा (३) भावाभिव्यक्ति के लिए, आदिम मानव रूपकों की सहायता अधिक मात्रा में लेता था।

---

१. भाषाविज्ञान, मूललेखक मैक्समूलर, अनुवादक डॉ० उदयनारायण तिवारी; पृ० ३२७.

२. वही, पृ० वही।

येनिश (Jenisch)—इन्होंने 'आदर्श भाषा' के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। सन् १७७४ ई० में 'बर्लिन अकादमी' ने "पूर्ण भाषा का आदर्श और यूरोप की प्रसिद्ध भाषाओं की उस आदर्श पर परीक्षा" विषय पर पुरस्कार की घोषणा की थी, जिसे 'येनिश' ने प्राप्त किया था। 'आदर्श भाषा' में 'येनिश' ने चार गुणों का होना आवश्यक माना है—

(क) सम्पन्नता (Richness)—अर्थात् भाषा का शब्द-भण्डार पर्याप्त विस्तृत होना चाहिए, जिससे मूर्त तथा अमूर्त सभी प्रकार के भावों को व्यक्त किया जा सके। साथ ही, भाषा में आवश्यकतानुसार नये शब्दों के निर्माण करने की शक्ति भी होनी चाहिए।

(ख) ऊर्जा (Energy or Emphasis)—किसी भी भाषा की ऊर्जा का ज्ञान तीन बातों से होता है—कोश, व्याकरण तथा प्रारम्भिक रचनाकार। संस्कृत के प्रारम्भिक रचनाकारों-वाल्मीकि तथा व्यास आदि में जिस मात्रा में ऊर्जा थी, उस मात्रा में बाद के कवियों में नहीं है।

(ग) स्पष्टता (Clearness)—व्याकरण के नियमों के पालन, पद-विन्यास एवं वाक्य-विन्यास में व्यवस्था तथा कथन की स्वाभाविकता से ही भाषा में स्पष्टता आती है।

(घ) मधुरता या सुश्राव्यता (Euphony)—स्वर-व्यञ्जन के माधुर्य के साथ ही भाषा में शब्द-चयन में भी समरसता आवश्यक होती है।

इसके अतिरिक्त भी आदर्श भाषा की कुछ विशेषताओं का उल्लेख 'येनिश' ने किया है—

(१) भाषा प्रत्येक मनुष्य के बौद्धिक एवं नैतिक स्तर के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं।

(२) भाषा की सफलता इस बात में है कि वह आवश्यकतानुसार मनुष्य के सब प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो।

(३) 'येनिश' के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक आदर्श भाषा में उत्कृष्ट साहित्य की रचना हो ही। उत्कृष्ट साहित्य के अभाव में भी कोई भाषा आदर्श भाषा हो सकती है। किसी भी भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता का उत्कृष्ट साहित्य से तो केवल ज्ञानभर हो जाता है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जन्म—स्वयं पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि यूरोप में आधुनिक 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' का जन्म तभी हुआ, जब पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत से परिचय प्राप्त किया। इस प्रसंग में प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् 'जैक्सन' (Jackson) का यह कथन यहाँ द्रष्टव्य है—

"तुलनात्मक भाषाविज्ञान उसी दिन जन्मा, जिस दिन पाश्चात्य जगत् ने संस्कृत से साक्षात्कार किया। भारत की पवित्र भाषा तथा प्राचीन ज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले, उन प्रारम्भिक विद्वानों का उत्साह आज भी उनके अनुयायियों की

रगों में उष्ण रक्त का संचार कर रहा है तथा आगे आने वाली पीढ़ियाँ भी, उससे सदैव प्रेरणा प्राप्त करती रहेंगी।"[1]

यूरोपवासियों को संस्कृत से परिचित कराने वाले विद्वानों में 'कोएर्दू' तथा 'सर विलियम जोन्स' का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। यहाँ इनके प्रयासों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

कोएर्दू (Coeurdoux)--ये एक फ्रेंच पादरी थे, जो सन् १७६७ ई० में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए भारत में आये थे। तभी इनका परिचय संस्कृत भाषा से हुआ। इन्होंने भारत में रहते हुए संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा फ्रेंच भाषा के कुछ शब्दों की तुलना करते हुए एक निबन्ध लिखा तथा इन्होंने उसे प्रकाशित करने के लिए 'फ्रेंच इन्स्टीट्यूट' को भेज दिया। इनके दुर्भाग्य से वह लेख ४० वर्ष तक प्रकाशित नहीं हो सका तथा इसी बीच एक अन्य विद्वान् 'सर विलयम जोन्स' को इस क्षेत्र में अधिक ख्याति प्राप्त हो गयी।

सर विलियम जोन्स (Sir William Jones)—यद्यपि 'जोन्स' से पूर्व 'वारेन हेस्टिंग्ज' जैसे कुछ अंग्रेज विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया था तथा 'कोएर्दू' ने संस्कृत की, यूरोपीय भाषाओं से तुलना का सूत्रपात भी कर दिया था, किन्तु इस विषय में सर्वाधिक श्रेय महान् प्राच्यविद् अंग्रेज विद्वान् 'सर विलियम जोन्स' को ही प्राप्त हुआ है। 'जोन्स' 'फोर्ट विलियम' में चीफ जस्टिस पद पर नियुक्त होकर सन् १७८३ ई० में भारत आये थे। भारतीय विद्या में अपनी अत्यधिक रुचि के कारण उन्होंने यहाँ आते ही सन् १७८६ ई० में "रायल एसियाटिक सोसायटी" की स्थापना की। उसके उद्घाटन-भाषण में संस्कृत भाषा की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा था कि—

"संस्कृत भाषा की प्राचीनता का निश्चित ज्ञान भले ही हमें न हों, किन्तु इसका रचनात्मक गठन आश्चर्यजनक है, जो ग्रीक से भी अधिक पूर्ण, लैटिन से भी अधिक विशद तथा इन दोनों से ही अधिक परिष्कृत एवं परिमार्जित है।"[2]

'सर विलियम जोन्स' ने ही सर्वप्रथम संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषाओं की समानता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था तथा उनके मूल में किसी

---

1. "Comparative Philology was born on the day, when Sanskrit was opened to the eyes of the western world. The enthusiasm that stirred the hearts of those first pioneers into the realm of India's sacred language and India's ancient lore still throbs in the veins of their followers to-day and will quicken the pulse-beat of inspired workers for generations to come."

2. "The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of wonderful structure, more perfect than Greek, more copious than Latin, and more completely refined than either."

एक ही भाषा की सम्भावना व्यक्त की थी। 'गांथी' तथा 'केल्टिक' भाषाओं को भी उन्होंने उसी मूलभाषा से सम्बद्ध बतलाया था।

इसके अतिरिक्त 'सर विलियम जोन्स' महोदय ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 'गीतगोविन्द' तथा 'मनुस्मृति' का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। उनके 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के अनुवाद से, यूरोप में संस्कृत-काव्य को बहुत ही प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तथा उसने अनेक पाश्चात्य विद्वानों को संस्कृत-अध्ययन की ओर आकृष्ट कर लिया।

'जोन्स' महोदय ने प्राचीन भारतीय वैयाकरणों की रचनाओं से भी यूरोपीय विद्वानों को परिचित कराया। उनके इस कार्य के प्रति आभार प्रकट करते हुए एक अन्य यूरोपीय विद्वान् 'जे० आर० फर्थ' (J. R. Firth) ने लिखा है—

'उनके (अर्थात् सर विलियम जोन्स) द्वारा कराये गये भारतीय वैयाकरणों एवं ध्वनिविदों के परिचय के बिना तो हम उन्नीसवीं शताब्दी में हुए अपने ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी विकास की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।'[1]

संक्षेप में, सर विलियम जोन्स' ने यूरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत भाषा की ओर खींचा और संस्कृत तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं की समानता की सम्भावना प्रकट करके 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' की नींव डाली। यही कारण है कि १९ वीं शताब्दी' को 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान की शताब्दी' कहा जाता है।

यूरोपीय भाषाविज्ञान का आधुनिक युग—(१९ वीं शताब्दी से अब तक)— 'सर विलियम जोन्स' से लेकर अबतक के भाषाविज्ञान के इतिहास को हम यूरोपीय भाषाविज्ञान का आधुनिक युग कह सकते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए, इसे चार भागों में विभाजित किया जाता है—

(i) आरम्भिक युग—(सन् १७८६ ई० से १८३३ ई० तक)
(ii) मध्ययुग—(सन् १८३४ ई० से सन् १८५५ ई० तक)
(iii) नव्ययुग—(सन् १८५६ ई० से सन् १९२० ई० तक)
(iv) वर्तमानयुग—(सन् १९२१ ई० से अब तक)

(i) यूरोपीय आधुनिक भाषाविज्ञान का आरम्भिक युग (१७८६ से १८३३ ई० तक) इस युग का विवरण इस प्रकार है—

हेनरी टॉमस कोलब्रूक (Henry Thomas Colebrooke)—आरम्भिक युग के विद्वानों में अंग्रेज विद्वान् 'कोलब्रूक' अपने संस्कृत के ज्ञान के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इनका समय सन् १७६५-१८३७ ई० तक है 'कोलब्रूक' ने जोन्स से प्रेरणा प्राप्त करके भारतीय भाषाविज्ञान तथा पुरातत्त्वविज्ञान की आधारशिला

1. "Without the Indian grammarians and phoneticians whom he (i. e. Sir William Jones) introduced and recommended to us, it is difficult to imagine our nineteenth century school of phonetics."

रक्खी। ये गम्भीर स्वभाव के एक अध्यवसायी व्यक्ति थे। सन् १७८२ ई० में ये भारत आये थे। सन् १७९४ ई० के आसपास इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया तथा सन् १७९७-९८ ई० में भारतीय धर्मशास्त्रों पर आधारित दायभाग एवं वाग्व्यवहार-सम्बन्धी एक बड़े ग्रन्थ का इन्होंने अनुवाद किया। "ए डाइजेस्ट आव हिन्दू ला ऑन कान्ट्रेक्टस एण्ड एक्सैशन्ज" नाम से यह अनुवाद चार वाल्यूम में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से उत्साहित होकर इन्होंने न केवल भारतीय कानून, अपितु भारतीय दर्शन, धर्म, ज्योतिष, गणित तथा व्याकरण-सम्बन्धी भी अनेक निबन्ध लिखे। सन् १८०५ ई० में 'कोलब्रूक' का लिखा निबन्ध "ऑन दी वेदाज" ही एकमात्र ऐसी रचना है, जिसके द्वारा उस समय पाश्चात्य जगत् को भारतीय संहिताओं का सही परिचय प्राप्त हुआ था।

इसके अतिरिक्त 'कोलब्रूक' ने 'हितोपदेश', 'किरातार्जनीय', पाणिनीय व्याकरण का सम्पादन तथा 'अमरकोश' आदि अनेक शब्दकोशों का सम्पादन भी किया। कुछ अभिलेखों का अनुवाद तथा स्वतन्त्र रूप से एक 'संस्कृत-व्याकरण' की रचना भी उन्होंने की थी। भारतीय पाण्डुलिपियों का एक विशाल संग्रह, जिस पर उस समय उन्होंने लगभग १० हजार पौण्ड खर्च किया था, भी 'कोलब्रूक' के पास था। वापिस, अपने देश लौटते समय वह संग्रह 'कोलब्रूक' ने 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी', को भेंट कर दिया था। अब ये पाण्डुलिपियाँ 'इण्डिया आफिस लाइब्रेरी' लन्दन में सुरक्षित हैं।

इस प्रकार 'कोलब्रूक' ने 'जोन्स' के कार्य को प्रगति दी तथा संस्कृत से सम्बद्ध शोधकार्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। संस्कृत के साथ ही इन्होंने प्राकृत, अरबी तथा फारसी आदि का भी अध्ययन किया था।

फ्रेडरिक वान श्लेगल (Friederich Von Schlegel)—जर्मन 'विद्वान् फ्रेडरिक वान श्लेगल' का समय सन् १७७२-१८३९ ई० तक है। सन् १८०१-१८०२ ई० में फ्रेडरिक श्लेगल इंगलैण्ड में था। बाद में वह फ्रांस चला गया। १८०३-०४ ई० में उसने फ्रांस में कैद एक अंग्रेज विद्वान् "अलैग्जैण्डर हैमिल्टन" से संस्कृत सीखी तथा ३-४ वर्ष तक 'पेरिस लाइब्रेरी' में हस्तलिखित ग्रन्थों का अध्ययन करता रहा। सन् १८०८ ई० में उसके अध्यवसायों के परिणामस्वरूप "भारतीयों की भाषा और ज्ञान" (The Language and Wisdom of the Indians) नामक ग्रन्थ विद्वज्जगत् के सम्मुख आया। यह फ्रेडरिक श्लेगल' की संस्कृत-सम्बन्धी प्रथम रचना थी, जिसने जर्मन देश में, भारतीय भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण की नींव डाली। इस रचना का प्रत्येक पृष्ठ उत्साहप्रद एवं प्रेरणाप्रद है। इसके एक भाग मे 'रामायण', 'मनुस्मृति', 'भगवद्गीता' के कुछ अंश तथा 'शकुन्तलोपाख्यान' का जर्मन भाषा में अनुवाद है, जो सर्वप्रथम संस्कृत से सीधे जर्मन मे अनूदित हुआ है।

यद्यपि 'श्लेगल' की कई मान्यताएँ आगे चलकर भ्रामक सिद्ध हुई हैं, तथापि वह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था। विद्वान् की सत्यता की अपेक्षा उसमें कवि की कल्पना अधिक थी। भाषाविज्ञान जैसे नूतन विज्ञान के निर्माण के समय, वस्तुतः, ऐसी

ही कवि-कल्पना की आवश्यकता होती भी है। भारत, फारस, ग्रीस, इटली तथा जर्मनी की भाषाओं को सरसरी दृष्टि से 'इण्डो-जर्मैनिक' नाम देकर तथा उन्हें एक सूत्र में गूँथकर 'फ्रेडरिक श्लेगल' ने अपनी इसी कवि-कल्पना का परिचय दिया था। उनके इस कार्य को विद्वानों ने 'नये संसार की खोज' का नाम देकर इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

संक्षेप में, 'फ्रेडरिक वान श्लेगल' ने—

(१) संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा जर्मन भाषा के शब्दों की तुलना करके, उनमें प्राप्त अद्‌भुत समानता की ओर विद्वानों का ध्यान खींचा तथा इन भाषाओं को 'इण्डो-जर्मैनिक' नाम दिया।

(२) सर्वप्रथम, तुलनात्मक व्याकरण की चर्चा की।

(३) संस्कृत में तथा भारतीय विद्या में रुचि रखने वाले जर्मन विद्वानों का मार्ग प्रशस्त किया। परिणामस्वरूप, बॉप्प, श्लेगल, लास्सेन, रोज़ेन, वर्नाफ़ आदि अनेक जर्मन विद्वानों ने इंगलैंड जाकर 'ईस्ट इण्डिया हाउस' में प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोजबीन की।

ऑगस्ट विल्हेम वॉन श्लेगल (August Wilhelm Von Schlegel)—ये फ्रेडरिक श्लेगल के भाई तथा जर्मन भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने जर्मन देश में संस्कृत को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने एक त्रैमासिक पत्रिका "इण्डिशे विब्लियोथेक" का प्रकाशन सन् १८१६ से १८३० ई० तक किया, जिसका सबसे प्रमुख उद्देश्य संस्कृत के ग्रंथों का प्रकाशन था। उसी में सन् १८२३ ई० के लगभग 'आगस्ट विल्हेम वॉन श्लेगल' के भारतीय भाषाविज्ञान एवं व्याकरण-सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण निबन्ध भी प्रकाशित हुए थे।

विल्हेम वॉन हम्बोल्ट (Wilhelm Von Humboldt)–इन्हें भाषाविज्ञान का सशक्त अभिभावक कहा जाता है तथा इनका समय सन् १७६७–१८३५ ई० है। संस्कृत-अनुशीलन तथा भाषाविज्ञान के क्षेत्र में इनकी रुचि को इन विषयों का सौभाग्य माना जाता है। ये एक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली व्यक्ति थे। इन्होंने सन् १८२१ में संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ करते समय ही 'विल्हेम श्लेगल' को लिखे अपने एक पत्र में प्रकट किया था कि "संस्कृत के सर्वांगपूर्ण विश्लेषण के बिना भाषाविज्ञान अथवा भाषाविज्ञान से सम्बद्ध इतिहास में किये गये अनुसन्धानों का मूल्य कुछ भी नहीं हो सकता है।"[1]

आगे चलकर सन् १८२८ ई० में श्लेगल ने भारतीय अनुशीलनों का विहंगावलोकन करते हुए स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि भाषाविज्ञान के नूतन

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, एम. विण्टरनिट्ज अनुवाद-लाजपतराय, प्रस्तावना, पृ० १४।

शास्त्र के लिए सचमुच यह खुशकिस्मती ही है कि उसे हम्बोल्ट-जैसे मित्र और संरक्षक का सहयोग प्राप्त हो सका है।"[1]

'गीता' में हम्बोल्ट' की विशेष रुचि थी।

'हम्वोल्ट' के लिखे भाषाविज्ञान-सम्बन्धी निबन्धों ने अनेक विद्वानों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया था। जावा की भाषा 'कवि' (Kawi) पर इन्होंने विशेष कार्य किया था।

संक्षेप में, 'हम्वोल्ट' की मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भाषा एक अखण्ड प्रवाह है—'हम्वोल्ट' के अनुसार भाषा एक अखण्ड प्रवाह है, उसमें स्थिरता की अपेक्षा गतिशीलता रहती है अतः, भाषा के सम्वन्ध में कोई भी स्थिर परिभाषा या नियम बनाने के पक्ष में, वे नहीं हैं।

(२) भाषा पूर्ण होती है—'हम्वोल्ट' की मान्यता है कि प्रत्येक भाषा कम या अधिक पूर्ण होती है। यहाँ तक कि वोलियाँ भी अपने में पूर्ण होती हैं।

(३) प्रत्येक भाषा का महत्त्व—उनके अनुसार प्रत्येक भाषा का अपना पृथक् व्यक्तित्व होता है, जिसके द्वारा हम उसकी गतिविधि को समझ सकते हैं। यहाँ तक कि जगली तथा असभ्य लोगों की भाषाओं का भी अपना विशिष्ट महत्त्व होता है।

(४) भाषाओं का सफल आकृतिमूलक वर्गीकरण असम्भव है—'हम्बोल्ट' के अनुसार चीनी भाषा को छोड़कर शेष भाषाओं के ३ वर्ग हैं—श्लिष्ट, अश्लिष्ट तथा प्रश्लिष्ट। इसके साथ ही, उनका यह भी विचार था कि क्योंकि सभी भाषाओं में प्रायः उपर्युक्त सभी वर्गों की कुछ न कुछ विशेषताएँ मिल जाती हैं, अतः, भाषाओं का सफल आकृतिमूलक वर्गीकरण असम्भव ही है।

(५) भाषा-उत्पत्ति पर विचार करना व्यर्थ है—उनके अनुसार भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार व्यर्थ है। अतः, भाषा के उपलब्ध इतिहास के अध्ययन पर ही हमें बल देना चाहिए। यही कारण है कि 'हम्वोल्ट' ने स्वयं भी भाषा के व्यावहारिक पक्ष की अपेक्षा उसके दार्शनिक पक्ष पर ही अधिक विचार किया है।

(६) भाषापरिवर्तन एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है—'हम्वोल्ट' के अनुसार किसी भाषा के वोलने वालों के मानसिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही उनकी भाषा भी परिवर्तित हो जाती है।

(७) शब्दों का आधार धातुएँ हैं—वे धातुओं को शब्दों का आधार मानने के पक्ष में थे।

(८) प्रत्यय स्वतन्त्र शब्द—'हम्वोल्ट' के अनुसार सभी प्रत्यय कभी स्वतन्त्र शब्द थे।

संक्षेप में 'हम्बोल्ट' महोदय की शैली यद्यपि कुछ क्लिष्ट थी, तथापि उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में अनेक मौलिक विचार दिये। भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में उनकी सर्वप्रमुख देन है—उनका ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण। यही कारण है कि उन्हें तुलनात्मक भाषाविज्ञान का पिता कहा जाता है।

रॉस्मस रॉस्क (Rasmus Kristian Rask)—इनका समय सन् १७८७–

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, एम० विण्टरनिट्ज अनुवादक-लाजपतराय, प्रस्तावना पृ० १४–१५.

१८३२ ई० तक है। डेनिश विद्वान् 'रास्क' ने भाषा का अध्ययन पुस्तकों से नहीं; अपितु, भाषिक समुदायों में रहकर किया था। यही कारण है कि इनके निष्कर्षों को विशेष मान्यता मिली है। इन्हें १९ वीं शताब्दी का तुलनात्मक भाषाविज्ञान का प्रथम विशेषज्ञ माना जाता है।

(१) 'रॉस्क' की महत्त्वपूर्ण भाषा-सम्बन्धी रचना है; इनका—"आइसलैंडी व्याकरण," जिसमें इन्होंने आइसलैंड की भाषा का भाषाशास्त्रीय पद्धति से अध्ययन किया है। भाषा के रूपों को नियम एवं श्रृंखला में बाँधने का यह सर्वप्रथम प्रयास है।

(२) प्राचीन नॉर्स भाषा की उत्पत्ति पर भी इन्होंने "Investigation on the Origin of the old Norse or Icelandic Language'. नामक एक महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

(३) उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'ऐंग्लो सैक्सन' 'फ्रीजी' तथा 'लाप' भाषाओं पर लिखे व्याकरण-ग्रन्थों से भी इन्हें विशेष ख्याति मिली है।

(४) कुछ विद्वानों के अनुसार, वाद में ग्रिम-नियम के नाम से प्रसिद्ध जर्मनिक भाषाओं के ध्वनिपरिवर्तन का सर्वप्रथम संकेत भी 'रास्क' ने ही किया था। किन्तु, दुर्भाग्य से उसे पल्लवित किये बिना ही ये कालकवलित हो गये और उसी संकेत को विकसित करके ग्रिम महोदय ने श्रेय प्राप्त कर लिया।

(५) 'रॉस्क' की मान्यता थी कि किसी देश के इतिहास को जानने के लिये भाषा एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उनके अनुसार भाषा की रचना तथा शब्दसमूह-में आकस्मिक परिवर्तन बहुत ही कम होता है। अतः, भाषा के अध्ययन द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक सामग्री अधिक प्रामाणिक होती है।

(६) 'रॉस्क' के अनुसार भाषाओं में पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना के लिए शब्दों की समानता की अपेक्षा उनकी व्याकरणिक रचना की समानता को अधिक महत्त्व देना चाहिये, क्योंकि शब्द तो एक भाषा, दूसरी भाषा से सरलतापूर्वक ग्रहण कर सकती है, किन्तु व्याकरणिक ढाँचा नहीं। भाषाओं में सम्बन्ध-स्थापना के लिए जिन शब्दों पर विचार किया जाय, उनमें भी रॉस्क के अनुसार, सर्वनाम तथा संख्या-वाची शब्दों को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए।

अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर 'रॉस्क' ने फिनो-उग्री' Finno-Ugric) भाषाओं का अच्छा वर्गीकरण किया है।

(७) 'रॉस्क' ने भारत की भी यात्रा की थी। उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर द्रविड़ भाषाओं (इन्हें वे मालावारी कहते थे) को संस्कृत से पूर्णतया पृथक् सिद्ध किया है। साथ ही, अवेस्ता भाषा (ज़ेन्द) को भी उन्होंने 'आर्यभाषा-परिवार' में उचित स्थान दिलवाया है।

याकोब ग्रिम (Jacob Grimm)—जर्मन विद्वान् 'ग्रिम' व्यवसाय से वकील थे,

किन्तु, भाषाविज्ञान में विशेष रुचि होने के कारण इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भाषा शास्त्रीय विवेचन में ही लगा दिया था। इनका समय सन् १७८५–१८६३ ई० है।

(१) भाषा के क्षेत्र में 'ग्रिम' ने अपना अध्ययन, अनुमानित व्युत्पत्तिशास्त्र के रूप में प्रारम्भ किया था, जिसकी कटु आलोचना होने के कारण इन्होंने उसे त्याग दिया तथा बाद में जर्मन और सगोत्री भाषाओं के गहन अध्ययन में प्रवृत्त हो गये।

(२) 'ग्रिम' की महत्त्वपूर्ण रचना "दोइचे ग्रामातिक" (Deutsche Grammatik) है। जर्मन भाषा के इस व्याकरण का प्रथम संस्करण सन् १८१९ ई० में निकला था, जिसमें उस ध्वनि-परिवर्तन का उल्लेख नहीं है, जो बाद में 'ग्रिम-नियम' कहलाया। किन्तु, सन् १८२२ ई० में होने वाले इसके दूसरे संस्करण में, 'रॉस्क' के व्याकरण से प्रभावित होकर, ग्रिम ने ध्वनि-परिवर्तन का उल्लेख किया है। इस प्रकार ग्रिस्म पर रॉस्क का प्रभाव स्पष्टतया प्रमाणित होता है।

'(३) 'ग्रिम' ने भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन पर बहुत बल दिया है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान लिखने वालों में वे सर्वप्रथम माने जाते हैं।

(४) ग्रिम से पूर्व विद्वानों का ध्यान केवल प्राचीन भाषाओं के अध्ययन की ओर ही अधिक था। ग्रिम ने प्रकट किया है कि भाषा के क्षेत्र में प्राचीन नवीन या छोटी-वड़ी का भेद व्यर्थ है तथा प्रत्येक भाषा का अपना पृथक् स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। परिणामस्वरूप विद्वानों का ध्यान ग्रीक तथा लैटिन की ओर ही केन्द्रित न रहकर शेष भाषाओं तथा बोलियों की ओर भी गया तथा संसार की सभी भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा।

(५) भाषाविज्ञान के क्षेत्र में ग्रिम ने अनेक पारिभाषिक शब्दों की रचना भी स्वयं की है। उनके रचे Ablaut (अपश्रुति) Umlaut (अभिश्रुति) आदि शब्द अभी तक भी प्रचलित हैं। इससे ग्रिम की प्रतिभा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

फ्रान्त्स बॉप (Franz Bopp)—जर्मन विद्वान् 'फ्रान्त्स बॉप' का समय सन् १७९१–१८६७ ई० है। आधुनिक भाषाविज्ञान के प्रतिष्ठापकों (रॉस्क, ग्रिम और बॉप) में बॉप का स्थान सर्वोपरि माना जाता है।

(१) **तुलनात्मक भाषाविज्ञान का प्रतिष्ठापक**—जिस प्रकार ग्रिम को ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का प्रथम लेखक स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार बॉप को तुलनात्मक भाषाविज्ञान का प्रतिष्ठापक माना जाता है। इन्होंने भाषाओं के तुलनात्मक पक्ष पर ही अधिक बल दिया है।

(२) **'धातु-प्रक्रिया'**—'धातु-प्रक्रिया' नाम की बॉप की प्रथम रचना है। जर्मन भाषा में इसका प्रथम संस्करण सन् १८१६ ई० में हुआ था। इसमें 'ग्रीक, लैटिन, फारसी और जर्मनिक भाषाओं की तुलना में संस्कृत-क्रियाओं के रचनाक्रम पर प्रकाश डाला गया है।

(३) सन् १८३३ ई० में, इनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना प्रकाशित हुई, जिसमें

संस्कृत, जेन्द, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनी, गाथी तथा जर्मैनिक भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण[1] प्रस्तुत किया गया है।

(४) सन् १८५७ ई० में, बॉप ने संस्कृत तथा ग्रीक भाषाओं के स्वरागात पर एक परिशिष्ट की रचना कर उसे अपने तुलनात्मक व्याकरण के साथ जोड़ा।[2]

(५) 'बॉप' ने व्याकरणिक रूपों की उत्पत्ति पर विचार किया है। इसके लिए उन्होंने संस्कृत को आधार बनाया तथा यह मान्यता प्रकट की, कि यद्यपि संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं का मूलस्रोत एक ही है, तथापि ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा संस्कृत में अपनी मूलभाषा की विशेषताएँ अधिक मात्रा में सुरक्षित हैं। परिणामस्वरूप, उन्होंने संस्कृत के आधार पर किये गये विवेचन को अधिक वैज्ञानिक माना है।

(६) 'बॉप' ने भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण इस प्रकार किया है:—

(i) धातु तथा व्याकरणरहित भाषाएँ—चीनी आदि।

(ii) एकाक्षर-धातु-भाषाएँ—भारोपीय भाषाएँ।

(iii) द्व्यक्षर-धातु-भाषाएँ—अरबी, हिब्रू आदि सामी भाषाएँ।

(७) प्रत्ययों के सम्बन्ध में 'बॉप' की मान्यता है कि ये मूलतः स्वतन्त्र शब्द थे, जो घिसकर अब निरर्थक प्रत्ययमात्र रह गये हैं।

(८) 'बॉप' के अनुसार भाषाविज्ञान के नियम एक निश्चित सीमा में ही सार्थक होते हैं।

यूरोपीय आधुनिक भाषाविज्ञान के आरम्भिक युग की प्रमुख विशेषतायें—सन् १७८६-१८३३ ई० तक के इस युग की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) **भाषाविज्ञान का स्वतन्त्र अस्तित्व**—इससे पूर्व भाषा का अध्ययन, दर्शन या साहित्य आदि के प्रसंग में ही होता था। इस युग में भाषा का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से होने लगा। 'लिंग्विस्टिक' तथा 'फिलोलॉजी' का अन्तर भी स्पष्ट हो गया।

(२) **संस्कृत भाषा का महत्त्व**—इस युग में भाषाविज्ञान का स्वरूप प्रायः तुलनात्मक ही रहा तथा इसके लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य-सा ही माना जाने लगा। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के लिए संस्कृत-ज्ञान की अनिवार्यता पर 'मैक्समूलर' के विचार को 'जेस्पर्सन' ने इस प्रकार उद्धृत किया है—"संस्कृत, निश्चय ही, तुलनात्मक भाषाविज्ञान का एकमात्र दृढ़ आधार तैयार करती है तथा यह तद्विषयक समस्याओं के समाधान में सदैव सहायक रहेगी। संस्कृत-ज्ञान के बिना एक तुलनात्मक भाषाविज्ञानी वैसा ही है, जैसाकि गणित-ज्ञान के बिना एक ज्योतिषी।"[3]

---

१. "Vergechen de Grammatik des Sanskrit, Zend, Griechischen, Latienischen, Litthauischen, Gothischen und Deutschen.

२. A Treatise on the Accent System in Sanskrit and Greek.

३. "Sanskrit, certainly, forms the only sound foundation of comparative philology, and it will, always remain the only safe guide through all it's intricacies, the comparative philologist without a

(३) भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन — इस युग में भाषाविज्ञानियों का ध्यान अध्ययनगत भाषाओं के समान तथा विषम तत्त्वों की ओर गया तथा इस आधार पर मिलती-जुलती भाषाओं के वर्ग बनाने का प्रयास किया गया। इस बात पर विशेष बल दिया गया कि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में पारस्परिक समानता तथा चीनी अथवा अरबी से इसकी विषमता का आधार क्या है ?

(४) इस युग में प्राचीन तथा क्लासिकल भाषाओं का अध्ययन ही प्रमुखरूप से हुआ तथा समसामयिक व्यवहारगत भाषाओं का अध्ययन उपेक्षित ही रहा। यही कारण है कि विद्वानों का ध्यान लिपिबद्ध साहित्यिक भाषाओं की ओर ही अधिक रहा और बोल-चाल की भाषाएँ अध्ययन का विषय नहीं बन सकीं।

(५) भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण का प्रारम्भ इसी युग में हो गया था। साथ ही, भाषा-परिवारों की अस्पष्ट रूपरेखा भी बनने लगी थी।

(६) प्रत्ययों के विषय में यह धारणा पुष्ट हो गयी थी कि वे भी कभी सार्थक शब्द ही थे।

(७) इस युग के विद्वानों में से 'रॉस्क', 'ग्रिम' तथा 'बॉप' को आधुनिक भाषाविज्ञान की प्रतिष्ठापकत्रयी के रूप में माना गया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस आरम्भिक युग ने आगे आने वाले युगों के लिए दृढ़ आधार की स्थापना की।

(ii) यूरोपीय आधुनिक भाषाविज्ञान का मध्य युग (सन् १८३४–१८५५ ई० तक)

इस युग में पिछले युग की प्राप्त भाषावैज्ञानिक सामग्री का संकलन तथा उसकी व्याख्या ही विशेष रूप से की गयी है। नये तथ्यों का अन्वेषण, प्राय: कम ही हुआ है। यही कारण है कि कुछ विद्वान् इस युग को 'सामग्री-संकलन का युग' भी कहना चाहते हैं। इस युग के प्रमुख विद्वान् तथा उनके कार्यों का विवरण निम्नलिखित है—

रुडोल्फ रॉथ और ओटो बॉटलिङ्क (Rudolf Roth & Otto Bohtlingk)— ये दोनों संस्कृतज्ञ विद्वान् जर्मनी के रहने वाले थे। इन्होंने "संस्कृत वेर्‌तेरबुख" नाम से संस्कृत भाषा का एक बृहत्कोश तैयार किया है। इसमें प्रत्येक संस्कृत-शब्द को धातु से व्युत्पन्न दिखलाया गया है। 'एकेडमी आव् आर्टस् एण्ड साइन्सेज् इन सेण्ट पीटर्सबर्ग' ने सन् १८५२ से १८७५ ई० तक इसे सात फोलियो वाल्यूम्स् में प्रकाशित किया है। अतः, इसे 'सेण्ट पीटर्सबर्ग-डिक्शनरी' भी कहा जाता है। प्राच्यविद्या के अध्ययन में जर्मन-प्रयासों का यह मूल्यवान् स्मारक-ग्रन्थ है।

---

knowledge of Sanskrit is like an astronomer without a knowledge of mathematics."

— Language—It's Nature, Development and Origin, page 67.

आउगस्ट श्लाइखर (August Schleicher)—इस युग के महान् विद्वानों में से यह एक हैं। इनका समय १८२१–१८६८ ई० तक है। इन्होंने "भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण का सार-संग्रह" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है, जो सन् १८६१ ई० में प्रकाशित हुआ था।[1]

इनके अध्ययन की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) इनके अध्ययन में प्राचीनता तथा नवीनता का समन्वय है।

(२) इन्होंने भाषाविज्ञान का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रमाणित कर उसे प्राकृतिक विज्ञानों की कोटि में रखने का आग्रह किया है।

(३) मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण इनका महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। आधुनिक उपलब्ध भाषाओं के आधार पर 'श्लाइखर' ने मूल-भारोपीय भाषा की ध्वनियों, पदों तथा वाक्यों की ही कल्पना नहीं की, अपितु उस कल्पित भाषा में इन्होंने एक कहानी भी लिख डाली थी। किन्तु, विद्वानों ने 'श्लाइखर' के इस कार्य को भाषावैज्ञानिक उत्साह मात्र ही माना, क्योंकि इस प्रकार किसी भी भाषा का कल्पित निर्माण असम्भव होने के साथ ही साथ अवैज्ञानिक भी है।

(४) 'श्लाइखर' ने भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया है। आकृति के आधार पर उसने भाषाओं के तीन वर्ग बनाये हैं—

(i) अयोगात्मक वर्ग—चीनी आदि भाषाएँ।

(ii) अश्लिष्ट-योगात्मक वर्ग तुर्की आदि भाषाएँ।

(iii) श्लिष्ट-योगात्मक वर्ग— संस्कृत आदि भाषाएँ।

(५) श्लाइखर ने यह मान्यता भी प्रकट की, कि उपर्युक्त वर्ग वस्तुतः, किसी भी भाषा के विकास के तीन सोपान हैं। पहले प्रत्येक भाषा अयोगात्मक होती है, फिर अश्लिष्ट योगात्मक तथा अन्त में श्लिष्ट-योगात्मक हो जाती है। श्लिष्ट-योगात्मकता, भाषा के विकास की अन्तिम दशा है, जिसके लिए प्रत्येक भाषा को पहले की दोनों दशाओं को पार करना पड़ता है।

यद्यपि 'मैक्समूलर', 'ह्विटनी' तथा 'जेस्पर्सन' आदि ने 'श्लाइखर' के उपर्युक्त वर्गीकरण को मान्यता दी है, किन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से इसमें अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति आदि अनेक दोष हैं।

मैक्समूलर (Friederich Maxmuller)—जर्मन् विद्वान् 'मैक्समूलर' का अधिकांश जीवन इङ्गलैण्ड में, संस्कृत की सेवा करते हुए ही व्यतीत हुआ था। इनका समय सन् १८२३-१९०० ई० तक है। भारत तथा संस्कृत से इन्हें बहुत अनुराग था। 'आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय' में संस्कृत के अध्यापक के रूप में इन्होंने पर्याप्त यश अर्जित किया था तथा इङ्गलैण्ड में संस्कृत अध्ययन की एक परम्परा स्थापित की थी।

(१) 'पौराणिक कथा-विज्ञान एवं धर्म' पर तुलनात्मक दृष्टि से कार्य करने

---

1. "Compendium der Vergleichenden Grammatic der Indo Germanischen Sprachen."

वालों में 'मैक्समूलर' का नाम सर्वोपरि है। सायण-भाष्य-समन्वित 'ऋग्वेद' का सम्पादन करके, इन्होंने ही उसे, इङ्गलैण्ड से सर्वप्रथम प्रकाशित कराया था। आज भी वह प्रामाणिक माना जाता है। इसके अतिरिक्त 'दि सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' शीर्षक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इन्होंने, संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया है।

(२) भाषाविज्ञान के क्षेत्र में 'मैक्समूलर' का महत्त्वपूर्ण कार्य है—जनसामान्य को भाषाविज्ञान से परिचित कराना। भाषाविज्ञान पर पर्याप्त कार्य हो जाने पर भी अभी तक उसका प्रचार नहीं हुआ था। १८६१ ई० के आसपास इन्होंने 'रॉयल इंस्टीट्यूट' के तत्त्वावधान में भाषाविज्ञान पर नौ भाषण दिये थे, जो बाद में पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुए। इन भाषणों का क्लासिकल महत्त्व है तथा इनकी शैली इतनी सरल एवं प्राञ्जल है कि उससे भाषाविज्ञान को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

(३) भाषाविज्ञान के क्षेत्र में "मैक्समूलर' का कोई मौलिक योगदान नहीं है, किन्तु, इन्होंने भाषाविज्ञान के विभिन्न अङ्गों पर हुए कार्य का परिचयात्मक संग्रह, बहुत सुन्दर एवं उपयोगी ढङ्ग से, किया है। भाषा की उत्पत्ति, भाषा की प्रकृति, भाषाओं का वर्गीकरण, भाषा का विकास तथा विकास के कारण आदि विषयों पर हुए कार्यों का बहुत ही उपयोगी संग्रह इनके उपर्युक्त भाषणों में हुआ है।

(४) इन्होंने विद्वानों का ध्यान अर्थ-विचार-सम्बन्धी कार्य की ओर आकृष्ट किया है।

(५) आर्यों के मूल उद्गम स्थान पर इन्होंने विस्तृत कार्य किया तथा आर्यों की भाषा आदि के आधार पर मध्य एशिया को आर्यों का मूल स्थान निश्चित किया है।

(६) इन्होंने 'नागरी लिपि' के प्रचार के लिए भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उससे पूर्व, यूरोप में तो क्या भारत में भी सर्वत्र नागरी लिपि का प्रचार नहीं था। इनके प्रयासों के परिणामस्वरूप भारत तथा यूरोप में संस्कृत के लिए नागरी लिपि का प्रयोग होने लगा तथा उसकी वैज्ञानिकता की भी प्रशंसा हुई।

इस प्रकार कोई मौलिक कार्य न करके भी मैक्समूलर ने अपने समय तक हुए भाषावैज्ञानिक कार्य का रोचक शैली में संकलन तथा प्रचार किया है।

विलियम ड्वाइट ह्विटनी (William Dwight Whitney)—सन् १८३७-९४ ई०)—भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले अमेरिकी विद्वानों में 'ह्विटनी' सर्वप्रथम हैं। 'मैक्समूलर' से इनकी बड़ी प्रतिद्वन्द्विता थी। अपने कटु आलोचक स्वभाव के कारण ही ये मृदुभाषी मैक्समूलर से अधिक ख्याति प्राप्त नहीं कर सके थे।

'ह्विटनी' संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ तथा वैयाकरण थे। इनका "संस्कृत-व्याकरण"[1] नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ सन् १८७९ ई० में प्रकाशित हुआ था।

भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों पर इन्होंने दो ग्रन्थों का प्रणयन किया है—

१. "A Sanskrit Grammar."

(१) "भाषा और उसका अध्ययन"[१] जो सन् १८६७ ई० में प्रकाशित हुआ, तथा (२) "भाषा का जीवन और विकास"[२], जो सन् १८७५ ई० में प्रकाशित हुआ।

मैक्समूलर तथा ह्विटनी की तुलना—ये दोनों १९वी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् एवं विचारक हैं। 'मैक्समूलर' जर्मन थे तथा ह्विटनी' अमेरिकन। दोनों ही विद्वानों ने भाषाविज्ञान को कोई मौलिक देन तो नहीं दी, किन्तु उसके प्रचार में दोनों ने ही पर्याप्त योगदान किया है।

'मैक्समूलर' स्वभाव से मृदु थे। उनकी शैली भी मनोरञ्जक थी। नीरस विषय को भी वे सरस रूप में प्रस्तुत करते थे। 'मैक्समूलर' की अपेक्षा 'ह्विटनी' गम्भीर प्रकृति के थे। विद्वता की दृष्टि से भी वे मैक्समूलर से आगे थे। किन्तु ,कटु, आलोचक होने, मैक्समूलर से प्रतिद्वन्द्विता रखने तथा अंग्रेजी शासन से प्रोत्साहन न मिलने के कारण वे मैक्मूलर से अधिक ख्याति प्राप्त नहीं कर सके।

'ह्विटनी' ने मैक्समूलर के अनेक काल्पनिक सिद्धान्तों का खण्डन करके उन्हें संशोधित किया है। उन्होंने मैक्समूलर द्वारा किये गये उद्धरणों के दुरुपयोग की भी कटु आलोचना की है। इसके प्रतिकारस्वरूप मैक्समूलर ने ' Chips from a German Workshop" नाम से एक पुस्तक लिखी, जिसमें ह्विटनी के आक्षेपों का उत्तर दिया था। इसके भी प्रत्युत्तर में 'ह्विटनी' ने पुनः "मैक्समूलर और भाषाविज्ञान" नामक रचना लिखी थी।

भाषा की परिभाषा के विषय में मैक्समूलर और ह्विटनी में बड़ा मतभेद था। मैक्समूलर भाषा को भूत-विज्ञान मानते थे, जबकि ह्विटनी उसे मानवीय उद्योगों का परिणाम मानते थे।

संक्षेप में. दोनों में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी, भाषाविज्ञान के प्रचार में दोनों ने ही महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उनकी पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना से भी भाषाविज्ञान का बहुत उपकार हुआ है।

(iii) यूरोपीय आधुनिक भाषाविज्ञान का नव्ययुग--(सन् १८५६ से १९२० ई०तक)

इस युग में भाषाविज्ञानियों की एक नवीन शाखा का उदय हुआ, जिन्हें प्राचीन भाषाविज्ञानियों नें "नौसिखिए वैयाकरण"[३] कहा है। इस युग का प्रथम विद्वान् स्टिंथल (Hermann Steinthal) था। इसने एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की, जिसमें व्याकरण, मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का दिवेचन है। इन्होंने, प्रथम वार भाषा के अध्ययन में मनोविज्ञान के महत्त्व को आँका है।

कार्ल ब्रुगमैन (Karl Brugmann)—नव्ययुग के भाषाविज्ञानियों में 'ब्रुगमैन' का नाम सर्वोपरि माना जाता है। पहले इन्होंने 'हरमान् आस्टाफ़' (Hermana Osthaff) नाम के विद्वान् के साथ मिलकर शोध-कार्य किया था। उनके शोध-कार्य के

१. "Language and it's study"

२. "The Life and Growth of Lagnuage".

३. जर्मन 'junggrammatiker' अंग्रेजी 'Young Grammarians',

परिणाम 'रूपविचारात्मक अनुसन्धान'[१] नामक ग्रन्थ में प्रकाश में आये हैं। यह ग्रन्थ सन् १८७८ ई० में प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ था तथा ५ खण्डों में समाप्त हुआ है।

'कार्लब्रुगमैन' का दूसरा प्रसिद्ध तथा विशाल ग्रन्थ है—"भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण का लघु विश्वकोश"[२]। यह ग्रन्थ भी ५ खण्डों में है तथा इसका प्रथम खण्ड सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ के अन्तिम तीन खण्ड इन्होंने 'डेल्ब्रूक' के सहयोग से लिखे थे। इन खण्डों का विषय "तुलनात्मक वाक्यविचार" है।

'कार्ल ब्रुगमैन' तथा 'डेलब्रूक' की उपर्युक्त कृति का भाषाविज्ञान के इतिहास में बहुत महत्त्व है। आज भी इसकी तुलना में कोई अन्य ग्रन्थ नहीं आता है। इसमें अपने समय तक की सभी सामग्री को सम्मिलित किया गया था, भले ही उसका सम्बन्ध किसी भी भाषाशास्त्रीय सम्प्रदाय से हो। इसमें उन समस्याओं की ओर भी संकेत किया गया है कि जिनका समाधान अभी तक नहीं हो पाया था।

यद्यपि बाद के अध्ययन के परिणामस्वरूप ब्रुगमैन के ग्रन्थ में अनेक दोष सामने आये; उदाहरणतया, बहुत-से शब्दों तथा धातुओं की व्युत्पत्ति इसमें अनुमान के आधार पर ही दे दी गयी थी; तथापि इसमें उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक है कि भावी विद्वान् उससे बहुत लाभ उठा सकते हैं। 'कार्लब्रुगमैन' की अनेक भ्रान्तियों में अब सुधार कर दिया गया है।

'ब्रुगमैन' का प्रसिद्ध अनुनासिक सिद्धान्त (Sonat Nasal Theory) भी महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा ग्रिम-नियम में प्राप्त अनेक अपवादों का समाधान हुआ है।

डेलब्रूक—(B. Delbruk)—'कार्ल ब्रुगमैन' के साथ किये गये उपर्युक्त कार्य के अतिरिक्त 'वाक्यविचार' पर इन्होंने पर्याप्त लिखा है। ध्वनि-नियमों को निरपवाद मानने वालों में भी इनकी गणना होती है।

'ग्रासमैन' तथा 'वर्नर' (Hermann Grassmann & Karl Verner)—'ग्रिम' के ध्वनि-नियम में प्राप्त कुछ अपवादों का निराकरण 'ग्रासमैन' ने अपने संशोधन द्वारा किया है तथा उसके बाद भी अवशिष्ट अपवादों का समाधान 'वर्नर' द्वारा किया गया है।[३]

इस युग के अन्य प्रसिद्ध विद्वानों में 'ब्रील', पीटर्सन', 'सास्यूर', 'स्टुर्टवाण्ट' तथा तथा 'उलेनबेक' आदि हैं।

नव्ययुग की कुछ प्रमुख मान्यताएं इस प्रकार हैं—

(१) जीवित भाषाओं का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना प्राचीन (Classical) भाषाओं का।

---

२. "Morphologische Untersuchungen".

२. "Grundriss der Vergleischenden Grammatic der Indo-Germanischen Sprachen".

३. विस्तार के लिए देखिए ध्वनि-नियम।

(२) भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करना नितान्त व्यर्थ है।

(३) भाषा के भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार, दोनों एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् है। अतः, ध्वनि-परिवर्तन आदि के प्रसङ्ग में इन दोनों ही आधारों को ध्यान में रखना चाहिए। भाषा में दृष्टिगोचर होने वाली अनेक अनियमितताओं का कारण वस्तुतः मनोवैज्ञानिक ही होता है।

(४) भाषा के विकास में सादृश्य का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। भाषा के विकास में यह सदैव क्रियाशील रहता है।

(५) विश्व में कोई भी भाषा अथवा बोली विशुद्ध नहीं है। जातियों के पारस्परिक मिश्रण से भाषाओं में भी मिश्रण अवश्यम्भावी है।

(६) वाक्यविज्ञान का भी अध्ययन होना चाहिए।

(७) ध्वनि-नियम अपवादरहित होते हैं। उनमें जो अपूर्णता या अपवाद दृष्टिगोचर होते हैं, उनका कारण हमारा भाषा सम्बन्धी अपूर्ण ज्ञान है।

(८) ध्वनि तथा अर्थ, क्रमशः भाषा के बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग है। अतः, दोनों पर स्वतन्त्र विचार होना चाहिए।

वाकरनागल (Jacob Wackernagel)—यूरोपीय विद्वान् 'वाकरनागल' मूलभारोपीय भाषा के अर्वाचीन अध्येताओं में से एक हैं। इनका समय सन् १८५३–१९४० ई० तक है। डॉ० तारापुरवाला ने इन्हें योरोपीय प्राच्यविदों में सर्वश्रेष्ठ एवं योग्यतमों में से एक माना है—"He was one of the finest among the European Indologists, and he was certainly one of the ablest,"।[1] भारतीय प्राच्यविद्या के अतिरिक्त ईरानी विषयों में भी इनकी पर्याप्त रुचि थी। 'जरथुष्ट्र' की मूल गाथाओं की पुनः रचना में उन्होंने एन्ड्रीज' (Andreas) के साथ सहयोग भी किया था।

संस्कृत भाषा पर इनका तुलनात्मक व्याकरण "अल्तिन्दिश्के ग्रामतीक"[2] असन्दिग्ध रूप से, बहुत महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें संस्कृत व्याकरण को बहुत ही विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रथम भाग सन् १८९६ ई० में, द्वितीय भाग सन् १९०५ ई० में तथा तृतीय भाग सन् १९३० ई० में प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग में सस्कृत भाषा की ध्वनियों के विस्तृत विवेचन के साथ ही सन्धि-नियमों को भी स्पष्ट किया गया है। संस्कृत-ध्वनियों में इन्होंने 'ङ्' को पृथक् ध्वनि माना है तथा 'छ्' ध्वनि को 'च्' का महाप्राण रूप न मानकर 'श्' ध्वनि का महाप्राणरूप माना है।

द्वितीय भाग में प्रातिपदिक (मूल संज्ञा शब्द) तथा समासों पर विचार किया गया है। समासों में ये ३ समासों को ही प्रमुख मानते हैं—द्वन्द्व, तत्पुरुष, (कर्मधारय सहित) तथा बहुव्रीहि। 'द्विगु' को ये 'कर्मधारय' समास का ही एक (संख्या वाला) रूप मानते हैं, तथा अव्ययीभाव को उन्होंने 'बहुव्रीहि' या 'कर्मधारय' से ही विकसित माना है।[3] 'वाकरनागल' के अनुसार बहुव्रीहि समास का विकास भी वस्तुतः, व्यस्त

1. Elements of Science of Language, Page. 72.
2. Altindische Grammatik.
3. Altindinche Grammatik, Vol. II, p. 305 and 310.

रूपों से ही हुआ है, यथा, 'इन्द्रज्येष्ठा देवा:' को ये 'इन्द्रो ज्येष्ठः···देवा:' से विकसित मानते हैं।[1]

इनके व्याकरण के तृतीय भाग का विषय संज्ञा, सर्वनाम तथा संख्यावाचक शब्दरूपों से सम्बन्धित है। इस भाग की रचना में इन्होंने एक अन्य विद्वान् 'अल्बर्ट डेब्रुनर' (Albert Deberuner) से भी सहयोग लिया है। संस्कृत 'भवान्' शब्द को वाकरनागल 'भगवान्' शब्द का ही संक्षिप्त वैकल्पिक रूप मानते हैं। इस प्रकार 'भगवान् गच्छति' ही 'भवान् गच्छति' हो गया है।[2] इस तृतीय भाग की प्रस्तावना से सूचित होता है कि इन तीनों भागों के अतिरिक्त एक अन्य भाग में, दूसरे भाग के ही विषय को पूर्णता-प्रदान करने का तथा चौथे एवं अन्तिम भाग में, क्रिया तथा क्रियाविशेषण पर विचार करने का लक्ष्य रक्खा गया था। अन्तिम दोनों भागों का उद्देश्य 'वाकरनागल' द्वारा लगभग ५० वर्षों में एकत्रित व्याकरण-सामग्री को प्रस्तुत करना था। किन्तु, सम्भवतः अन्तिम दोनों भाग प्रकाश में नहीं आ पाये हैं।

'वाकरनागल' का यह ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण के तुलनात्मक अध्ययन के लिए आदर्श ग्रन्थ माना जाता है। इसमें लेखक ने संस्कृत के व्याकरणिक रूपों की तुलना स्थान-स्थान पर अन्य भारोपीय भाषाओं, विशेषत: ग्रीक, लैटिन, फारसी आदि के व्याकरणिक रूपों से की है। यही कारण है कि संस्कृत भाषा का कोई भी अध्येता अपने गवेषणा-कार्य में 'वाकरनागल' के इस ग्रन्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता।

(iv) यूरोपीय आधुनिक भाषाविज्ञान का वर्तमानयुग (सन् १९११ ई० से आगे)

ल्योनार्ड ब्लूमफील्ड (Leonard Bloomfield)—'ब्लूमफील्ड' अमेरिकी भाषाविज्ञानी थे। इनका समय सन् १७८७ से १९४९ ई० तक है। आपने 'हार्वर्ड', 'विस्कान्सिन', 'शिकागो' तथा जर्मनी के 'लाइपज़िग' तथा 'गार्टिजन' विश्वविद्यालयों में शिक्षा पायी थी।

भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आपने एक अध्यापक के रूप में प्रवेश किया था। सर्वप्रथम, विस्कान्सिन' एवं 'शिकागो' विश्वविद्यालयों में आपने जर्मन भाषा का अध्यापन-कार्य किया। इसके बाद सन् १९१३ से १९२१ ई० तक अमेरिका के 'इलिनॉयस विश्वविद्यालय' में भाषा तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के और उसके भी बाद 'ओहायो विश्वविद्यालय' में भाषाशास्त्र और जर्मन भाषा के प्राध्यापक के रूप में आपने भाषाविज्ञान की सेवा की है।

पुनः, सन् १९२७ ई० में ब्लूमफील्ड 'शिकागो 'विश्वविद्यालय' में जर्मनिक भाषाविज्ञान के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। फिर सन् १९४० ई० से अपने जीवन के अन्त तक आप 'येल विश्वविद्यालय' में ही रहे।

'ब्लूमफील्ड' अमेरिका में वर्णनात्मक-भाषाविज्ञान के प्रवर्तक माने जाते हैं।

---

१. Altindische Grammatik, p. 290 112 [c]

२- Altindiche Grammatik, page 487, 139 [c

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "लैंग्वेज" (Language) इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। अमेरिकन आदिवासियों की बोलियों का इन्होंने गहन अध्ययन किया था। अमेरिका में 'ब्लूमफील्ड स्कूल' नाम से उनके भाषाविज्ञान-सम्बन्धी विचारों को मान्यता दी जाती है।

'ब्लूमफील्ड' भाषाविज्ञान के अध्यापक होने के साथ ही साथ भाषाविज्ञान के लेखक भी थे। भाषाविज्ञान पर अनेक लेख एवं पुस्तकें उन्होंने लिखीं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'लैंग्वेज' सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुई थी, जो सम्पूर्ण अमेरिका में भाषा-विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक के रूप में सम्मानित हुई है। इसमें लेखक ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति का सर्वेक्षण एवं विवरण बहुत ही सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। इनके युग के नवयुवक भाषाविज्ञानियों को इससे प्रेरणा मिली है। 'बर्नर्ड ब्लॉक' नामक एक विद्वान् ने 'लैंग्वेज' ग्रन्थ की प्रशंसा इन शब्दों में की है—

"सन् १९३० ई० से इस देश (सयुक्तराज्य अमेरिका) में भाषा-विश्लेषण सम्बन्धी जो भी सूक्ष्म विचार प्रादुर्भूत हुए, उनकी प्रेरणा ब्लूमफील्ड की कृति से ही मिली है। आज यदि हमारी अध्ययन-प्रणाली पहले की अपेक्षा किंचित् समुन्नत है और हम भाषा-संरचना के कतिपय पक्षों को पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्टरूप से देखने लगे हैं, तो इसका कारण भी ब्लूमफील्ड की कृति ही है।"[1]

'ब्लूमफील्ड' के भाषा-सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) **ध्वनिपरिवर्तन की नियमितता**—'ब्लूमफील्ड' ने भाषा तथा स्वनिक-परिवर्तनों को स्पष्टतया पृथक्-पृथक् दो तत्त्व माना है। उन्होंने सिद्ध किया है कि "सकारण ध्वनिपरिवर्तन स्वनिक (Phonetic) होते हैं और ये अर्थ (meaning), आवृति (frequency) तथा सामंजस्य (harmony) जैसे अस्वनिक तत्त्वों से स्वतन्त्र होते हैं।[2] 'ब्लूमफील्ड' ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी नियमितता के कारण ही भाषाविज्ञान को यथार्थ रूप में विज्ञान मानते थे।

(२) **भाषाविज्ञान तथा मनोविज्ञान पृथक्-पृथक् हैं**—स्वनिम-परिवर्तन का अध्ययन करते हुए उन्होंने भाषाविज्ञान को मनोविज्ञान से पृथक् सिद्ध किया है। स्वनिम-परिवर्तन में उन्होंने मनोविज्ञान को कारण नहीं माना है तथा स्पष्ट किया है कि मनोविज्ञान को पृथक् रखते हुए भी भाषा का अध्ययन किया जा सकता है।

(३) **वैज्ञानिक एवं वर्णनात्मक वक्तव्य**—'ब्लूमफील्ड' के अनुसार वक्तव्य ऐसे होने चाहियें, जो मनोविज्ञान से बिलकुल असंपृक्त तथा भौतिक धरातल पर परीक्षण के योग्य हों। वस्तुतः, भाषा की विश्लेषण-प्रक्रिया तथा गणित की विश्लेषण-प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। दोनों में ही तर्कपूर्णता तथा स्पष्टता आवश्यक है।

(४) **भाषाविश्लेषण में अर्थ का समावेश**—'ब्लूमफील्ड' तथा उनके अनुयायी भाषा-विश्लेषण में अर्थ के कुछ रूपों एवं पक्षों को आवश्यक प्रक्रिया स्वीकार करते हैं।

---

१. भाषाविज्ञान, मैक्समूलर, डॉ० उदयनारायण तिवारी-कृत अनुवाद, पृ० ५२४

२. वही, पृ० वही।

(५) भाषाविज्ञान-का क्षेत्र-विस्तार—'ब्लूमफील्ड' से पूर्व अनेक वर्षों तक भारोपीय परिवार की भाषाओं का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन ही प्रायः किया जाता था, वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का कुछ भी वैज्ञानिक महत्त्व नहीं था। 'बोआज़' तथा 'सपीर' नाम के विद्वानों से प्रेरणा प्राप्त करके 'ब्लूमफील्ड' ने अमेरिका में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित किया, उसे मान्यता दिलायी तथा उसका प्रचार किया। सन् १९२० ई० में अमेरिका के आदिवासियों की भाषाओं का, सन् १९२०-२१ में 'मेनोमिनी' भाषा का, सन् १९२५ तथा १९३८ ई० में 'क्री' तथा 'ओजिव्वा' भाषाओं का 'ब्लूमफ़ील्ड' ने स्वयं ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक दृष्टि से गहन अध्ययन किया था। तब से अमेरिका में वर्णनात्मक अध्ययन को ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इस प्रकार 'ब्लूमफील्ड' ने भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के साथ साथ वर्णनात्मक अध्ययन को भी महत्त्व दिलाकर भाषाविज्ञान के क्षेत्र का विस्तार किया है।

ओट्टो जेस्पर्सन (Otto Jespersen)—डेनिस विद्वान् 'ओटो जेस्पर्सन' ने भाषा-विषयक कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें से निम्नलिखित बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) "Language : It's Nature, Development and Origin (भाषा : इसकी प्रकृति, विकास तथा उत्पत्ति)। इसका प्रकाशन सन् १९२२ ई० में हुआ। इस ग्रन्थ के चार भागों के शीर्षक क्रमशः (i) भाषाविज्ञान का इतिहास, (ii) बच्चा, (iii) व्यक्ति और विश्व, तथा (iv) भाषा का विकास हैं।

प्रथम तथा चतुर्थ अध्याय का विषय उनके शीर्षकों से ही स्पष्ट है। द्वितीय अध्याय में भाषिक विकास की दृष्टि से बच्चे का अध्ययन तथा तृतीय अध्याय में प्रमुख रूप से भाषा-परिवर्तन के कारण दिये गये हैं।

(२) द्वितीय रचना—"The Philosophy of Grammar" (व्याकरण-दर्शन)–इसका प्रकाशन सन् १९२४ ई० में हुआ था। इसमें व्याकरण के दार्शनिक आधार को विचार का विषय बनाया गया है।

(३) तृतीय रचना—"The Essentials of English Grammar" अंग्रेजी व्याकरण के आवश्यक तत्त्व)–इसका प्रकाशन सन् १९३३ ई० में हुआ था। यह ग्रन्थ अंग्रजी व्याकरण के ज्ञान के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है, तथा अंग्रेजी-व्याकरण के क्षेत्र में 'जेस्पर्सन' को इससे बहुत यश प्राप्त हुआ है।

(४) चतुर्थ रचना—"Analytic Syntax" (विश्लेषणात्मक वाक्यविज्ञान), इसका प्रकाशन सन् १९३७ ई० में हुआ था। इसका विषय इसके नाम से ही स्पष्ट है।

इस प्रकार 'जेस्पर्सन' ने भाषा का विकास, भाषा की उत्पत्ति, व्याकरण तथा उसका दर्शन, अंग्रेजी भाषा का व्याकरण तथा वाक्यविज्ञान पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

'ओट्टो जेस्पर्सन' की उपर्युक्त चारों कृतियों में "Language–It's Nature, Development and Origin" (भाषा–उसकी प्रकृति, विकास तथा उत्पत्ति) नामक

रचना भाषाविज्ञान के पाठकों के लिए बहुत ही उपयोगी मानी जाती है। 'जेस्पर्सन' की कुछ मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

(१) "जेस्पर्सन के अनुसार भाषा, अभिव्यक्ति का एक ढंग अथवा प्रकार है। इसके माध्यम से वक्ता अपने विचारों अथवा भावों को श्रोता तक पहुँचाता है और यह प्रक्रिया मानव-जीवन में, आवश्यकतानुसार सदैव परिचालित रहती है।"[1]

(२) 'जेस्पर्सन' भाषाविज्ञान को 'भाषात्मक प्राणिशास्त्र' (Linguistic Biology) मानते हैं। उन्होंने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है कि बच्चा अपनी मातृभाषा को किस रूप में सीखता है।[2]

(३) भाषा की विशेषीकरण या सरलता की प्रवृत्ति को वे भाषा की विकासवती प्रवृत्ति मानते हैं तथा उसे लाभदायक स्वीकार करते हैं।[3]

(४) 'जेस्पर्सन' के अनुसार भाषा सम्बन्धी अध्ययन में रूप तथा अर्थ— ये दो पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं हैं।[4]

(५) भाषा-परिवर्तन के कारणों में, वे भौगोलिक प्रभाव को स्वीकार नहीं करते हैं।[5]

(६) भाषाशास्त्र के अध्ययन में संस्कृत भाषा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए[6] उन्होंने भारत के प्राचीन वैयाकरणों की अत्यधिक प्रशंसा की है।[7]

'जेस्पर्सन' के अतिरिक्त वर्तमानकाल के अन्य प्रसिद्ध विद्वान् हैं—'हेनरी स्वीट' (Henry Sweet) 'अ० मेइये' (A. Meillet), 'वान्द्रिये' (Vendryes), तथा 'डेनियल जोन्स' (Daniel Jones) आदि-आदि।

भाषाविज्ञान के अध्ययन की वर्तमान प्रवृत्तियाँ

अन्य अनेक विषयों की भाँति ही वर्तमानकाल में भाषाविज्ञान विषय का भी बहुमुखी विकास हो रहा है। आज वह स्वयं ही नहीं, अपितु उसका एक एक अङ्ग पृथक्-पृथक् अध्ययन का स्वतन्त्र विषय बन चुका है।

आज भाषाविज्ञान के लिये प्रयोगशालाएँ बन गयी हैं। अनेक यन्त्रों से भाषाओं के अध्ययन में सहायता ली जाती है। कम्प्यूटर भी प्रयोग में लाया जाता है।

भाषाविज्ञान विषय के क्षेत्र का विस्तार इतनी तीव्र गति से हो रहा है कि

---

१. भाषाविज्ञान, मूल लेखक मैक्समूलर, अनुवादक डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० ५२८।

२. Language : It's nature, Development and Origin, Preface, Page. 8.

३. वही, पृ० ३६६।

४. वही, पृ० ११३।

५. वही, पृ० २५७।

६. वही, पृ० ३३।

७. वही, पृ० २०।

आज किसी भी एक व्यक्ति के लिए उसका समग्ररूप में अध्ययन कठिन है। अतः, भाषाविज्ञान की पृथक्-पृथक् शाखाओं को लेकर विशेष अध्ययन की प्रवृत्ति चल रही है।

भाषाविज्ञान की पूर्व प्रचलित तथा नवविकसित शाखाओं तथा उन सभी पर कार्य करने वाले विद्वानों की संख्या आज बहुत बड़ी है, उन सबका विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है और न ही अपेक्षित है।

उपसंहार—इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में भारत में भाषाविज्ञान-सम्बन्धी बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ था और इस क्षेत्र में वह विश्व का शिरोमणि था। आधुनिक काल में भाषाविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र सर्वप्रथम 'जर्मन' देश था। उसके बाद 'फ्रांस' इसका केन्द्र रहा। आजकल, 'अमेरिका' भाषाविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र बना हुआ है। 'अमेरिका' में भाषाविज्ञान के अध्ययन की जितनी अधिक प्रगति हुई है, वह वस्तुतः ही आश्चर्य एवं गौरव का विषय है। हमें आशा करनी चाहिए कि हमारा देश भी इस क्षेत्र में पुनः अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने की ओर अग्रसर होगा। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने पूर्वजों, प्राचीन ऋषियों, मुनियों वैयाकरणों, दार्शनिकों एवं साहित्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों का अध्ययन, आस्था एवं गम्भीरतापूर्वक करें। उन्होंने शिक्षा-ग्रन्थों, प्रातिशाख्य-ग्रन्थों, निरुक्त-ग्रन्थों तथा व्याकरण ग्रन्थों में जो प्रस्तुत किया है, उसरा सूक्ष्म विवेचन करें। पाश्चात्य विद्वानों के अन्धानुकरण की अपेक्षा हमारे लिए वह अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। कम से कम भाषाविज्ञान विषय की पारिभाषिक शब्दावली के लिए तो हमें सदैव उपर्युक्त ग्रन्थों का ही आश्रय लेना चाहिए। हाँ, नई विकसित वैज्ञानिक कार्यप्रणाली (Technique) के लिए यदि हम पाश्चात्य देशों की यात्रा भी करें, तो कोई हानि नहीं है।

आजकल, भाषाविज्ञान का अध्ययन करने वाले कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा, अपने प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिक कार्य का मूल्यांकन इस दिशा में एक शुभ लक्षण माना जा सकता है। डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, डॉ० सत्यकाम वर्मा आदि इस दृष्टि से यहाँ उल्लेखनीय हैं। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का 'भारतीय भाषाविज्ञान,' आधुनिक भारतीय भाषा हिन्दी तथा उसकी बोलियों पर भाषाविज्ञान की दृष्टि से लिखी गयी नितान्त मौलिक कृति है। इस क्षेत्र में अभी असंख्य विद्वानों एवं असीम साधनों की आवश्यकता है। अतः, इस दिशा में योजनाबद्ध रूप से कार्य होना आवश्यक है।

———

[अध्याय १४]

लिपि का विकास तथा देवनागरी लिपि

[अध्याय १४]

लिपि का विकास तथा देवनागरी लिपि

१. प्रस्तावना

भाषा की उत्पत्ति के समान ही लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित ही है कि लिपि की उत्पत्ति भाषा की उत्पत्ति के बहुत बाद हुई है, किन्तु कब हुई? इस विषय में, अनुमानतः यही कहा जाता है कि मानव ने सभ्यता के विकास के साथ ही, आज से लगभग ५—६ हजार वर्ष पूर्व ही, लिपि का आविष्कार किया होगा।

लिपि की अपूर्णता—जिस प्रकार भाषा, भावों को पूर्णतया अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती हैं, उसी प्रकार लिपि के द्वारा भी उच्चरित भाषा की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। उदाहरणार्थ, काकु (लहजा) आदि के द्वारा उच्चरित भाषा में उत्पन्न विशेषताओं को लिपि के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है।

ध्वनि तथा वर्ण का सम्बन्ध—जिस प्रकार शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध यौक्तिक न होकर रूढ़ होता है, उसी प्रकार ध्वनि तथा वर्ण (लिपिसंकेत) का सम्बन्ध भी रूढ़ ही होता है। यही कारण है कि एक ही ध्वनि (क्, प्, त् आदि) के लिये विभिन्न लिपियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के संकेतों (लिपिचिह्नों) का व्यवहार होता है। जैसे, देवनागरी के 'प्' के लिये रोमन लिपि में P का प्रयोग होता है।

२. लिपि का विकास

लिपि के विकास की तीन दशाओं को विद्वानों ने स्वीकार किया है—(१) चित्रलिपि, (२) भावलिपि तथा (३) ध्वनिलिपि। इनका परिचय, क्रमशः इस प्रकार है—

१. चित्रलिपि—लिपि का यह प्राचीनतम रूप माना जाता है। प्राचीन मानव जिस वस्तु को लिपिबद्ध करना आवश्यक समझता था, वह उसको चित्रित कर देता था। इस लिपि में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को लिखने के लिये उनके चित्र बना दिये जाते थे।

चित्रलिपि के गुण तथा दोष

चित्रलिपि का सबसे बड़ा तथा एकमात्र गुण था—उसकी सर्वबोध्यता। चित्रलिपि में लिखित वस्तु को प्रत्येक व्यक्ति सरलता से ही समझ सकता था, जबकि ध्वनिलिपि में लिखित वस्तु को वही व्यक्ति समझ सकता है, जो उस लिपि को जानता हो। उदाहरणार्थ, कुत्ते या बिल्ली के चित्र को देखकर सभी व्यक्ति उसे

पहचान सकते हैं, जबकि देवनागरी लिपि में लिखे 'बिल्ली' या रोमन लिपि में लिखे 'cat' को वही व्यक्ति जान सकता है, जो इन भाषाओं तथा लिपियों से परिचित हो।

उपर्युक्त एक गुण के अतिरिक्त चित्रलिपि में दोषों की संख्या बहुत है, जिन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(i) **लिपिसंकेतों की अनन्तता**—चित्रलिपि में प्रत्येक वस्तु के लिये उसी वस्तु जैसा चित्र बनाने के कारण उसमें संकेतों की अनन्तता थी। उसमें 'मनुष्य' के चित्र से 'पशु' का, तथा 'हाथी' के चित्र से 'घोड़े' का ज्ञान नहीं हो सकता था।

(iii) **लिपिसंकेतों की पृथक्ता**—प्रत्येक वस्तु का चित्र बनाने के कारण चित्र-लिपि में प्रत्येक लिपिसंकेत का परस्पर पृथक् होना आवश्यक था। मनुष्य, घोड़ा; कुत्ता आदि को पृथक्-पृथक् चित्रों से व्यक्त करना पड़ता था।

(iii) **स्थानसाध्य**—चित्रलिपि के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता होती थी तथा अधिक साधन भी आवश्यक थे।

(iv) **समयसाध्य**—वस्तुओं के चित्र बनाने में समय भी अधिक लगता था।

(v) **असमर्थता**—चित्रलिपि सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णतया असमर्थ थी। स्थूल या मूर्त वस्तुओं के तो चित्र बन सकते थे, किन्तु श्रद्धा, प्रेम, उत्साह आदि भावों को उसमें व्यक्त नहीं किया जा सकता था।

(२) **भावलिपि**—चित्रलिपि के उपर्युक्त दोषों तथा अभावों के कारण, मनुष्य लिपि की खोज में निरन्तर अग्रसर रहा तथा आगे चलकर भाव या विचार-लिपि अस्तित्व में आयी। कारण, चित्रलिपि में सभी व्यक्ति, सभी चित्रों को ठीक-ठीक नहीं बना पाते थे। शनैः-शनैः पूर्ण चित्रों का स्थान अपूर्ण चित्रों ने ले लिया। अधिक स्थान, समय तथा सामग्री की अपेक्षा कम स्थान, समय तथा सामग्री से काम चलाया जाने लगा। उदाहरणार्थ मनुष्य का पूरा चित्र न बनाकर दो-चार बिन्दुओं तथा रेखाओं से ही मनुष्य को अभिव्यक्त किया जाने लगा। विशिष्ट समाज में कुछ निश्चित चित्र-जैसे चिह्नों से कुछ निश्चित भावों का बोध कराया जाने लगा। इस प्रकार लिपि में लाघवता आ गयी तथा चित्रलिपि का स्थान भावलिपि ने ले लिया।

यद्यपि चित्रलिपि की अपेक्षा भावलिपि में कुछ सुविधाएँ थीं; उदाहरणार्थ; उसमें अधिक संक्षिप्तता थी। उसमें वस्तुओं के साथ ही साथ घटनाओं को भी लिखा जा सकता था। इस प्रकार कम संकेतों में अधिक बात प्रकट करने की क्षमता भाव-लिपि में थी। किन्तु, मनुष्य इतने से सन्तुष्ट नहीं हुआ तथा आगे चलकर उसने ध्वनिलिपि का आविष्कार किया।

(३) **ध्वनि लिपि**—लिपि के विकास में अन्तिम तथा महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—ध्वनिलिपि। इसमें पूर्ण तथा अपूर्ण चित्रों के स्थान पर ध्वनियों को लिखा जाता है। भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों के लिये ध्वनि-चिह्नों (वर्णों) का प्रयोग होता है तथा उनके द्वारा भावों-विचारों को अभिव्यक्त किया जाता है। देवनागरी, अरबी तथा रोमन आदि लिपियाँ इसी प्रकार की हैं।

३. सबसे प्राचीन लिपि का प्रश्न

यह प्रश्न उतना ही विवादास्पद है, जितना कि भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न या आर्यों के मूल निवास-स्थान का प्रश्न। कल्पना, अनुमान तथा पूर्वाग्रहों के कारण यह प्रश्न बहुत ही उलझ गया है। उदाहरण के लिये, कुछ विद्वान, यदि ग्रीक लिपि से फिनीशी लिपि का उद्भव मानते हैं, तो कुछ दूसरे, फिनीशी लिपि से ग्रीक लिपि का विकास स्वीकार करते हैं। यह एक उदाहरण ही लिपि-सम्बन्धी विभिन्न देशीय विद्वानों की विचारधारा को समझने के लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि को भी विदेशी, विशेषत: सामी लिपि से उद्भूत प्रतिपादित करने का असफल प्रयास किया है।

लिपियों के उद्गम के सम्बन्ध में डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा का मत है कि "आज की प्रचलित लिपियों को देखते हुए उनका स्वतन्त्र उद्गम मानना अधिक उचित होगा। यदि सभ्यता का विकास स्वतन्त्ररूप से हो सकता है तो लिपि का विकास क्यों नहीं हो सकता? आज संसार में प्रचलित लिपियों को देखते हुए उनके चार स्वतन्त्र उद्गम मानना अधिक अच्छा है। वे चार लिपियाँ हैं—भारतीय, यूरोपीय, सामी, चीनी। इन चारों में इतना स्पष्ट पार्थक्य है कि इन्हें एक श्रोत से सम्बद्ध मानना असंगत है। सम्भव है, किसी लिपि के एक-दो संकेत किसी दूसरी लिपि में भी आ गये हों, परन्तु इतने से ही उनमें जन्य-जनक भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। ब्राह्मी लिपि से भारत की सभी लिपियाँ निकली हैं, यह इतिहास-सिद्ध है। × × × यूरोप की सभी लिपियाँ अल्पाधिक परिवर्तन के साथ ग्रीक-लिपि का ही रूपान्तर हैं। सामी से उद्भूत अरबी, फारसी आदि लिपियाँ 'मध्य पूर्व' के आसपास प्रयुक्त होती रही हैं और चीन की लिपि इन सबसे विलक्षण आज भी बहुत-कुछ चित्रात्मक है।"[1]

४. भारतीय लिपि—

लिपिविज्ञान के अधिकारी विद्वान् श्री 'गौरीशंकर हीराचन्द ओझा' ने भारतीय लिपिज्ञान की प्राचीनता सिद्ध की है।[2] अतः 'श्रुति' संज्ञा के आधार पर विदेशी विद्वानों का इस निष्कर्ष पर पहुँचना युक्तिपूर्ण नहीं है कि वैदिक काल तक भारतीय लिखना नहीं जानते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से ब्राह्मी लिपि में लिखे दो शिलालेख भारत के अजमेर जिले के 'बड़ली' या 'बर्ली' ग्राम में तथा नेपाल की तराई में 'पिप्रावा' नामक स्थानों पर मिले हैं, इनका काल क्रमशः ४४३ ई० पू० तथा ४८७ ई० पू० के लगभग माना जाता है। अतः, भारत में प्राप्त ई० पू० ५ वीं शताब्दी के इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यहाँ इससे भी पहले से लिपि का प्रयोग रहा होगा। इसके बाद के, सम्राट् अशोक के शिलालेखों में भी इसी ब्राह्मी लिपि का कुछ विकसित स्वरूप प्राप्त होता है।

---

१. भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० ३४८.

२. देखिये, उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ—"प्राचीन लिपिमाला"

'ब्राह्मी' तथा 'खरोष्ठी' लिपियाँ ब्राह्मी तथा खरोष्ठी, ये दोनों भारत की प्राचीन लिपियाँ मानी जाती हैं, जिनका परिचय निम्नलिखित है :—

खरोष्ठी—इस लिपि में प्राप्त लेख ई० पू० तृतीय शताब्दी से लेकर ईसा की तृतीय शताब्दी तक के हैं। इसमें लिखे अशोक के कुछ अभिलेख केवल उत्तर-पश्चिम भारत में, पंजाब में, 'शाहबाजगढ़ी' तथा 'मानसेरा' स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। अशोक से पूर्व का कोई अभिलेख इस लिपि में प्राप्त नहीं हुआ है। तथा अशोक के बाद इस लिपि का प्रयोग केवल विदेशी राजाओं ने ही किया है। विशेषज्ञों के अनुसार भारत में इस विदेशी लिपि का विकास अशोक को इस लिए करना पड़ा था, क्योंकि उन भारतीय प्रदेशों में, उन दिनों ईरानियों का बाहुल्य था। अतः, अशोक ने उन प्रदेशों के अपने अभिलेखों में उन्हीं की लिपि का प्रयोग उचित समझा।

'खरोष्ठी' नाम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक प्रचलित मत यह है कि गधे के ओष्ठों के समान अक्षरों वाली (खर + ओष्ठी) होने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा था। इसका विकास उत्तरी सीरिया में प्रचलित उन दिनों की 'अरामी' लिपि से माना जाता है, जिसमें भारतीयों ने कुछ संशोधन कर लिया था। 'अरामी' लिपि में १२ वर्ण थे, किन्तु खरोष्ठी में वर्णों की उपलब्ध संख्या ३८ है। खरोष्ठी लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। पश्चिमोत्तर भारत के अतिरिक्त, भारत के शेष भागों में कभी इसका प्रयोग नहीं हुआ और न ही तृतीय शताब्दी के बाद का कोई अभिलेख इसमें मिला है।

ब्राह्मी—ब्राह्मी नाम की भी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं:—ब्रह्मा द्वारा निर्मित होने के कारण या (२) ब्राह्मण वर्ण के लोगों द्वारा निर्मित तथा प्रयुक्त होने के कारण या (३) ब्रह्म अर्थात् वेद (ज्ञान) के रक्षार्थ निर्मित होने के कारण ही यह ब्राह्मी लिपि कही गयी है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मतों की समीक्षा करते हुए श्री 'गौरीशंकर हीराचन्द ओझा' ने उसे भारतीय लिपि ही माना है। उन्हीं के शब्दों में—

"मनुष्य की बुद्धि में सबसे बड़े महत्त्व के दो कार्य—भारतीय ब्राह्मी लिपि और वर्तमान शैली के अकों की कल्पना है। इस बीसवीं शताब्दी में भी हम संसार की बड़ी उन्नतिशील जाति की लिपियों की तरफ देखते हैं, तो उनमें उन्नति की गंध भी नहीं पायी जाती। कहीं तो ध्वनि और उसके सूचक चिह्नों (अक्षरों) में साम्य ही नहीं है जिससे एक ही चिह्न से एक से अधिक ध्वनियाँ प्रकट होती हैं और कहीं एक ही ध्वनि के लिए एक से अधिक चिह्नों का व्यवहार होता है और अक्षरों के लिए कोई शास्त्रीय क्रम ही नहीं। कहीं लिपि वर्णात्मक नहीं, किन्तु चित्रात्मक ही है। ये लिपियाँ मनुष्य-जाति के ज्ञान की प्रारम्भिक दशा की निर्माण-स्थिति से अब तक कुछ भी आगे नहीं बढ़ सकीं; परन्तु भारतवर्ष की लिपि हजारों वर्षों पहले भी इतनी उच्चकोटि को पहुँच

गयी थी कि उसकी उत्तमता की कुछ भी समानता संसार-भर की कोई दूसरी लिपि अब तक नहीं कर सकती ।"[1]

ब्राह्मी लिपि भारतीय ही है

यद्यपि अनेक विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध चीनी, यूनानी, अरबी, सामी, असीरियन, मिस्री, फिनीशी आदि लिपियों से माना है, तथापि इतने विभिन्न मतों से ही अनुमान किया जा सकता है कि इनमें सत्य का कुछ भी अंश नहीं है । ब्राह्मी लिपि को भारतीय सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित तर्क पर्याप्त हैं:—

(१) चीनी लिपि-जैसी चित्रात्मक लिपि से ब्राह्मी का उद्भव इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि ब्राह्मी लिपि में चीनी लिपि की एक भी विशेषता नहीं है । चीनी की अपेक्षा ब्राह्मी अधिक वैज्ञानिक है—चीनी चित्रात्मक है, किन्तु ब्राह्मी ध्वन्यात्मक है ।

(२) सामी लिपि से भी ब्राह्मी का विकास नहीं माना जा सकता है । इनमें अनेक विरोधी गुण हैं—सामी दायें से बायें को लिखी जाती है, किन्तु ब्राह्मी बायें से दायें को । सामी के संकेत अपूर्ण हैं, ब्राह्मी के संकेतों में पूर्णता है । सामी में २२ वर्ण हैं, ब्राह्मी में ६३–६४ । सामी वर्णमाला में स्वर तथा व्यंजन मिले-जुले हैं; किन्तु ब्राह्मी में इन्हें पृथक्-पृथक् रक्खा गया है । इस सम्बन्ध में श्री 'गौरीशंकर हीराचन्द ओझा' का मत है—"उच्चरित अक्षर और लिखित वर्ण के सम्बन्ध को निभाने के उद्देश्य का विचार करें तो ब्राह्मी लिपि सर्वोत्तम है । ऐसी (सामी–जैसी) अपूर्ण और क्रम-रहित लिपि को लेकर, उसकी लिखावट का रुख पलटकर, वर्णों को तोड़-मरोड़कर, केवल अठारह उच्चारणों के चिह्न उसमें पाकर, बाकी उच्चारणों के संकेत स्वयं गढ़कर, स्वरों के लिए मात्रा-चिह्न बनाकर, अनुस्वार और विसर्ग की कल्पना कर, स्वर-व्यंजन को पृथक् कर, उन्हें उच्चारण के स्थान और प्रयत्न के अनुसार नये क्रम से सजाकर सर्वांगपूर्ण लिपि बनाने की योग्यता जिस जाति में मानी जाती है, क्या वह इतनी सभ्य नहीं रही होगी कि केवल अठारह अक्षरों के संकेतों के लिए दूसरों का मुँह न ताककर, उन्हें भी अपने लिए बना ले ।"[2]

(३) वैज्ञानिक अंक-प्रणाली तथा दशमलव-प्रणाली की आविष्कारक जाति अपने लिए लिपि का आविष्कार भी स्वयं कर सकती है ।

(४) ब्राह्मी में ध्वनि-संकेतों की संख्या संसार की सभी लिपियों से अधिक है । इसके ध्वनि-संकेत, संस्कृत भाषा की सभी ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनमें वैज्ञानिक व्यवस्था है तथा संस्कृत भाषा के संयुक्ताक्षरों को उसमें शुद्ध-शुद्ध लिखा जा सकता है । इस दृष्टि से मैक्डानल[3] आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है ।

---

१. प्राचीन लिपिमाला, भूमिका, पृ० ६ ।

२. प्राचीन लिपिमाला, पृ० १९ ।

३. A History of Sanskrit Literature, Page 17.

संक्षेप में, उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ब्राह्मी लिपि को भारतीय लिपि मानना ही उचित प्रतीत होता है। आधुनिक समस्त भारतीय लिपियाँ इसी से विकसित हुई हैं, जिनमें लेखन-सामग्री तथा लेखन-शैली आदि के कारण पर्याप्त विभिन्नता-सी दृष्टिगोचर होती है।

५. ब्राह्मी लिपि का विकास—ब्राह्मी लिपि का अस्तित्व ई० पू० ५०० से सन् ३५० ई० तक माना जाता है। तदुपरान्त इसका विकास दो शैलियों में हुआ—उत्तरी शैली तथा दक्षिणी शैली।

दक्षिणी शैली के अन्तर्गत छः लिपियाँ हैं—(१) तेलुगु-कन्नड़ लिपि, (२) तमिल लिपि, (३) ग्रन्थ लिपि, (४) कलिंग लिपि, (५) पश्चिमी लिपि तथा (६) मध्यदेशीय लिपि।

उत्तरी शैली के अन्तर्गत चार लिपियाँ हैं—(१) तेलुगु-कन्नड़ लिपि, (२) कुटिल लिपि, (३) शारदा लिपि तथा (४) प्राचीन नागरी लिपि।

६. देवनागरी लिपि—आधुनिक देवनागरी लिपि का उद्‌भव ब्राह्मी लिपि से ही हुआ है। ब्राह्मी लिपि की उत्तरी शैली के अन्तर्गत परिगणित गुप्त और कुटिल लिपियाँ ही धीरे-धीरे देवनागरी लिपि के रूप में विकसित हो गयी हैं। इसका प्रयोग भारत में लगभग १०वीं शताब्दी से मिलता है। प्रारम्भ में इसके वर्णों पर शिरोरेखा नहीं लगती थी।

नामकरण—प्राचीन नागरी को ही बाद में सम्मान देने के लिए देवनागरी कहा गया है। इसके 'नागरी' नाम के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं। एक मत के अनुसार 'नगरों' में प्रयुक्त होने के कारण यह 'नागरी' कहलायी है। दूसरे मत के अनुसार 'नागर ब्राह्मणों में प्रचलित' होने के कारण यह 'नागरी' कहलायी है। तृतीय मत में तान्त्रिक यन्त्र 'देवनगर' से आकृति में समानता रखने वाले वर्णों के कारण इसका 'नागरी' नाम पड़ा है। इस प्रकार 'नागरी' या 'देवनागरी' नाम का आधार अभी तक अनिर्णीत ही है।

७. देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता एवं उत्कृष्टता—देवनागरी लिपि में उत्कृष्टता-सम्बन्धी वे सभी गुण हैं, जो किसी भी उत्कृष्ट लिपि में आवश्यक होते हैं, जैसे—

(१) ध्वनि तथा वर्ण में सामञ्जस्य—किसी भी भाषा की ध्वनियों तथा उन्हें प्रकट करने वाले लिपि चिह्नों या वर्णों में जितना अधिक सामञ्जस्य होगा, वह लिपि उतनी ही अधिक उत्कृष्ट मानी जायगी। देवनागरी में यह विशेषता पूर्णरूप से मिलती है। इसमें उच्चारण के अनुसार ही वर्ण निश्चित किये गये है। अतः, जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है, और जो लिखा जाता है, वही बोला भी जाता है।

(२) एक ध्वनि के लिए एक ही संकेत—एक ध्वनि के लिए अनेक संकेत तथा एक ही संकेत से अनेक ध्वनियों की अभिव्यक्ति भी लिपि का बहुत बड़ा दोष है। रोमन तथा अरबी आदि लिपियों में यही दोष है। रोमन लिपि में एक ही क्

ध्वनि के लिए अनेक संकेत हैं, जैसे, k (king), c (cat), q (queen) ck (cuckoo) तथा ch (Chemistry) आदि । इसी प्रकार एक ही संकेत u कहीं अ (But) उच्चरित होता है, तो कहीं उ (Put) । देवनागरी इन दोषों से सर्वथा मुक्त है ।

(३) समग्र ध्वनियों की अभिव्यक्ति—उत्कृष्ट लिपि में यह गुण होता है कि वह किसी भाषा की समग्र ध्वनियों को लिपि-संकेतों द्वारा अभिव्यक्त कर सकती है । देवनागरी में यह गुण भी सर्वाधिक है । रोमन आदि लिपियों में ठ् तथा ण् आदि ध्वनियों को नहीं लिखा जा सकता है ।

(४) असंदिग्धता – उत्कृष्ट लिपि में एक ध्वनि-संकेत में दूसरी ध्वनि का संदेह नहीं होना चाहिए । उर्दू आदि अन्य लिपियों की अपेक्षा देवनागरी इस कसौटी पर भी खरी उतरती है । रोमन में u को उ पढ़ें या अ, इस प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रायः होती हैं ।

उपर्युक्त गुणों के कारण देवनागरी लिपि वस्तुतः, एक उत्कृष्ट लिपि है । कुछ विद्वानों के अनुसार देवनागरी लिपि में ऋ, ष्, क्ष्, त्र्, ज्ञ् आदि कुछ लिपिचिह्न अब अनावश्यक हो गये हैं, इ (ि) की मात्रा अवैज्ञानिक है, क्योंकि वह लगती पहले है, किन्तु उच्चरित बाद में होती है । कुछ ध्वनियों—जैसे अ, ण, क्ष आदि के लिए दो-दो लिपिचिह्न हैं । अतः, आवश्यकता के अनुसार सुधार कर देवनागरी लिपि को और भी अधिक वैज्ञानिक या उत्कृष्ट बनाया जाना चाहिए ।

———

परिशिष्ट १

कुछ प्रमुख टिप्पणियाँ

(१) क्लिक ध्वनियाँ (Clicks)—अध्याय आठ में ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों की उत्पत्ति-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए यह लिखा गया है कि ध्वनियों को उत्पन्न करने में फेफड़ों से बाहर आती हुई श्वासवायु का मुख्य हाथ होता है। प्रायः, सभी भाषाओं में अधिकांश ध्वनियों का उच्चारण श्वासवायु को मुख से बाहर निकलते हुए ही किया जाता है। किन्तु, कुछ भाषाओं में ऐसी कुछ ध्वनियाँ भी हैं जिनका उच्चारण श्वासवायु को मुख में अन्दर की ओर खींचते हुए किया जाता है। संक्षेप में, भाषा में प्रयुक्त जिन ध्वनियों में श्वास लेने तथा उच्चारण करने की क्रिया साथ-साथ ही सम्पन्न होती है, वे ध्वनियाँ क्लिक ध्वनियाँ कहलाती हैं।

सामान्यतया, हम बोलने से पहले श्वास ले लेते हैं और बाद में बोलते समय थोड़ा-थोड़ा श्वास बाहर निकालते रहते हैं। किन्तु, क्लिक ध्वनि के उच्चारण में हमें बोलने से पूर्व श्वास लेने की आवश्यकता नही पड़ती। उदाहरण के लिए हमारी भाषा में प्रयुक्त शुद्ध क्लिक ध्वनि वह 'सी-सी' की ध्वनि है, जिसका उच्चारण हम पीड़ा या आनन्द के अतिरेक की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए अनजाने ही, अकस्मात् किया करते हैं। किन्तु उदाहरण को स्पष्ट करने की दृष्टि से ठीक होते हुए भी, हमारी भाषा का अंग न होने से, हमारी भाषा में इस क्लिक ध्वनि का कोई महत्त्व नहीं है; क्योंकि, इस का उच्चारण हम उस अवस्था में करते हैं, जिसमें भाषा विवश हो जाती है।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि भारोपीय परिवार की भाषाओं में ऐसी कुछ क्लिक ध्वनियाँ प्रगैतिहासिक काल में रही होंगी। आजकल दक्षिणी अफ्रीका के 'होतेन्तोत-बुशमैनी' तथा 'बन्तू' भाषा-परिवारों में ही 'क्लिक' ध्वनियाँ उपलब्ध होती हैं।

(२) सन्ध्यक्षर (Diphthong)—स्वरों के दो भेद हैं—समानाक्षर (Monophthong) तथा सन्ध्यक्षर (Diphthong)। समानाक्षर को मूलस्वर तथा सन्ध्यक्षर को संयुक्त स्वर भी कहते हैं। सन्ध्यक्षर या संयुक्त स्वर (Diphthong) के लिए आवश्यक है कि—

(i) उसमें असवर्ण[1] स्वरों का ही संयोग हो।

(ii) उसका उच्चारण श्वासवायु के एक ही झटके में, इस प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार किसी एक स्वर का होता है।

उदाहरण के लिए संस्कृत के 'ऐक्य' शब्द में 'ऐ' संयुक्त स्वर या सन्ध्यक्षर (Diphthong) है, क्योंकि इसमें अ+इ, इन दो असवर्ण स्वरों का संयोग है तथा इसका उच्चारण श्वासवायु के एक ही झटके में, एक स्वर के समान ही, होता है।

---

१. अ+आ, इ+ई आदि सवर्ण तथा अ+इ या अ+उ आदि असवर्ण कहलाते हैं।

यहाँ स्मरण रखने योग बात यह है कि यदि पास-पास रहने वाले दो स्वर सवर्ण अर्थात् इ+इ या उ+उ आदि होंगे या उनका उच्चारण श्वास के एक झटके में न होकर पृथक्-पृथक् एक स्वर के बाद कुछ रुककर दूसरे स्वर का उच्चारण होगा, तो उसे स्वरों का समूह कहा जायगा, संयुक्त स्वर या सन्ध्यक्षर नहीं। सन्ध्यक्षर के लिए यह आवश्यक है कि वह उच्चारण की दृष्टि से एक इकाई हो, उसका व्यक्तित्व एक हो।

एक उच्चारण के समान ही श्रोता को भी संयुक्त स्वर का श्रवण एक ही स्वर के रूप में होता है।

संस्कृत के प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार ए, ऐ, ओ तथा औ—ये चार स्वर संयुक्त स्वर हैं। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के एचोऽयवायवः ।६।१।८८। सूत्र से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। इस सूत्र के अनुसार ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर क्रमशः अय्, आव्, आय्, आव् होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्वरों के संयुक्त उच्चारण के कारण ही यहाँ उनके स्थान पर दो-दो ध्वनियों के आने की व्यवस्था की गयी है।

आजकल संस्कृत तथा हिन्दी में केवल ऐ, औ ही सन्ध्यक्षर के रूप में उच्चरित होते हैं, ए, ओ का उच्चारण समानाक्षर—जैसा ही होता है।

(३) श्रुति (Glide)—एक से अधिक मुख्य ध्वनियों के मध्य सुनाई पड़ने वाली गौण (अतिरिक्त) ध्वनियों के नाम ही 'श्रुति' है। दो मुख्य ध्वनियों के उच्चारण में जब जिह्वा एक ध्वनि का उच्चारण करने के पश्चात्, दूसरी ध्वनि का उच्चारण करने के लिए, एक-उच्चारण-स्थान से दूसरे उच्चारण-स्थान की ओर जाती है, तब उस परिवर्तनकाल में उच्चारित ध्वनि ही 'श्रुति' कहलाती है। उदाहरण के लिए 'गद्गद' शब्द के उच्चारण में जब जिह्वा 'ग्' (कण्ठ्य) का उच्चारण करने के पश्चात् 'द्' के उच्चारण की ओर जाती है, तब ग् तथा द् के मध्य जो गौण ध्वनि उच्चरित होती है, भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में वह 'श्रुति' है।

उपर्युक्त 'श्रुति', स्वर भी हो सकती है तथा व्यंजन भी। प्रायः तो यह दो मुख्य ध्वनियों के मध्य ही सुन पड़ती है, किन्तु कभी-कभी किसी ध्वनि के पूर्व तथा बाद में भी सुनी जाती है। अतः, इसे क्रमशः पूर्वश्रुति (on-glide) तथा परश्रुति (Off-glide) कहा जाता है।

उदाहरणार्थः—

स्वर पूर्वश्रुति—स्मृति से इस्मृति, यहाँ पूर्व में 'इ' श्रुति है।

स्वर परश्रुति—इन्द्र से इन्दर (द्+अ) यहाँ बाद में 'अ' श्रुति है।

व्यंजन परश्रुति—उल्लास से हुआस, यहाँ 'ह्' पूर्वश्रुति है।

व्यंजन परश्रुति—सुनर से सुन्दर, यहाँ 'द्' परश्रुति है।

प्राचीन काल में 'सुनर' का प्रयोग उसी अर्थ में होता था, जिस अर्थ में आजकल 'सुन्दर' शब्द का होता है।

(४) अपश्रुति या अक्षरावस्थान (Vowel-gradation, Ablaut या Apophony)—शब्द में व्यंजनों के उसी रूप में रहते हुए भी जब केवल स्वरों के

परिवर्तन से ही शब्द रूप तथा अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, तब यह स्वर-परिवर्तन 'अपश्रुति' कहा जाता है। इसका 'ablaut' नाम जर्मन भाषा का है। जर्मन विद्वानों ने इसकी खोज सन् १८७१ ई० में की थी। इसके लिए हिन्दी में 'अपश्रुति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने किया था। एब्लोट या अपश्रुति शब्द से तात्पर्य है—स्वरध्वनि में परिवर्तन; उदाहरणार्थ—राम से रमा या कृष्ण से कृष्णा आदि।

अपश्रुति के दो भेद हैं—(१) मात्रिक अपश्रुति तथा (२) गुणीय अपश्रुति। मात्रिक अपश्रुति में स्वर तो वही रहता है, किन्तु उसकी मात्रा में परिवर्तन हो जाता है; जैसे—वसुदेव वासुदेव मेल से मेला, यहाँ ह्रस्व अ से दीर्घ आ। संस्कृत-वैयाकरणों ने इसी को गुण-वृद्धि कहा है। गुणीय अपश्रुति में पूर्वविद्यमान स्वर के स्थान पर अन्य स्वर आ जाता है; जैसे—आया से आयी, यहाँ आ के स्थान पर ई। किताब से कुतुब, यहाँ इ, आ के स्थान पर उ, उ।

अन्तर्मुखी विभक्ति-प्रधान सामी-हामी भाषाओं में इसका प्रयोग बहुत अधिक मिलता है; जैसे अरबी में—किताब, कातिब, कुतुब आदि। भारोपीय परिवार की संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं में भी इसके अवशेष हैं।

(५) अपिनिहिति या समस्वरगम (Epenthesis)—जब मुख-सुख आदि के कारण शब्द में कोई ऐसी अतिरिक्त स्वर-ध्वनि आ जाये, जो पहले से भी उस शब्द में विद्यमान हो तब समान स्वर के उस आगम को अपिनिहिति या समस्वरागम कहते हैं; जैसे संस्कृत 'स्त्री' से प्राकृत 'इत्थी'। यहाँ बाद वाली 'ई' पहले से विद्यमान थी, जबकि प्रारम्भ की 'इ' का नवीन आगम हुआ है। इसके उदाहरण 'अवेस्ती' या 'अवेस्तन' भाषा में अधिक उपलब्ध होते हैं; जैसे—

संस्कृत	अवेस्तन
भवति	बवइति, यहाँ 'ति' में इ के रहते हुए 'इ'।
तरुण	तउरुन, यहाँ 'रु' में उ के रहते हुए 'उ'।

अपिनिहिति के लिए यह अनिवार्य है कि जो नवीन स्वर-ध्वनि शब्द में आये, उसकी समान (पूर्ण या अर्द्ध) स्वर-ध्वनि शब्द में पहले से विद्यमान हो। स्वर-भक्ति (मध्यस्वरागम) या आदिस्वरागम में समान ध्वनि का शब्द में पहले से रहना अनिवार्य नहीं होता है। अपिनिहिति तथा स्वरभक्ति में यही अन्तर है।

(६) अभिश्रुति (Umlaut या Vowel mutation)—जब किसी भाषा में अपिनिहिति के कारण आयी हुई स्वर-ध्वनि में परिवर्तन हो जाय, तब उसे अभिश्रुति कहा जाता है। जर्मन विद्वान् 'ग्रिम' ने इस प्रकार के स्वर-ध्वनि के परिवर्तन को Amlaut नाम दिया है; उदाहरणार्थ—mani > maini > men (मनि > मइनि > मेन) यहाँ पहले mani शब्द में i पहले से विद्यमान थी, अपिनिहिति के कारण दूसरे maini शब्द में मध्य में, एक i अतिरिक्त आ गयी, वही i तीसरे men शब्द में e में परिवर्तित हो गयी है।

उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर हम अभिश्रुति को अपिनिहिति के कारण आयी हुई स्वर-ध्वनि का परिवर्तन भी कह सकते हैं।

भारोपीय परिवार की भाषाओं में अभिश्रुति के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

(७) सादृश्य या मिथ्यासादृश्य (Analogy or False analogy)—भाषा में एक प्रयोग को देखकर, उसके कारण को जाने बिना ही उसी प्रकार का दूसरा प्रयोग करना, भाषाविज्ञान में सादृश्य या मिथ्यासादृश्य कहलाता है। वस्तुतः, सादृश्य के मूल में मानव की मानसिक आलस्य की प्रवृत्ति ही कार्य करती है। मानव प्रत्येक क्षेत्र में सुविधा चाहता है। भाषा के क्षेत्र में भी उसी सुविधा के लिए मानव सादृश्य का सहारा लेता है। 'व्रील' आदि विद्वानों के अनुसार भाषा के आरम्भ में ही मानव

भाषाविज्ञान के ध्वनि, रूप, वाक्य और अर्थ—इन चारों प्रमुख अंगों में सादृश्य काम करता है। ध्वनि-परिवर्तन तथा रूप-परिवर्तन में तो सादृश्य का हाथ प्रमुखरूप से ही रहता है।

ध्वनि के क्षेत्र में संस्कृत शब्द में 'करिन्' से तृतीया विभक्ति, एकवचन में बने 'करिणा' के सादृश्य पर 'हरि' (न् के अभाव में भी) से भी हरिणा तथा रूप के क्षेत्र में पादौ (युग्म) में द्विवचन के आधार पर लाभालाभौ (विलोम) में भी द्विवचन का प्रयोग सादृश्य के आधार पर ही होता है।

हिन्दी में पैंतीस के सादृश्य के आधार पर सैंतीस में भी अनुनासिक ध्वनि आ गयी है। 'तुझ' के सादृश्य पर 'मझ' भी 'मुझ' बन गया है। अंग्रेजी में shall और will से बने should और would के सादृश्य पर ही can (यहाँ L ध्वनि न होने पर भी) से भी could बना लिया गया है।

वस्तुतः, सादृश्य के आधार पर बने रूपों को स्मरण रखने में मनुष्य को सुविधा होती है, अतः सादृश्य के आधार पर ऐसे शब्द, प्रायः, बनते ही रहते हैं।

अर्थ के क्षेत्र में भी 'पाद' शब्द का अर्थ—चतुर्थांश या एक चौथाई, सादृश्य के आधार पर ही किया जाता है। क्योंकि, एक पाद, चतुष्पाद (चौपाए) पशुओं का चतुर्थांश ही होता है। गन्ने की आँख या, घड़े का पेट आदि में भी यह सादृश्य काम करता है।

वाक्य के क्षेत्र में सादृश्य के आधार पर ही, आजकल हिन्दी के वाक्य भी अंग्रेजी-वाक्यों-जैसे बनने लगे हैं।

इस प्रकार भाषा के क्षेत्र में सादृश्य का बहुत महत्त्व है। इसके कारण भाषा में प्राप्त अपवादों में नियमबद्धता आ जाती है तथा भाषा सरल बन जाती है।

(८) प्रयत्नलाघव (मुख-सुख)—मनुष्य का स्वभाव है कि वह कम से कम प्रयत्न से अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करना चाहता है। शारीरिक प्रयत्न के मूल में मानसिक आलस्य रहने के कारण डॉ० रामविलास शर्मा ने प्रयत्न लाघव को मानसिक आलस्य के रूप में ही स्वीकार किया है।

किसी भी भाषा के परिवर्तन या विकास में प्रयत्न-लाघव बहुत ही महत्त्वपूर्ण कारण है। सादृश्य या मिथ्या-सादृश्य का कारण भी यह प्रयत्न-लाघव ही है।

ध्वनि-परिवर्तन के क्षेत्र में यह अनेक दिशाओं में कार्य करता है। उदाहरण के लिए—

१. कहीं किसी ध्वनि का आगम हो जाता है; जैसे—स्टेशन से इस्टेशन, यहाँ 'इ' ध्वनि।

२. कहीं किसी ध्वनि का लोप हो जाता है; जैसे—स्टेशन से ही—टेशन, यहाँ न ध्वनि।

३. ध्वनियों में स्थान-विपर्यय हो जाता है; जैसे—चाकू से काचू।

४. भिन्न ध्वनियाँ समान हो जाती हैं; जैसे - चक्र से चक्का, यहाँ र् से क्।

५. समान ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं; जैसे—कंकण से कंगन, क से ग।

६. संयुक्त ध्वनियाँ असंयुक्त हो जाती हैं; जैसे—कृष्ण से किशन।

अर्थ के क्षेत्र में भी प्रयत्न-लाघव् के कारण ही आजकल रेल (पटरी) शब्द का प्रयोग रेलगाड़ी के अर्थ में हो रहा है।

— · —

परिशिष्ट २

व्युत्पत्ति-विज्ञान

सामान्य परिचय

व्युत्पत्ति-विज्ञान, भाषाविज्ञान की अनेक शाखाओं में से एक शाखा है। इसे हम 'शब्दों की व्युत्पत्ति का विज्ञान' कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत किसी भाषा में प्रयुक्त शब्दों की रचना, शब्दों के उद्भव एवं शब्दों के विकास का अध्ययन किया जाता है। इस रूप में, व्युत्पत्ति विज्ञान शब्दों का सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत करता है।

व्युत्पत्ति, निरुक्त और निर्वचन, ये तीनों शब्द प्रायः पर्यायवाची माने जाते हैं। निरुक्त और निर्वचन का प्रयोग प्राचीनकाल से होता रहा है। व्युत्पत्ति शब्द का प्रयोग बाद के काल में हुआ है।

निरुक्त = निस् + वच् + क्त, अर्थात् पूर्णरूप से अभिव्यक्त।

निर्वचन = निस् + वच् + ल्युट् (अन), अर्थात् पूर्णरूप से कहना।

व्युत्पत्ति = वि + उत् + पद् + क्तिन्, अर्थात् विशिष्ट उत्पत्ति।

सामान्यतया 'निरुक्त' एक शास्त्र है। यह छः वेदागों में से एक है। इसमें शब्दों का अर्थानुसारी निर्वचन किया गया है। इस प्रकार 'निरुक्त' एक संज्ञा शब्द है, जबकि 'निर्वचन' एक प्रक्रिया है, जिसमें अर्थों के अनुरूप शब्दों की रचना को स्पष्ट किया जाता है। 'व्युत्पत्ति' से तात्पर्य शब्द के व्याकरण-सम्बन्धी विश्लेषण से है। इसमें अर्थ को उतना महत्त्व नहीं है। शब्द का ही प्रकृति + प्रत्यय में विश्लेषण पर्याप्त माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से जिस प्रकार व्याकरण से पहले निरुक्त की स्थिति मानी जाती है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति से पहले निर्वचन की भी मानी जानी चाहिए।

व्युत्पत्ति-विज्ञान का इतिहास

भारत में व्युत्पत्तिविज्ञान का प्राचीनतम वैज्ञानिक रूप 'निरुक्त' में ही उपलब्ध होता है। वैसे तो इसके बीज 'ऋग्वेद' में भी खोजे गये हैं, किन्तु 'यास्क' के निरुक्त से पूर्व निर्वचन की यह परम्परा प्रायः मौखिक ही थी। उसी परम्परा का परिपक्व एवं वैज्ञानिक रूप हमें 'निरुक्त' में प्राप्त होता है। वस्तुतः, 'यास्क' विश्व के प्राचीनतम निर्वचनकार हैं। यास्क के समय तक निर्वचन का स्वरूप बहुत व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक नहीं था। इसमें अनुमान का योग बहुत अधिक रहता था। यही कारण है कि 'यास्क' के निर्वचनों में से २००–२५० ही वैज्ञानिक हैं। शेष अधिकांश मनमाने ही है।

'यास्क' के उपरान्त 'पाणिनि' ने जब व्याकरण को पूर्णरूपेण व्यवस्थित किया, तो निर्वचन का स्थान 'व्युत्पत्ति' ने ले लिया। इसका कारण, सम्भवतः यही

रहा होगा कि 'यास्क' ने जिन शब्दों को 'निघण्टु' नाम के वैदिक कोशों से निर्वचन के लिए स्वीकार किया था, वे शब्द अर्थ की दृष्टि से ही कठिन माने जाते थे। अतः, उनके निर्वचन में अर्थ को महत्त्व देना ही आवश्यक था। 'पाणिनि' के समय तक शब्दों के अर्थ की समस्या का समाधान अधिकांशतः हो चुका था। तब, आवश्यकता इस बात की थी कि शब्दों के साधु-असाधु रूप के ज्ञान के लिए, उनमें प्रयुक्त प्रकृति-प्रत्यय, उपसर्ग आदि को स्पष्ट करके शब्द के साधु रूप की प्रतिष्ठा कर दी जाये।

व्युत्पत्तिविज्ञान के लिए अंग्रेजी में एटिमॉलॉजी (Etymology) शब्द का व्यवहार होता है। अंग्रेजी में 'एटिमॉलॉजी' शब्द का विकास ग्रीक के 'एतिमॉलोजिया' शब्द से माना जाता है। यह शब्द 'एतिमॉस' और 'लॉगोस्' (Etymos + logos) इन दो शब्दों से बना है। 'एतिमॉस' का अर्थ है—'यथार्थ' और 'लॉगोस्' का अर्थ है—लेखा-जोखा। भारत में 'यास्क' के 'निरुक्त' की भाँति ही एक स्टोइक विद्वान् 'क्रिसिपॉस' (Chrysippos) ने भी ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी में 'एतिमॉलोजिका' नाम से एक ग्रन्थ की रचना की थी। यह दर्शन का ग्रन्थ है, किन्तु इसमें शब्दों के वास्तविक अर्थ को बताने का प्रयास किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में यूनान में 'एटिमॉलॉजी' का सम्बन्ध दर्शन से था, न कि आजकल की भाँति भाषा-विज्ञान से। उस समय यूनान में दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत ही शब्दों के सही अर्थ को जानने के लिए उनके मूलरूप को प्रस्तुत किया जाता था। यूनान में 'प्लेटो' के काल में इस शास्त्र का यही स्वरूप था। 'यास्क' की ही भाँति यूनान में भी शब्दों की मनमानी व्युत्पत्तियाँ उस समय की गयी थीं। इसका एकमात्र कारण यही था कि बिना किसी वैज्ञानिक आधार के, उस समय शब्द की ध्वनि से ही उसका किसी अर्थ से सम्बन्ध मान लिया जाता था। 'प्लेटो' ने शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को स्थापित करने की, इस प्रवृत्ति का उपहास भी किया है।

इतिहास के मध्यकाल तक आते-आते भी, व्युत्पत्ति के नाम पर भ्रामक-व्युत्पत्ति ही अधिक प्रचलित थी। मध्यकाल में जब आवागमन में वृद्धि के कारण एक भाषा-भाषियों का अन्य भाषा-भाषियों से सम्पर्क बढ़ा, तो इस प्रवृत्ति ने बल पकड़ा कि अपनी भाषा को अन्य भाषाओं की जननी सिद्ध कर दिया जाय। इस प्रवृत्ति के कारण दो शब्दों के मिलते-जुलते बाह्य रूप को देखकर यह सिद्ध किया जाने लगा कि उस काल में प्रयुक्त वे दोनों शब्द किसी एक ही मूलभाषा से निकले हैं। इस तरह के मिलते-जुलते शब्दों के अनेक संकलन भी उन दिनों हुए, जिनके आधार पर किसी एक भाषा को मूलभाषा या आदि भाषा सिद्ध किया जाता था और संसार की अन्य भाषाओं को उसी एक भाषा से निकली माना जाता था। हमारे देश में कुछ अति-उत्साही आर्यसमाजियों में यह प्रवृत्ति आज भी देखी जाती है। ऐसे लोग 'चीन' को 'च्यवन' का देश तथा 'क्राइस्ट' को 'कृष्ण' मानने का आग्रह प्रायः करते हैं। वस्तुतः, वैज्ञानिक व्युत्पत्ति में 'अटकल' या 'अनुमान' को इतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए।

आधुनिक युग में 'टर्नर' (Sir Ralph L. Turner) की व्युत्पत्ति-विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी माना जाता है। इनके द्वारा रचित 'नेपाली-कोश' तथा 'भारोपीय आर्य भाषाओं का व्युत्पत्ति-कोश' इस विषय के उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। इन्हीं के अनुकरण पर आधुनिक कोशों में शब्द-व्युत्पत्ति को भी महत्त्व दिया जाने लगा है। आधुनिक कोशों की यह एक बड़ी विशेषता मानी जाती है। 'टर्नर' के अतिरिक्त इस क्षेत्र के अन्य विद्वान् इस प्रकार हैं:—

हिन्दी भाषा से सम्बन्धित—(१) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, (२) आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, (३) डॉ० भोलानाथ तिवारी आदि।

अंग्रेजी भाषा से सम्बन्धित—(१) 'स्कीट', (२) 'यूल' और (३) बर्नेल आदि।

भारतीय भाषा, अर्द्धमागधी से सम्बन्धित मुनि रत्नचन्द्रजी, प्राकृत से सम्बन्धित श्री हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द शेठ, बंगला से सम्बन्धित श्री ज्ञानेन्द्र मोहन दास, उड़िया से सम्बन्धित श्री गोपालचन्द्र, मराठी से सम्बन्धित श्री कृष्णाजी पाण्डुरंग कुलकर्णी, गुजराती से सम्बन्धित श्री हरिवल्लभ भायाणी आदि।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस विज्ञान के प्रारम्भ में अनुमान को बहुत महत्त्व दिया जाता था। 'यास्क' के अनेक निर्वचन कोरे अनुमान पर ही आधारित हैं, जो उनकी कल्पनाशक्ति के भी द्योतक हैं। किन्तु शनैः-शनैः जैसे-जैसे इस शास्त्र का विकास हुआ, इसमें अनुमान का स्थान वैज्ञानिकता ने ले लिया है।

व्युत्पत्ति-विज्ञान और भाषाविज्ञान

'व्युत्पत्ति-विज्ञान' में शब्दों के ऐतिहासिक अध्ययन से ही यह स्पष्ट है कि इसका ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। 'ऐतिहासिक भाषाविज्ञान'-अङ्गी है तथा व्युत्पत्ति-विज्ञान उसका एक अङ्ग है। साथ ही, 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' और 'वर्णनात्मक भाषाविज्ञान' भी शब्द-व्युत्पत्ति में अत्यधिक सहायक होते हैं। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा यह देखा जाता है कि व्युत्पति से सम्बन्धित शब्द किन-किन तत्त्वों से बना है तथा विभिन्न ऐतिहासिक कालों में उस शब्द का अर्थ क्या-क्या था। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा उस परिवार की अन्य भाषाओं से तुलना करके यह देखा जाता है कि व्युत्पत्ति-विचाराधीन शब्द की ध्वनियों तथा अर्थ में कब-कब, क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं।

भाषाविज्ञान के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त भाषाविज्ञान के अन्य अंग-ध्वनि-विज्ञान, रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान तथा अर्थविज्ञान भी व्युत्पत्ति-विचार में अत्यधिक सहायक होते हैं। ध्वनिविज्ञान तथा अर्थविज्ञान तो व्युत्पत्ति के ज्ञान के लिए अत्यावश्यक ही हैं।

ध्वनिविज्ञान के द्वारा ही यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार 'उपाध्याय' से 'ओझा' या 'अद्य' से 'आज' आदि शब्दों का विकास हुआ है। यहाँ शब्द की ध्वनियों में जो परिवर्तन हुआ है, उसे ध्वनिविज्ञान ही स्पष्ट कर सकता है।

अर्थविज्ञान में, व्युत्पत्ति के लिए स्वीकृति शब्द के अर्थ को जानकर, ही हम आज के किसी शब्द को उसके प्राचीन रूप से जोड़ सकते हैं। हिन्दी 'घर' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए उसमें हुए ध्वनि-परिवर्तनों के साथ ही साथ अर्थ की समानता को देखकर ही हम उसे संस्कृत 'गृह' से विकसित मानते हैं।

ध्वनि-विज्ञान और अर्थविज्ञान के अतिरिक्त 'शब्दविज्ञान' भी व्युत्पत्ति-विज्ञान में हमारा सहायक होता है। इसके द्वारा हमें ज्ञात होता है कि किसी विशिष्ट भाषा का शब्द-समूह कैसे बना है। उसमें कब-कब, कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं और उनका क्या कारण है। कोई भाषा किसी अन्य भाषा के शब्दों को क्यों अपना लेती है, यह बात भी शब्दविज्ञान से ही ज्ञात होती है।

इसकें अतिरिक्त साहित्य, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान आदि भी व्युत्पत्ति-विज्ञान में यथावसर सहायक होते हैं।

व्युत्पत्ति-विज्ञान के लिए कुछ उपयोगी तत्त्व

१. व्युत्पत्ति के लिए चुने गये शब्द का सम्पूर्ण इतिहास पहले जान लेना आवश्यक होता है। शब्द के इतिहास को जानते समय उसके उद्भव, ध्वनियाँ एवं उनका परिवर्तन, अर्थ एवं उसका परिवर्तन देखकर उसके प्राचीनतम रूप से प्रारम्भ करके आधुनिकतम रूप तक की, उस शब्द की व्युत्पत्ति देनी चाहिए।

२. शब्द की वर्णनात्मक व्युत्पत्ति देते समय उसके प्रकृति प्रत्यय (उपसर्ग सहित) आदि को भली-भाँति स्पष्ट कर देना चाहिए। साथ ही विभिन्न कालों में उसके अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए।

३. व्युत्पत्ति के लिए भाषाविज्ञान का अच्छा ज्ञान आवश्यक है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, ध्वनिविज्ञान और अर्थविज्ञान के बिना तो व्युत्पत्ति की ही नहीं जा सकती है।

४. व्युत्पत्ति-विषयक शब्द से सम्बन्धित भाषा तथा भाषा-परिवार का ज्ञान भी व्युत्पत्ति-विज्ञान में सहायक होता है। सम्बन्धित बोलियों का ज्ञान भी व्युत्पत्ति कर्ता को होना चाहिए।

५. व्युत्पत्ति से सम्बन्धित भाषा या भाषाओं की ध्वनियों का ज्ञान प्राप्त करके उनका आवश्यक चार्ट बना लेना चाहिए। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कौन-सी ध्वनि शब्द में कहाँ रहते हुए किस रूप में बदलती है। उदाहरण के लिए, संस्कृत-शब्दों के आरम्भ में प्रयुक्त 'व' ध्वनि हिन्दी में 'ब' हो जाती है और संस्कृत शब्दों में मध्य में प्रयुक्त 'ध' ध्वनि हिन्दी में 'ह' हो जाती है। अतः, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि हिन्दी 'बहू' शब्द का विकास संस्कृत 'वधू' शब्द से ही हुआ है, क्योंकि दोनों के अर्थों में भी समानता है।

६. ध्वनि-परिवर्तन को देखते हुए ध्वनि के लिखित रूप को महत्त्व न देकर उच्चरित रूप को ही महत्त्व देना चाहिए। साथ ही, एक ही ध्वनि के लिए प्रयुक्त अनेक लिपि-चिह्नों से भी भ्रम नहीं पड़ना चाहिए।

७. व्युत्पत्ति के लिए प्रारम्भ में तो अनुमान करना ही पड़ता है, किन्तु बाद में यदि वह अनुमान वैज्ञानिकता के प्रतिकूल लगे, तो उसे छोड़ देना चाहिए। वस्तुतः, अनुमान से ही व्युत्पत्ति का आरम्भ होता है, ध्वन्यात्मक समानता से उसे बल मिलता है तथा अर्थ की समानता से उसकी पुष्टि हो जाती है।

एक आदर्श व्युत्पत्ति

'तुम' की व्युत्पत्ति[1]

वैदिक	युष्मे
	V
संस्कृत	युष्मे
	V
संस्कृत-पालि-संधिकाल (एकवचन के तकार वाले रूपों से प्रभावित)	तुम्हें
	V
पालि	तुम्हे
	V
अपभ्रंश	तुम्हे
	V
परवर्ती अपभ्रंश	तुम्ह
	V
हिन्दी	तुम

———

१. दे० शब्दों का अध्ययन, डॉ० भोलानाथ तिवारी।

नामानुक्रमणिका

[टिप्पणी—प्रस्तुत ग्रन्थ में आये प्रमुख नामों की यह अनुक्रमणिका चार भागों में विभक्त हैं—(i) भाषा, बोली, लिपि एवं जाति-नाम। (ii) स्थान-नाम। (iii) व्यक्ति-नाम। (iv) ग्रन्थ-नाम। ये सभी विभाग क्रमशः यहाँ दिये गये हैं]

(i) भाषा, बोली, लिपि एवं जाति-नाम

स्थान एवं संस्था-नाम

———

व्यक्ति-नाम

ग्रन्थ-नाम